इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में किसान जीवन

IKKEESAVIN SADI KE HINDI UPANYASON MEIN KISAN JEEVAN

[मिजोरम विश्वविद्यालय, आइजोल के हिंदी विषय में डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी

(पीएच. डी.) की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध]

A THESIS SUBMITTED IN PARTIAL FULFILLMENT OF THE REQUIREMENTS FOR THE DEGREE OF DOCTOR OF PHILOSOPHY

रघुवीर दान चारण

RAGHUVEER DAN CHARAN

MZU REGISTRATION NO: 2010701

Ph.D. REGISTRATION NO: MZU/Ph.D./1721 of 03.11.2020

हिंदी-विभाग

मानविकी एवं भाषा संकाय

DEPARTMENT OF HINDI

SCHOOL OF HUMANITIES AND LANGUAGES

दिसम्बर, 2025

DECEMBER, 2025

इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में किसान जीवन

IKKEESAVIN SADI KE HINDI UPANYASON MEIN KISAN JEEVAN

अनुसंधित्सु

रघुवीर दान चारण

हिंदी विभाग

BY

RAGHUVEER DAN CHARAN

DEPARTMENT OF HINDI

शोध-निर्देशक

डॉ. अखिलेश कुमार शर्मा

SUPERVISOR

DR. AKHILESH KUMAR SHARMA

मिजोरम विश्वविद्यालय, आइजोल के मानविकी एवं भाषा संकाय के अंतर्गत हिंदी विषय में डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी (पीएच. डी.) की उपाधि के लिए अपेक्षित आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध

Submitted In partial fulfillment of the requirement of the Degree of Doctor of Philosophy in Hindi of Mizoram University, Aizawl.

डॉ. अखिलेश कुमार शर्मा
सहायक आचार्य
हिंदी विभाग
मिजोरम विश्वविद्यालय
आइजोल – 796004

केंद्रीय विश्वविद्यालय
A Central University
(Accredited by NAAC with 'A' Grade)

Dr. Akhilesh Kumar Sharma
Assistant Professor
Department of Hindi
Mizoram University
Aizawl - 796004

Mob.No.-9413224221/7597525190; Email:akhileshksharma82@gmail.com; Website : www. mzu.edu.in

दिनांक: 09.12.2025

प्रमाण पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि रघुवीर दान चारण ने मेरे निर्देशन में मिजोरम विश्वविद्यालय, आइजोल की **डॉक्टर ऑफ फिलॉसफ़ी (पीएच.डी.-हिन्दी**) की उपाधि हेतु '**इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में किसान जीवन'** विषय पर शोध कार्य किया है। प्रस्तुत शोध कार्य शोधार्थी की निजी गवेषणा का प्रतिफल है। यह इनका मौलिक शोध-कार्य है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, प्रस्तुत शोध-प्रबंध या इसके किसी अंश को किसी अन्य विश्वविद्यालय या संस्थान में किसी प्रकार की उपाधि हेतु अद्यावधि प्रस्तुत नहीं किया गया है।

मैं प्रस्तुत शोध-प्रबंध को मिजोरम विश्वविद्यालय, आइजोल की **डॉक्टर ऑफ फिलॉसफ़ी (पीएच.डी.-हिन्दी**) की उपाधि हेतु मूल्यांकन के लिए प्रस्तुत करने की संस्तुति प्रदान करता हूँ।

(डॉ. अखिलेश कुमार शर्मा)
शोध निर्देशक

हिंदी-विभाग

मिजोरम विश्वविद्यालय

आइजोल

दिसम्बर, 2025

घोषणा-पत्र

मैं **रघुवीर दान चारण** एतद् द्वारा घोषणा करता हूँ कि प्रस्तुत शोध-प्रबंध की विषय सामग्री मेरे द्वारा किए गए शोध कार्य का सुपरिणाम है। इस शोध-सामग्री के आधार पर न तो मुझे और जहाँ तक मुझे ज्ञात है, न किसी अन्य को कोई उपाधि प्रदान की गयी है और न ही यह शोध-प्रबंध मेरे द्वारा कोई अन्य उपाधि प्राप्त करने के लिए किसी अन्य विश्वविद्यालय या संस्थान में प्रस्तुत किया गया है। इस शोध-प्रबंध लेखन के दौरान जिन ग्रंथों की सहायता ली गयी है, उसे समुचित रूप से उद्धृत किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध मिजोरम विश्वविद्यालय, आइजोल के सम्मुख हिंदी विषय में डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी (पी-एच. डी. - हिंदी) की उपाधि के लिए प्रस्तुत किया जाता है।

(रघुवीर दान चारण)

अनुसन्धित्सु

(प्रो. संजय कुमार)

अध्यक्ष

(डॉ. अखिलेश कुमार शर्मा)

शोध-निर्देशक

प्राक्कथन

भौतिक तौर पर किसानी खेती के श्रम से जुडी हुई है। किसानी के मूल में श्रम से उत्पन्न उर्जा है। जिसका स्रोत स्वयं किसान है और किसानी का सारा तन्त्र उसके सहायक के रूप में अवस्थित होता है। श्रम के भौतिक मूल्यों की रक्षा में उठाए गए कदम धीरे-धीरे सांस्कृतिक जाग्रति की तरफ बढ़ गए।

पिछले 30 सालों का समय किसानी में आमूलचूल बदलाव वाला रहा है। जो बदलाव सदियों से नहीं हुए वे कुछ ही समय में होने लगे और उनकी गति बेहद ही तीव्र और अनियंत्रित हैं। ज्ञात इतिहास का कोई भी दौर ऐसा नजर नहीं आता जब किसानी शोषण की व्यवस्थागत प्रवृतियाँ दिखाई न देती हो; लेकिन भूमंडलीकरण की अंतरराष्ट्रीय व्यवस्था ने किसानी को खत्म करने की ओर बढ़ा दिया है। किसानी जीवन स्तर के गुणात्मक ह्रास के इस सिलसिले ने पिछले 30 सालों में भयंकर गति पकड़ी है।

भारत में आर्थिक उदारीकरण की शुरुआत से काफी पहले हरित क्रांति के समय से ही यह प्रक्रिया चली आ रही है। अंतरराष्ट्रीय संधियों ने उदारीकरण के बाद खेती के स्वरूप में इतना परिवर्तन ला दिया कि देशी खेती की तकनीकें ही खत्म हो गई। यह आक्रमण केवल आर्थिक गतिविधियों तक सीमित नहीं रह सका; बल्कि किसान जीवन की बुनियाद को ही तहस-नहस कर डाला। पैदावार बढ़ाने के नाम पर संकर बीजों को बाजार में उतारा गया और उसके साथ ही रासायनिक खादों को भी जिसके कारण देशी बीजों के अस्तित्व पर ही खतरा मंडराने लगा और रासायनिकों की वजह से खेतों में जहर फैल गया। इनके साथ खेती की तकनीक भी आई, जिसके कारण भारत का गरीब किसान तकनीक के खर्च को झेल नहीं पाया और छोटे-छोटे किसानों की जमीनें बिक गई। इससे पहले से ही असमान जमीन बँटवारे को ओर ज्यादा विस्तार मिला।

आर्थिक उदारीकरण से पूर्व किसान आत्महत्या जैसी शब्दावली का कहीं कोई जिक्र नहीं था; लेकिन बीसवीं सदी के अंतिम दशक से विदर्भ क्षेत्र में यह मामले आने लगे और भूमंडलीकरण की पूँजीवादी नीतियों तथा सरकार के उनमें शामिल होने जैसी कवायदों की पोल खोली। इनका मुख्य उद्देश्य था– खेती को बर्बाद करना और खेती से मुक्त हुई जमीन को बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को देना तथा विशेष आर्थिक क्षेत्रों का निर्माण करना। दुनियाभर की कम्पनियों ने धरती से इतना पानी निकाला कि धरती सूखने लगी और आज बहुत सारे क्षेत्र इस वजह से सूखे की मार झेल रहे हैं।

मनुष्य के आर्थिक जीवन में बदलाव आने के साथ ही सामाजिक जीवन भी स्वयं ही परिवर्तित होने लगता है। किसानी जीवन में सामूहिकता और आत्मनिर्भरता के गुण स्वत: ही समाप्त होने लगे क्योंकि जिंदगी को भागदौड़ भरी और प्रतिस्पर्धी बना दिया गया। इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यास साहित्य में किसान जीवन के इसी यथार्थ को आधार बनाकर लिखे गए हिंदी उपन्यासों में किसान जीवन के विश्लेषण को लेकर प्रस्तुत शोध प्रबंध लिखा गया है।

शोध अध्ययन की दृष्टि से सम्पूर्ण प्रबंध को छह अध्यायों में विभक्त किया गया है। जिसमें पहला अध्याय किसान जीवन की अवधारणा और स्वरूप को दिखाता है तथा दूसरा अध्याय हिंदी उपन्यास परम्परा के हिंदी किसान उपन्यासों में किसान जीवन के बारें में सामान्य जानकारी उपलब्ध करवाता है। अंतिम तीन अध्याय किसान जीवन के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक एवं धार्मिक जीवन का ब्यौरा पेश करते हैं।

प्रथम अध्याय **'किसान जीवन : अवधारणा और स्वरूप'** में किसान जीवन की अवधारणा तथा इतिहास के विभिन्न कालखण्डों में किसान जीवन के स्वरूप के विकास की परम्परा को दिखाया गया है। यह अध्याय 'किसान कौन है' इस विषय

की अवधारणा को उद्घाटित करते हुए वैदिक काल से लेकर वर्तमान तक किसान जीवन के स्वरूप तक की यात्रा करता है।

द्वितीय अध्याय '**किसान जीवन के संदर्भ में हिंदी उपन्यास लेखन परम्परा का परिचय'** के अंतर्गत हिंदी साहित्य में उपन्यास के आरम्भ से लेकर वर्तमान तक के किसान जीवन पर लिखे गए उपन्यासों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। इसके साथ ही इस शोध में सम्मिलित उपन्यास एवं उपन्यासकारों का सामान्य परिचय दिया गया है।

तृतीय अध्याय '**इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में किसान जीवन का सामाजिक परिदृश्य'** में किसान आत्महत्या के सामाजिक संदर्भों को समझने की कोशिश की गई है। इसके साथ ही किसान समाज की नयी पीढ़ी के पलायन और उनके संघर्षों को अभिव्यक्ति दी गई है। इस अध्याय में किसान समाज के मूल्यगत ढाँचे और उनकी वैचारिक चेतना का विश्लेषण भी किया गया है।

चतुर्थ अध्याय '**इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में किसान जीवन का आर्थिक परिदृश्य'** में भूमंडलीकरण, कोर्पोरेट बाजार के माध्यम से भारतीय किसानी के खिलाफ की गई साजिशों और उसके परिणामों को अभिव्यक्ति दी गई है। इसमें किसानी के परम्परागत स्वरूप से रासायनिक खेती तक की प्रक्रिया का विवेचन किया गया है। इसमें एक तरफ किसान जीवन में कर्ज की समस्या वही दूसरी तरफ उसकी सीमित आय और ऊपर से प्रकृति की मार से डगमगाई आर्थिक स्थिति को उजागर किया गया है।

पंचम अध्याय '**इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में किसान जीवन के राजनीतिक परिदृश्य'** में भूमंडलीय बाजारवादी राजनीति से उपजी उस पूरी शृंखला का विश्लेषण है जो किसान के पास आत्महत्या के अतिरिक्त कोई अन्य विकल्प नहीं छोड़ती। जहाँ राजनेताओं की किसानों के प्रति असंवेदनशीलता तथा

प्रशासनिक विडम्बना से से तबाह होती किसानी का विश्लेषण किया गया है। इसके साथ ही इसी तरह के वातावरण में उपजी किसान चेतना से जन्में किसान आन्दोलनों की पृष्ठभूमि को समझने का प्रयास किया गया है।

षष्ठ अध्याय **'इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में किसान जीवन का सांस्कृतिक और धार्मिक परिदृश्य'** में किसान संस्कृति की मरजाद और नयी पीढ़ी के साथ सांस्कृतिक द्वन्द्वों को अभिव्यक्ति दी गई है। साथ ही किसान समाज की धार्मिक आस्था और अन्धविश्वासों का विश्लेषण किया गया है।

21 वीं सदी के हिंदी उपन्यासों में किसान जीवन को लेकर बहुत कम शोध कार्य हुआ है। पिछले एक दो वर्षों में किसान जीवन पर कुछ और उपन्यास लिखे गए हैं। ऐसे में इस क्षेत्र में शोध कार्य की बहुत अधिक संभावनाएँ बची हुई है।

इस शोध कार्य की प्रेरणा के मूल में किसान परिवार में जन्म लेकर किसान जीवन में बिताएँ गए वर्ष हैं। जहाँ पिताजी को हमेशा पसीने में तर देखा और माँ को अपनी संतान के भविष्य की चिंता में खोए हुए। इन्होंने ही मुझे श्रमशील बनाया। अतः मै यह शोध अपने माता-पिता जी को समर्पित करता हूँ।

विषय चयन से लेकर शोध कार्य को अंतिम दशा तक पहुँचाने तक मैंने हमेशा मेरे शोध निर्देशक डॉ. अखिलेश कुमार शर्मा की तरफ से सम्पूर्ण स्वतंत्रता महसूस की। शोध कार्य से इतर भी जब-जब मुझे उनकी जरूरत पड़ी वे हमेशा मेरे साथ बने रहे। मुझे उम्मीद और पूरा विश्वास है कि आगे भी आपका स्नेह इसी प्रकार बना रहेगा।

हिंदी विभाग का आभार जहाँ मैने लगभग पाँच वर्ष का समय गुजारा। विभाग के विभागाध्यक्ष प्रो. संजय कुमार, वरिष्ठ आचार्य प्रो. सुशील कुमार शर्मा, डॉ. अमिष वर्मा एवं डॉ. सुषमा कुमारी का बहुत-बहुत आभार जिन्होंने अकादमिक कार्यों में हमेशा सहयोग किया। विभागीय कर्मचारियों, जिन्होंने विभागीय कार्यों में हमेशा सहयोग दिया उनका भी तहे दिल से आभार।

हमेशा मेरे साथ खड़े रहे राम तुल्य बड़े भाईसाब महावीर सिंह जी, पीएच. डी. से परिचित करवाने के लिए मै अपने बड़े भाईसाब बलवीर सिंह जी, मुझे हमेशा संबल प्रदान करने वाले मेरी दोनों भाभीसा सीमा कँवर, पूजा कँवर सभी का हार्दिक आभार। जिस चेहरे ने हर बार मुझे मुस्कराने की वजह दी। भतीजे नित्यम को प्यार।

सम्बन्धित पुस्तकों और समय-समय पर मुझे सामग्री उपलब्ध करवाने, मेरी किसान वैचारिकी को सुदृढ़ करने तथा शोध प्रारूप से प्रबंध तक मेरा साथ देने के लिए डॉ. ओमप्रकाश सुंडा का विशेष आभार। इस शोध कार्य को पूरा करने में मानवी मुक्ता आर्या, कृपाल सिंह शेखावत और गौरव पंडित का बहुत बड़ा योगदान रहा। आप सबका आभारी रहूँगा।

इन पाँच वर्षों में मैंने मिजोरम में कई उतार-चढाव देखे। इस दौरान विभाग की शोधार्थी कृतिका विश्वकर्मा और ताबा याना जिन्होंने हर परिस्थिति में मेरा साथ दिया, जब भी मैं मानसिक तौर पर या जब भी खुद को असमंजस की स्थिति में पाता आपने हमेशा मेरा साथ दिया। अतः आपका दोनों दिल से आभार। वही डॉ. श्रुबनिका बरुआ के सहयोग से मेरा यहाँ का सफ़र आसान बना। विगत तीन वर्षों में जब भी मुझे एक अच्छे दोस्त की जरुरत थी, आप मेरे हमेशा साथ बने रहे। अतः आपका भी बहुत बहुत आभार।

इस सफर में मेरे साथी रहे मिनता कुमारी, वीरा, छानी, प्रिनाली, आशुतोष पाणिग्रह, सुमित, सोबित, कृष्णा, प्रिंस, अबिनास, समुअल, देवेश, कामन, पूनम दी, ओबिनम, राजेश, अमित, रूआता, दोनों बोर्नाली, स्वाति, पबित्रा, ज्वाली, एमएस, बीसी दी, प्रलय, स्यामी, बार्बी, एलटी मोई, लिजी, जूडिथ, पंखी, प्रीति, पूजा, जितेश जी, ने हमेशा मित्रवत व्यवहार बनाये रखा। आपका आभार।

अंत में उन सबका आभार व्यक्त करना चाहता हूँ। जिनका मेरे शोध कार्य में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग रहा है। भविष्य में यह शोध प्रबंध अन्य

शोधार्थियों को किसी भी प्रकार की प्रेरणा दे पाए तो मेरा पाँच साल का श्रम सार्थक होगा।

दिनांक :
स्थान:

रघुवीर दान चारण
शोधार्थी, हिंदी विभाग
मिजोरम विश्वविद्यालय, आइजोल

विषयानुक्रमणिका

अध्याय	**पृ. स.**
प्राक्कथन	i – vi
प्रथम अध्याय : किसान जीवन : अवधारणा और स्वरूप	1- 38
प्रस्तावना	
1.1 किसान जीवन : अर्थ, परिभाषा और स्वरूप	
1.2 किसान जीवन का स्वरूप : इतिहास और वर्तमान के झरोखे से	
1.3 किसान जीवन : मूलभूत प्रश्न और चुनौतियाँ	
निष्कर्ष	
द्वितीय अध्याय : किसान जीवन के संदर्भ में हिंदी उपन्यास लेखन परम्परा का परिचय	39 – 74
प्रस्तावना	
2.1 बीसवीं सदी तक के प्रमुख हिंदी उपन्यास: किसान जीवन के संदर्भ मे	
2.2 इक्कीसवीं सदी के प्रमुख हिंदी उपन्यास: किसान जीवन के संदर्भ में	
2.3 विवेच्य उपन्यास और उपन्यासकार	
निष्कर्ष	

तृतीय अध्याय : इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में किसान जीवन का सामाजिक परिदृश्य 75 - 125

प्रस्तावना

3.1 आत्महत्या के सामाजिक संदर्भ

3.2 नयी पीढ़ी का पलायन और संघर्ष

3.3 किसान समाज का मूल्यगत ढाँचा और वैचारिक चेतना

निष्कर्ष

चतुर्थ अध्याय : इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में किसान जीवन का आर्थिक परिदृश्य 126 – 176

प्रस्तावना

4.1 पारम्परिक आर्थिक स्वरूप का बिगड़ता हुआ गणित

4.2 औद्योगीकरण, भूमंडलीकरण एवं बाजारवाद का प्रभाव

4.3 सीमित आय एवं प्रकृति की मार

4.4 ऋण की समस्या

निष्कर्ष

पंचम अध्याय : इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में किसान जीवन का राजनीतिक परिदृश्य 177 – 214

प्रस्तावना

5.1 भूमंडलीय बाजारवादी राजनीति

5.2 राजनीतिक असंवेदनशीलता और प्रशासनिक विडम्बना

5.3 किसान आन्दोलन

निष्कर्ष

षष्ठ अध्याय : इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में किसान जीवन का सांस्कृतिक और धार्मिक परिदृश्य 215 – 239

प्रस्तावना

6.1 किसान संस्कृति और द्वंद्व

6.2 धार्मिक आस्था और अन्धविश्वास

निष्कर्ष

उपसंहार 240 – 247

संदर्भ ग्रंथ सूची 248 – 253

परिशिष्ट 254 - 274

शोधार्थी का जीवन वृत्त

शोध पत्र : जनकृति

शोध पत्र : शोध ऋतु

अनुसंधित्सु का विवरण

प्रथम अध्याय

किसान जीवन : अवधारणा और स्वरूप

प्रस्तावना

1.1 किसान जीवन : अर्थ, परिभाषा और स्वरूप

1.2 किसान जीवन का स्वरूप : इतिहास और वर्तमान के झरोखे से

1.3 किसान जीवन : मूलभूत प्रश्न और चुनौतियाँ

निष्कर्ष

प्रस्तावना

किसान जीवन का साहित्य मनुष्य द्वारा अन्न की गंध लिए जाने से लेकर अब तक की यात्रा की न केवल मानसिक दशाओं और वैचारिक द्वन्द्वों का लेखा जोखा है; अपितु किसानी की विकास प्रक्रियाओं का भी अध्ययन है। किसान के दुःख-दर्द, वैचारिक विचलन, आर्थिक समस्याओं और जीवन के उन विविध पक्षों का गवाह और प्रतिबिम्ब तथा आने वाली किसानी संस्कृति के बदलते दृश्यों के बीच मानवीयता की असंख्य कहानियाँ का दस्तावेज किसान साहित्य में मिलता है। इसलिए साहित्य अपने कलेवर में अपने साथी के सुख-दु:खों को अभिव्यक्त करता रहा है। किसानों की संवेदनाएँ एवं तत्कालीन परिस्थितियाँ हिंदी में प्रेमचन्द के समय से ही हमें भरपूर मिलती हैं, जिसकी परम्परा आज भी उपन्यास, कहानी, कविता तथा हिंदी साहित्य की अन्य विधाओं में जारी है।

भारत की अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार भी कृषि है और किसी भी देश के विकसित बनने का रास्ता उसकी कृषि अर्थव्यवस्था अर्थात किसानी से होकर गुजरता है। किसान भारत की कृषि-संस्कृति का मूलाधार है। मानव सभ्यता के विकास में खेती और किसानी ने भी अपना अमूल्य योगदान दिया है। मानव जीवन का प्रारंभिक अस्तित्व ही कृषि और शिकार पर टिका रहा। आदिमानव ने जब कृषि कार्य आरम्भ किया तो हमें एक जगह बसना आया। इससे एक ग्रामीण संस्कृति का निर्माण हुआ अर्थात कृषि कार्य ने ही हमें संस्कारित बनाया। अतः किसान और किसानी के बिना न केवल भारतीय संस्कृति; वरन किसी भी संस्कृति का कोई भी विश्लेषण अधूरा होगा। मानव के शिकार करके कच्चा माँस खाने से लेकर भारत को एक कृषि प्रधान देश बनाने की सम्पूर्ण प्रक्रिया कृषि द्वारा ही सम्पन्न हुई है।

जहाँ प्रारम्भिक खेती, पशुपालन व शिकार की प्रक्रिया प्रकृति द्वारा नियंत्रित होती थी, जिसमें संघर्ष, श्रम और त्याग की भावना थी; लेकिन इसके पश्चात मुगलों के सिर्फ लाभ के उद्देश्य से किसानों पर विभिन्न करों का बोझ डाला जाना और अंग्रेजों के कच्चे माल की आवश्यकता को पूरा करने का वर्णन है। इन सब

विदेशी और सामंती ताकतों ने एक ऐसी सामाजिक संरचना का निर्माण किया जिसमें सबसे अधिक मेहनत करने वाले इस वर्ग का अपने ही उत्पादों पर कोई अधिकार नहीं रहा। आजादी के बाद यह कार्य पूँजीवादी कंपनियों के हिस्से आया इससे दिन-प्रतिदिन किसानों की आर्थिक स्थिति लगातार गिरती चली गई और भूमंडलीकरण के बाद तो यह स्थिति और भयावह हो गई। इस अध्याय में किसान कौन है? और किसान और किसानी के आरम्भ से लेकर वर्तमान तक की स्थिति को जानने का विनम्र प्रयास किया गया है।

1.1 किसान जीवन : अवधारणा और स्वरूप

'किसान' शब्द पूर्ण रूप से कृषि/खेती से जुड़ा हुआ है। यह शब्द इतना व्यापक और विशिष्ट है कि यह भारतीय संस्कृति की ही तरह अपने आप में सब कुछ समाहित करने की योग्यता रखता है। इसके साथ ही यह शब्द उन सभी वर्गों को स्वयं में विलीन कर लेता है जो इससे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इससे सम्बन्ध रखते हैं अर्थात् खेती से जुड़े हुए होते हैं। किसान जीवन की अवधारणा से परिचित होने के लिए सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि किसान शब्द की व्युत्पत्ति कैसे हुई?

'हिंदी शब्द सागर' में 'किसान' शब्द को संज्ञा वाची पुल्लिंग के रूप में वर्णित किया गया है। जिसमें किसान शब्द का अर्थ "(सं-कृषाणा, प्रा. किसान] कृषि या खेती करनेवाला, खेतिहर से लिया गया है। गाँव में नाई, बारी आदि जिनके घर कमाते हैं उन्हें किसान कहते हैं।"[1] इसी कोश में किसान शब्द का एक अन्य अर्थ आग, ज्वाला के रूप में भी दिया गया है।

'मानक हिंदी कोश' के अंतर्गत 'किसान' शब्द के लिए "किसान [सं-कृषाण, पं-मरा. कियाण] [भाव. किसानी] वह जो खेती-बारी का काम करता हो।"[2] खेतों को जोतने, उनमें बीज बोने, होने वाली फसल काटने आदि का काम करने वाला

व्यक्ति का उल्लेख मिलता है। वही दूसरा अर्थ रहस्य-संप्रदाय में शरीर की इंद्रियाँ, जो पाप-पुण्य करके बुरे-भले फल प्राप्त करती हैं।

'कृषक' शब्द का अर्थ भी अधिकांश शब्दकोशों में किसान शब्द के पर्यायवाची के रूप में ही मिलता है अर्थात खेती करने वाला, अन्न उपजाने वाला व्यक्ति, खेतिहर और काश्तकार। इन सब से भिन्न रेडफिल्ड इन दोनों को अलग-अलग रूप से परिभाषित करते हैं। रेडफिल्ड ने कृषक वर्ग को छोटे खेतिहर वर्ग में सम्मिलित किया है और किसान को व्यवसायी के रूप में। रेडफिल्ड के अनुसार "कृषक वे छोटे उत्पादनकर्ता हैं, जो केवल उपयोग के लिए ही उत्पादन करते हैं। जबकि किसान उन लोगों को कहा जाता है जो बाजार के लिए उत्पादन करते हैं।"[3] आंद्रे बिताई ने कृषक के तीन अर्थ बताएँ हैं। "कृषक भूमि से जुड़ा होता है। वह न केवल भूमि पर रहता है; बल्कि उसे अपने श्रम द्वारा लाभदायक बनाता है। वह अपनी आजीविका श्रम द्वारा कमाता है। कृषक की समाज में निम्न स्थिति होती है। कृषक केवल भूमि से अपनी आजीविका कमाता है इसलिए उसकी आय भी बहुत कम होती है। कृषक समाज को मजदूरों का पूरक माना जाता है।"[4] किसान के सम्बन्ध में समाजवादी चिंतक डॉ. राममनोहर लोहिया ने लिखा है कि "औद्योगिक मजदूर अब सही मायने में सर्वहारा नहीं रह गया, भारत जैसे देश में तो गरीब किसान और भूमिहीन किसान ही सही अर्थों में क्रांतिकारी हो सकते हैं।''[5]

अंग्रेजी भाषा में भी 'किसान' और 'कृषक' के लिए दो शब्दों का प्रचलन हैं- एक 'फार्मर' (FARMER), दूसरा- 'पीजेन्ट' (PEASANT)। इन दोनों शब्दों में अंतर है। 'पीजेन्ट' का तात्पर्य किसान तथा एक ऐसा खेतिहर मजदूर जो गरीब है और सामाजिक श्रेणी में हाशिए पर है। वहीं 'फार्मर' का कर्म भी खेती पर ही आधारित है। इसकी अपनी स्वयं की जमीन होती है और यह सामाजिक और आर्थिक आधार पर अपनी सामाजिक स्थिति को निर्धारित करता है।

स्वामी सहजानंद सरस्वती अपने लेख 'खेत और मजदूर' में लिखते हैं कि "किसान एक गृहस्थ है। वह अपनी जीविका के लिए खेती पर निर्भर है चाहे वह छोटा जमींदार हो, रैयत हो या खेत मजदूर हो।"[6] इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि बाहरी विद्वानों और भारतीय कृषि विद्वानों में किसान और कृषक शब्द को लेकर भेद दिखाई देता है; लेकिन भारत सरकार द्वारा किसान और कृषक में कोई भेद नहीं माना गया है।

2007 की राष्ट्रीय किसान नीति में किसान शब्द का विस्तार करते हुए उसमें खेती से जुड़े मजदूरों से लेकर कृषि से प्रत्यक्ष रूप से जुड़े सभी को इसका हिस्सा माना। राष्ट्रीय किसान नीति में कृषि वैज्ञानिक एम. एस. स्वामीनाथन की अध्यक्षता में सौंपी गई रिपोर्ट के आधार पर बनी किसान नीति के अनुसार किसान की परिभाषा में "इस नीति के प्रयोजन के लिए 'किसान शब्द के अन्तर्गत वे सभी व्यक्ति आते हैं जो फसल उगाने तथा अन्य प्राथमिक कृषि उत्पाद पैदा करने के लिए आर्थिक/अथवा जीवनयापन संबंधी गतिविधियों में सक्रियता से सलग्न है, और इसमें सभी कृषि प्रचालन जोतधारी कृषक, कृषि श्रमिक, कटाईदार, काश्तकार, मुर्गीपालक तथा पशुपालक, मछुआरे, मधुमक्खीपालक, माली, चरवाहे, गैर सामूहिक पौध रोपण करने वाले तथा पौधे रोपण करने वाले श्रमिक तथा विभिन्न कृषि संबंधित व्यवसायों जैसे रेशमपालन, कृमिपालन और कृषि वानिकी से जुड़े व्यक्ति शामिल होंगे। इस शब्द के अंतर्गत जनजातीय परिवार/झूम खेती से जुड़े व्यक्ति और गौण तथा गैर-इमारती वन-उत्पाद के संग्रहण व उपयोग तथा बिक्री में संलग्न व्यक्ति भी शामिल होंगे।"[7] किसान उस व्यक्ति को माना जाएगा जो कृषि वस्तुओं का उत्पादन करता है।

उपर्युक्त कोशों में तथा अन्य शब्द कोशों में भी इसी तरह की परिभाषा दिखाई पड़ती है; लेकिन किसान को इतनी आसानी से परिभाषित नहीं किया जा सकता। किसान समाज का एक ऐसा वर्ग है जो हर जाति व हर धर्म से जुडा हुआ

है। इसके साथ ही ग्रामीण क्षेत्र के सभी लोग किसी न किसी रूप से कृषि से जुड़े हुए होते हैं। इनमें कुछ के पास अपनी ज़मीन होती हैं, कुछ के पास नहीं होती। बिना जमीन वाले भी खेती से ही अपना जीवन यापन करते हैं। कुछ अपनी जमीन होते हुए भी दूसरों की जमीन पर खेती करते हैं। इसके पीछे भी कई तरह के कारण होते हैं। इसमें ज़मीन के उपजाऊपन से लेकर खेत का आकार भी महत्वपूर्ण है। इस प्रकार जो खेती से सम्बन्ध रखता है एवं जिसकी आजीविका का साधन खेत है, वह किसान या कृषक है।

किसान एक ऐसा वर्ग है जो पूर्ण रूप से खेती पर निर्भर होता है। इस खेती के लिए आवश्यकता होती है एक खेत अर्थात् एक भूमि के टुकड़े की। इसी कृषि योग्य भूमि के टुकड़े को किसानी भाषा में 'जोत' कहा जाता है। जिस किसान के पास जितनी बड़ी जोत का आकार होता है उसे उतना ही समृद्ध माना जाता है। इसके पीछे की वजह साफ़ है जितनी अधिक ज़मीन उतना अधिक उत्पादन और उत्पादन के आधार पर ही लाभ की गणना की जाती है। एक गाँव में जिनके पास अधिक ज़मीन होती होती थी, वे जमींदार या सामंत कहलाते थे।

सामंत शब्द का प्रचलन उतर वैदिक काल में मिल जाता है। जहाँ समाज को सामंतवादी समाज की संज्ञा दी गई। इसके साथ खेतों या राज्य की सीमा ज्ञान का प्रारम्भ भी इसी समय से माना गया है। इसमें सीमाओं के ज्ञान के लिए भूमि के अंदर ऐसी वस्तुओं को गाड़ने की बात कही गई है जो समय के साथ नष्ट ना हो।

प्राचीन काल से लेकर अब तक किसान वर्ग को जोत के आधार पर प्रमुख रूप से तीन वर्गों- विस्तृत जोत वाले किसान, मध्यम जोत वाले किसान एवं लघु जोत वाले किसान में विभाजित किया गया है। भारत सरकार ने कृषि गणना 2020-21 के अनुसार कृषि जोत के आधार पर निम्नलिखित प्रकार से किसानों का वर्गीकरण किया है:-

लघु किसान : इस प्रकार के किसानों को दो भागों में विभाजित किया गया है। "लघु किसान- इस तरह के किसान एक हेक्टेयर से दो हेक्टेयर ज़मीन के स्वामी

होते हैं। सीमान्त किसान- इस तरह के किसान एक हेक्टेयर से कम ज़मीन के स्वामी होते हैं।"[8] लघु जोत के किसान की स्थिति सबसे दयनीय होती है। क्योंकि ना तो इनके पास इतनी जमीन होती है कि ये अपना जीवनयापन कर सके और भावनात्मक लगाव की वजह से ना खेती के अतिरिक्त कोई अन्य कार्य कर पाते हैं। यह वर्ग अपने जीवन निर्वाह के लिए फिर किसी बड़े किसान की ज़मीन को जोतने का कार्य करता है। यह समझौता इनके लिए हानिकारक होता है। क्योंकि जिसकी ज़मीन होती है उसे उत्पादन का एक बड़ा हिस्सा देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त यह वर्ग खेतों में मजदूरी करके किसी तरह जीवन निर्वाह कर पाता है।

मध्यम किसान : मध्यम किसान को दो भागों में विभाजित किया गया है- "मध्यम लघु किसान- इस तरह के किसान दो हेक्टेयर से चार हेक्टेयर ज़मीन के स्वामी होते हैं।"[9] दूसरे प्रकार के किसान- "मध्यम किसान- इस तरह के किसान चार हेक्टेयर से दस हेक्टेयर ज़मीन के स्वामी होते हैं।"[10] मध्यम जोत वाले किसानों के पास मध्यम आकार की जोत ही होती है। जिसमें मालिक स्वयं खेती का कार्य करता है। विशेष परिस्थिति के अतिरिक्त इन्हें मजदूरों के आवश्यकता नहीं पड़ती। इनकी आर्थिक स्थिति भी मध्यम वर्ग की तरह होती है। इस वर्ग को सबसे अधिक जोखिम वाला वर्ग भी कहा जाता है। इसके पीछे की वजह यह है कि एक बार का अकाल, अधिक वर्षा या कोई अन्य समस्या इस वर्ग को आर्थिक स्तर पर मध्यम से निम्न स्तर पर ले आती है।

बड़े किसान : "इस तरह के किसान दस हेक्टेयर से ज्यादा ज़मीन के स्वामी होते हैं।"[11] विस्तृत जोत वाले किसान को बड़ा किसान या जमींदार की संज्ञा दी गई है। इस वर्ग के पास एक विस्तृत कृषि योग्य भू-भाग होता है। यह वर्ग स्वयं कृषि नहीं करता वरन कृषि के लिए मजदूर रखता है। यह वर्ग आर्थिक रूप से समृद्ध होता है। यह वर्ग न केवल आर्थिक रूप से; अपितु सामाजिक और

राजनीतिक रूप से भी सक्षम होता है। इसलिए हर काल में इस वर्ग पर छोटे किसानों पर अत्याचार तथा ज़मीन हड़पने के आरोप लगते रहें हैं।

भारतीय किसान नीति-2007 के अनुसार किसान वर्ग के अंतर्गत कृषि या ज़मीन से जुड़े कुछ अन्य कार्य करने वाले समूह को भी किसान वर्ग में सम्मिलित किया गया है। जो इस प्रकार है:-

जनजातीय किसान : किसानों की श्रेणी में जनजातीय किसान सर्वाधिक खराब स्थिति में हैं। "इनमें खेती करना (बहुत से भागों में झूम खेती), ईंधन, चारा और अनेक प्रकार के गैर इमारती वन उत्पाद एकत्र करना शामिल है।"[12] देशभर में अधिकांश जनजातीय समुदाय अपनी आजीविका के लिए वनों और पशुपालन पर निर्भर हैं।

चरवाहे : चरवाहा वह वर्ग है जो पशुपालन का कार्य करता है। "जमीन नहीं होने या कम होने की स्थिति में यह वर्ग एक स्थान से दूसरे स्थान तक पशुओं के चारागाह की तलाश करते हैं।"[13] सरकार ने इस वर्ग को भी किसान के सीमांत वर्ग में शामिल करते हुए इनके लिए सार्वजिक स्थानों पर चरवाही की स्वीकृति देने की बात भी कही है।

द्वीप समूह किसान : दीप समूह किसान देश के विभिन्न द्वीप समूहों में रहने वाली वे प्राचीन जनजातियाँ हैं जिनके पास बागबानी की एक समृद्ध पारम्परिक जानकारी है। "जैव विधिधता संरक्षण और परम्परागत स्वास्थ्य देखभाल के क्षेत्रों में उनके देशज ज्ञान को मान्यता प्रदान करने तथा द्वीप समूहों में बागवानी विकास कार्यक्रम लागू किए जाएँगे।"[14] बढ़ती वैश्विक उष्मा के कारण समुद्र का स्तर बढ़ने और सुनामी जैसी आपदाओं की स्थिति में द्वीप समूहों में जीवन और आजीविकाओं को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से सरकार ने इस वर्ग को भी किसान वर्ग में रखा है।

शहरी किसान : शहरी क्षेत्रों में उद्यान, नर्सरी एवं लघु रूप में खाद्यान्न उत्पन्न करने वाले समूह को भी किसान वर्ग में शामिल किया गया है। जिससे शहरों के पर्यावरण को शुद्ध रखने में मदद मिल सके।

1.2 किसान जीवन : इतिहास और वर्तमान के झरोखे से

1.2.1 वैदिककालीन किसान

प्राचीन काल से ही भारत की अर्थव्यवस्था में कृषि की प्रधानता रही है। इसके पीछे का एक तर्क यह भी है कि भारत की भौगोलिक स्थिति कृषि एवं कृषि कार्यों के लिए अनुकूल है। यही कारण है कि वैदिक कालीन आर्य लोग भी कृषि कार्य से पूर्ण रूप से परिचित थे। इसका प्रमाण हमें वैदिक साहित्य के ऋग्वेद और अथर्ववेद की अनेक ऋचाओं में मिलता है। ऋग्वेद का काल 1500 ई.पू. से 1000 ई.पू. तक माना गया है। डॉ. जयप्रकाश उपाध्याय अपने लेख में लिखते हैं कि ऋग्वेद की कई ऋचाओं से यह भी प्रकट होता है कि वैदिक कालीन लोग कृषि कार्य करते थे। उस समय जौ हल से जुताई करके उपजाया जाता था। इसका प्रमाण निम्नलिखित ऋचा से मिलता है:-

"एवं वृकेणश्विना वपन्तेषं दुहता मनुषाय दस्रा।

अभिदस्युं वकुरेणा धमन्तोस ज्योतिश्चक्रथुरार्याय।।"[15]

अथर्ववेद से यह ज्ञात होता है कि जौ, धान, दाल और तिल आदि तत्कालीन समय की मुख्य फसलें थीं:-

"ब्रहीमत यव मस्त मधो।

मामर्थो विलम्।

एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्ती माहिसिष्टं पितरं मातरंच।।"[16]

अथर्ववेद में खाद का भी संकेत मिलता है जिससे प्रकट होता है कि अधिक अन्न पैदा करने के लिए लोग खाद का उपभोग भी करते थे:-

"संजग्माना अविभ्युषीरस्मिन गोष्ठ करिषिणी।

मध्यनमीवा उपेतन।"[17]

आरम्भिक ऋग्वेदकालीन आर्यों का प्रमुख व्यवसाय पशुपालन ही था। "प्राचीन आर्य लोग पशुपालक थे। पशुपालन उनका प्रमुख व्यवसाय था। ये दूध, माँस और चमड़ा प्राप्त करने के लिए गाय, भैंस, भेड़ें, बकरियाँ और घोड़े पालते थे। ऋग्वेद में मिले साहित्यिक साक्ष्यों के विश्लेषण से हमें उनके साक्ष्य मिले हैं।"[18] यही उनका आर्थिक आधार भी था; परन्तु इसका आशय यह नहीं है कि इन्हें कृषि का ज्ञान नहीं था। कृषि मात्र अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति तक सीमित थी। अपनी भोजन सम्बन्धी आवश्यकतों को पूरा करने के लिए ये लोग 'यव'(जौ) उगाते थे। प्रारंभिक ऋग्वेद काल में आर्य दान में पशु ही देते थे, भूमिदान नहीं करते थे।

ऋग्वेदकालीन आर्यों में गाय को लेकर विशेष सम्मान दिखाई पड़ता है। "गायों को सम्पूर्ण इच्छाएँ पूरी करने वाली कामदा समझा जाता था। पशुओं में वृद्धि के लिए प्रार्थना की जाती थी। इस समय 'गौ' शब्द से अनेक शब्दों का उद्भव हुआ, जिसका अर्थ है गाय। धनी व्यक्ति को 'गोमत' कहते थे और बेटी को 'दुहित्री' जिसका अर्थ है, जो गाय को दुहती है।"[19] ये लोग गाय को पूज्य मानते थे। गाय को कामनाओं की पूर्ति करने वाली समझा जाता था। इसलिए गाय को उस समय के सभी प्रकार के पशुधन में सबसे महत्वपूर्ण माना गया।

उतर वैदिक काल में हमें आरम्भिक वैदिक काल की तुलना में खेती-किसानी से सम्बन्धित अनेक परिवर्तन दिखाई पड़ते हैं। जहाँ एक और पशुपालन के स्थान पर कृषि प्रमुख व्यवसाय बन रहा था वहीं दूसरी और आवश्यकता के अनुरूप कृषि में नए उपकरणों का प्रयोग भी बढ़ने लगा था। इसके अतिरिक्त वैदिक काल के आरम्भिक दौर में जौ ही उगाया जाता था। उतर वैदिक काल में जौ के अलावा भी अनेक फसलों और दालों का उत्पादन प्रारंभ हुआ।

उत्तर वैदिक काल में कृषि, वैदिक लोगों का मुख्य व्यवसाय बन गई थी। इसमें यह भी कहा गया कि हल चलाने के लिए छह और आठ जोड़े बैल जोते जाएँ। भेंस को खेती के उद्देश्य से घरों में पाला जाता था। दलदली भूमि पर हल चलाने के लिए यह पशु बहुत ही उपयोगी था। "इन्द्र देवता को इस काम में नया उपनाम

दिया गया था कृषि का देवता। इसके अतिरिक्त अब ये लोग गेहूँ, चावल, दाल, मसूर, ज्वार-बाजरा, गन्ने इत्यादि की खेती करने लगे थे। पका हुआ चावल 'दान-दक्षिणा' की चीज़ों में शामिल था। इस प्रकार खाद्य उत्पादों की शुरुआत के बाद कृषि उत्पादनों को धार्मिक अनुष्ठानों में दान किया जाने लगा था। तिल, जिसमें से सर्वाधिक खाद्य वनस्पति तेल निकाला जाता था, धार्मिक कर्मकांड में प्रयोग किया जाने लगा था।"[20] खेती-बाड़ी की प्रक्रिया शुरू करने के लिए अनेक धार्मिक अनुष्ठान प्रारंभ किए गए थे।

वैदिक काल के प्रारंभ में समाज की मूलभूत इकाई परिवार थी। यह समाज पुरुष प्रधान था। इस समय का समाज साधारण एवं सामंतवादी समाज था। इसमें किसी भी प्रकार का जातीय वर्गीकरण देखने को नहीं मिलता। परन्तु कुछ भिन्नताएँ अवश्य दिखाई पड़ती हैं। इस प्रकार की भिन्नता का आधार वर्ण और रंग था। आर्य लोग गोर वर्ण के थे जबकि देशज लोग सांवले रंग के थे। इन देशज लोगों को 'दास' वर्ण कहा जाता था जो आगे जाकर गुलाम के रूप में रूढ़ हो गया।

उतर वैदिक काल के समाज में कुछ परिवर्तन आए। परिवार बड़े होने लगे थे जिन्हें संयुक्त परिवार कहा जाने लगा था। इसी समय में वर्ण व्यवस्था का उद्भव और विकास हुआ। इसके साथ ही गोत्र की संकल्पना भी इसी समय की देन है। इसी समय की एक महत्वपूर्ण देन आश्रम व्यवस्था भी है। एक ओर इस समय में जनसंख्या बढ़ रही थी तो दूसरी और समाज भी विकसित हो रहे थे। इस स्थिति में कृषि का विकसित होना आम बात थी। अब आर्य कृषि कार्य के लिए ऐसे स्थानों की ओर जाने लगे, जहाँ वर्षा अधिक होती हो। इसके लिए उन्होंने भारत का उतर-पूर्वी क्षेत्र चुना। यह क्षेत्र बारिश की दृष्टि से उपयुक्त था और हरा-भरा प्रदेश भी।

भारत के उत्तरी और पूर्वी भागों में भारत के उत्तर-पश्चिमी भागों से अधिक वर्षा होती थी। जहाँ बाद में आर्य लोग स्थानांतरित हुए थे। वर्षा के परिणामस्वरूप यह क्षेत्र घने जंगलों से भरा था, जिनका सफाया ऋग्वैदिक काल के लोगों द्वारा

प्रयोग किए जाने वाले तांबे या पत्थर के औजारों से होना संभव नहीं था। "लोहे के हल से गहरी मिट्टी की जुताई की जा सकती थी ताकि भूमि को उपजाऊ बनाया जा सके। ऐसी संभावना है कि यह प्रक्रिया ऋग्वैदिक काल के उत्तर काल में प्रारंभ हो गई थी, परन्तु लोहे से बने औजारों और उपकरणों के प्रयोग करने के प्रभावों के साक्ष्य उत्तर वैदिक काल के अंतिम चरण में ही ज्ञात हुए।"[21] घने वर्षा वनों का अच्छे ढंग से सफाया करने के लिए लोहे के औजारों ने बहुत सहायता की, खास तौर पर जलावन के बाद बचे पेड़ों के बड़े-बड़े ठूठों को पहले की तुलना में कम समय में कृषि योग्य भूमि में परिवर्तित किया जा सकता था।

कृषि की दृष्टि से भूमि का यथोचित विभाजन महत्वपूर्ण स्थान रखता है। वास्तव में पूरे कृषि कर्म की सफलता ही भूमि के समुचित चयन पर निर्भर करती है। "वेदों में कृषि की दृष्टि से भूमि के दो भागों (1) कृष्टपच्य (2) अकृष्टपच्य तथा यजुर्वेद में कृषि के द्वारा उत्पन्न अन्न के लिए 'कृष्टपच्या' एवं बिना कृषि से उत्पन्न अन्न के लिए 'अकृष्टपच्या' शब्द का प्रयोग मिलता है।"[22] अथर्ववेद में कृषि भूमि के लिए 'कृष्य' शब्द का प्रयोग किया गया। संहिताओं में भी भूमि के दोनों प्रकारों का उल्लेख मिलता है। वैदिक साहित्य में कृषि भूमि के तीन अन्य प्रकारों का भी उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में भूमि के तीन प्रमुख भेद हैं –

(1) आर्तना - यह बंजर भूमि का द्योतक है। इसका आशय ऊसर क्षेत्रों से है। इस भूमि को अकृष्ट कहा गया है।

(2) अप्नस्वती - यह शब्द उर्वर भूमि का बोधक है। इस भूमि को कृष्ट कहा गया है।

(3) उर्वरा अथवा क्षेत्र - यह भूमि कृषि की दृष्टि से सबसे अधिक उपयुक्त थी। यह शब्द उपजाऊ भूमि के लिए उर्वरा तथा खेत के लिए मिलता है। इस प्रकार की कृषि भूमि को क्षेत्र अथवा उर्वरा कहा गया है।

वैदिक काल में कृषि के उपकरणों के लिए एक विशेष नाम का प्रचलन था। हल चलाने वाला व्यक्ति या खेती करने वाले को कीनाश या सीरपति कहा जाता था। हल का अग्र भाग जो जमीन को खोदता है उसे फाल कहा जाता था। उतर वैदिक काल के पश्चात यह फाल धातु से बना होता था। उससे पहले लकड़ी का ही बना होता था। शतपथ ब्राह्मण में इसे खदिर (खैरा) की लकड़ी से बना बताया गया है। "अथर्ववेद में उल्लेख है कि 'शुन सुफाला वि तदन्तु' अर्थात् सुन्दर फाल भूमि को सफलतापूर्वक खोदें, किसान सुगमता से बैलों के पीछे चलें जिससे हमें अधिक अन्न प्राप्त हो।"[23] हल को अच्छे से पकड़ने के लिए लकड़ी की चिकनी मूँठ (त्सरू) होती थी। अन्न के पक जाने के बाद सृणि अर्थात् हँसिया द्वारा काटने प्रचलन भी था। सस्य (फसल) काटने की यह प्रक्रिया 'लुनन्त' कहलाती थी।

वैदिक काल में खेतों को नापने के प्रमाण भी ऋग्वेद से प्राप्त होते हैं। इस समय के खेतों को नाप जोखकर टुकड़ों में बाँट दिया जाता था और यही कृषकों की जोत होते थे। ऋग्वेद में तेजन से खेत को मापने की बात कही गई है। हालाँकि इस समय में खेतों को मापने की इकाई का वर्णन किसी भी ग्रन्थ में नहीं मिलता।

इस काल में हल को चलाने के लिए प्रायः बहुत अधिक संख्या में बैल जोते जाते थे। एन.सी. बंधोपाध्याय के अनुसार "इतने अधिक बैलों का प्रयोग गहरी जुताई अथवा कठोर भूमि को जोतने में किया जाता होगा।"[24] आर. एस. शर्मा के अनुसार भी "कठोर भूमि जोतने के लिए ही दो से अधिक बैलों का प्रयोग किया जाता था।"[25] सामान्य रूप से दो बैल ही प्रयोग में लाए जाते थे परन्तु इस काल में कई भारी हल बनाये जाते थे जिन्हें खींचने के लिए छह-आठ, बारह तथा चौबीस बैलों की भी जरुरत होती थी।

मौर्य साम्राज्य की जातक कथाओं में किसान जीवन का वर्णन मिलता है। इसके साथ ही लोहे के हल के प्रमाण भी प्राप्त होते हैं। छठी शताब्दी में गंगा और कावेरी के उर्वर क्षेत्र कछारी तक फैल गए थे। इस क्षेत्र में धान के उत्पादन में तीव्र गति से वृद्धि हुई। किसानों ने मिलकर कुछ सिंचाई के साधनों का भी निर्माण

किया। इससे खेती की उपज तो बढ़ी; लेकिन इसके लाभ समान रूप से नहीं मिल सके। इससे किसानों में वर्ग विभाजन बढ़ने लग गया था। इस काल में इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि खेती से जुड़े लोगों में उत्तरोत्तर भेद बढ़ता जा रहा था। कहानियों में विशेषकर बौद्ध कथाओं में भूमिहीन खेतिहर श्रमिकों, छोटे किसानों और बड़े-बड़े जमींदारों का उल्लेख मिलता है। पालि भाषा में गहपति का प्रयोग छोटे किसानों और ज़मींदारों के लिए किया जाता था। बड़े-बड़े जमींदार और ग्राम प्रधान शक्तिशाली माने जाते थे जो प्रायः किसानों पर नियंत्रण रखते थे। ग्राम प्रधान का पद प्रायः वंशानुगत होता था।

1.2.2 मध्यकालीन किसान जीवन

मध्यकालीन किसान समाज पूर्व की तरह अब भी ग्रामीण समाज का हिस्सा था। मध्यकाल के प्रारम्भिक समय सल्तनत काल में किसान जहाँ एक और खेती में नवीनता के साथ साथ उत्पादन को बढा रहे थे। वहीँ दूसरी ओर उन पर तरह-तरह के कर लगाए जा रहे थे। वह पूरे वर्ष जुताई, बीजरोपण और फ़सल कटाई में लगा रहता था। इस काल में भी खेती ही प्रमुख आर्थिक साधन थी। इस समय में भी किसान के दो वर्ग थे। एक वो जिसके पास ज़मीन थी और वह उस पर खेती करता था। दूसरा वर्ग खेतिहर मजदूरों का था जो दूसरों के खेतों में मेहनत करता था। इसके प्रमाण मध्यकालीन एतिहासिक गन्थों से प्राप्त होते हैं। इस काल में किसानों की आर्थिक स्थिति दयनीय ही थी। उत्तर भारत में एक किसान के पास कभी भी एक जोड़ी बैल और दो हल से ज्यादा कुछ नहीं होता था। "सत्रहवीं सदी के स्रोत दो किस्म के किसानों की चर्चा करते हैं खुद काश्त व पाहि कारत पहले किस्म के किसान थे जो उन्हीं गाँवों में रहते थे जिनमें उनकी जमीन थी। दूसरे (पाहि-कारत) वे खेतिहर थे जो दूसरे गाँवों से ठेके पर खेती करने आते थे। लोग अपनी मर्जी से भी पाहिकारत बनते थे (मसलन, अगर कृषि कर की शर्तें किसी दूसरे गाँव में बेहतर मिले) और मजबूरन भी (मसलन, अकाल या भुखमरी के बाद आर्थिक परेशानी से)।"[26] गुजरात में जिन किसानों के पास छह एकड़ के करीब

जमीन थी। वे किसान समृद्ध माने जाते थे, दूसरी तरफ बंगाल में एक औसत किसान की जमीन की ऊपरी सीमा पाँच एकड़ थी। दस एकड़ जमीन वाले आसामी को अमीर समझा जाता था। खेती व्यक्तिगत स्वामित्व के सिद्धांत पर आधारित थी। किसानों की जमीन अन्य लोगों की तरह खरीदी और बेची जाती थी।

इस समय में भूमि व्यवस्था का आधार जमींदारी प्रथा थी। इसी स्थिति में किसानों का शोषण होना स्वभाविक बात थी। सामंत वर्ग द्वारा किसानों पर विभिन्न प्रकार के कर लगाए जा रहे थे। खेती में होने वाले उत्पादन पर भी सामंत वर्ग का कब्ज़ा था। सल्तनत काल में मुख्य रूप से पाँच प्रकार के करों का प्रचलन था। जिनमें से तीन प्रत्यक्ष रूप से आमजन से जुड़े हुए थे, प्रथम 'उश्र कर' कर था। इस कर के तहत केवल मुस्लिमों से उपज का दस प्रतिशत एवं पाँच प्रतिशत हिस्सा लिया जाता था। दस प्रतिशत हिस्सा प्राकृतिक साधनों से सिंचित भूमि पर तथा मनुष्यकृत साधनों से सिंचित भूमि पर पाँच प्रतिशत कर का प्रावधान था। द्वितीय प्रकार का कर 'खराज कर' था। यह कर गैर-मुस्लिमों से लिया जाता था। जो खराज वाली भूमि पर कृषि करता था तो उससे भी यह कर लिया जाता था। जजिया कर आधुनिक इतिहासकारों ने इस कर को धर्म-निरपेक्ष कर मानते हुए कहा है कि यह कर गैर-मुस्लिमों से इसलिए लिया जाता था, क्योंकि वे सैनिक सेवा से मुक्त थे। फिरोजशाह तुगलक ने ब्राह्मणों से भी जजिया वसूल किया।

हिंदी साहित्य के भक्तिकाल में ग्रामीण तथा किसान जीवन को लेकर कई पदों में चित्रण मिल जाता है। इस कालखंड में प्रमुख रूप से कबीर, सूरदास और तुलसी के काव्य में समाज के यथार्थ का अंकन देखने को मिलता है। जहाँ एक और कबीरदास को समाज के यथार्थ रूप को प्रकट करने में ख्याति प्राप्त है तो तुलसी को लोक कल्याण के कवि की। कबीर ने जहाँ तात्कालिक समाज के आडम्बरों की कड़े शब्दों में आलोचना की है वहीं तुलसीदास जी ने समाज की व्यवस्था और मर्यादा की रक्षा का आग्रह किया है।

कबीरदास मध्यकालीन समाज का प्रतिबिम्ब अपनी रचनाओं प्रस्तुत करते हैं। वे तात्कालिक समय के किसान जीवन और उनकी समस्याओं से परिचित थे। हालाँकि उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से तो किसान जीवन को लेकर रचना नहीं की लेकिन अपनी प्रकृति के अनुरूप रूपक के माध्यम से गाँव एवं किसान का वर्णन जरूर करते है। जो इस प्रकार है:-

"अब न बसूं इहि गाउँ गुसाई।

तेरे नेवगी खरे सयाने हो राम ॥

नगर एक तह जीव धरम हत,

बसैजु पंच किसाना।

नैनूं, नकटू, श्रवनूं, रसनूं, इंद्री कहा न मानै हो राम ॥

गाउ कु ठाकुर खेत कु नेपै, काइथ खरच न पारै।

जोरि जेवरी खेत पसारै, सब मिलि मोक मारै हो राम।।

खोटौ महतौ विकट बलाही, सिर कसदम का पारै।

बुरौ दिवांन दादि नहीं लागै, इक बांधै इक मारै हो राम।।

धरमराइ जब लेखा मांग्या, बाकी निकसी भारी।

पाँच किसाना भाग गए हैं, जीव धर बांध्यो पारी हो राम।।

कहै कबीर सुनहू रे संतौ, हरि भजि बांधौ भेरा।

अबकी बेर बकसि बंदे को, बहुरि न भौजलि फेरा।।"[27]

इस रूपक में शरीर रूपी गाँव का वर्णन है जिसमें सबसे महत्वपूर्ण इन्द्रिया किसान है। अर्थात् गाँव की अर्थव्यवस्था का आधार। इसमें राज्य के कर्मचारियों को धूर्त बताया है जिससे किसान गाँव छोड़ने पर मजबूर हो जाते हैं। इसके साथ ही ठाकुर के माध्यम से सामंतवादी व्यवस्था का भी चित्रण मिलता है। कबीर तात्कालिक किसानों की स्थिति का प्रामाणिकता के साथ वर्णन करते हैं।

इसी कालखंड में एक और प्रसिद्ध कवि सूरदास भी हुए। इनकी रचनाओं में किसान जीवन से जुड़े कुछ प्रसंग मिलते हैं। मैनेजर पाण्डेय ने अपने एक लेख 'सूर का काव्य और किसान जीवन' में लिखा कि "सूर की कविता अपने समय के समाज के पीछे चलने या उसकी आलोचना करने के स्थान पर उस सामन्ती समाज की व्यवस्थाओं, संस्थाओं और रूढ़ियों के दमनकारी प्रभावों का निषेध करती हुई एक ऐसे समाज की रचना करती है जिसमें लोक और शास्त्र के बंधनों से स्वतंत्र मानवीय भावों और मानवीय संबंधों का सहज स्वाभाविक विकास संभव हुआ है।"[28] सूरदास अपनी रचनाओं में प्रतीकों के माध्यम से किसान जीवन का परिचय देते हैं।

सूर के गोचारण काव्य को लेकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कहा कि "कवियों को आकर्षित करने वाली गोप-जीवन की सबसे बड़ी विशेषता है प्रकृति के विस्तृत क्षेत्र में विचरण के लिए सबसे अधिक अवकाश। कृषि, वाणिज्य आदि और व्यवसाय जो आगे चलकर निकले, वे अधिक जटिल हुए—उनमें उतनी स्वच्छंदता न रही।"[29] इन्हीं की तरह डॉ. रामविलास शर्मा भी सूरदास को पशुपालकों का कवि मानते हैं। उन्होंने लिखा कि "कबीर शहरी कारीगरों के, सूर पशु-पालकों के, तुलसी किसानों के जीवन से जुड़े हुए हैं। दार्शनिक मतवाद की छानबीन में विवेचक इनके भौतिक परिवेश की विशेषताएँ भूल जाते हैं। किसान जीवन के चित्र कबीर और सूर के काव्य में नहीं है, वे तुलसी के काव्य की विशेषताएँ हैं।"[30] सूर के काव्य के कुछ पदों में पूरी खेती प्रकिया से संबंधित हर छोटी-बड़ी बात का चित्रण है। जिसमें खेती प्रक्रिया, वर्षा, पशु-पालन, कर्ज और सामन्ती व्यवस्था आदि का वर्णन है।

खेती की सम्पूर्ण प्रक्रिया का चित्र सूर के इस पद में मिलता है :-

"प्रभु जू यों किन्ही हम खेती

बंजर भूमि गोउ हर जोते, अरु जेती की तेती।

काम क्रोध दोउ बैल बली मिली, रज तामस सब कीन्हों।

अति कुबुद्धि मन हांकनहारे, माया जुआ दीन्हों।

इन्द्रिय मूल किसान, महातृन अग्रज बीज बई।

जन्म जन्म को विषय वासना, उपजत लता नई।

कीजै कृपादृष्टि की वरषा, जन की जाति लुनाई।

सूरदास के प्रभु सौ करिये, होई न कान कटाई।"[31]

सूरदास न केवल खेती और सामन्ती को जानते थे वरन उन्होंने किसान जीवन की सबसे बड़ी समस्या कर्ज को लेकर भी अपने काव्य में लिखा:-

"सबै कूर मोसों ऋण चाहत, कहौ कहा तिन दीजै।

बिना दिए दुःख देत दयानिधि, कहौ कौन विधि कीजै।"[32]

सूरदास किसान जीवन के यथार्थ का चित्रण प्राय: रूपकों के माध्यम से करते हैं। इनके काव्य में प्रकृति और लोक जीवन की समग्रता देखी जा सकती है।

तुलसीदास भी किसान जीवन और उसकी दरिद्रता से पूर्ण रूप से परिचित थे। चूँकि राज्य की अर्थव्यवस्था का आधार खेती था। यही कारण रहा कि वे खेती की और संकेत करते हुए तुलसीदास कवितावली में लिखते हैं कि

"खेती किसान को भिखारी को न भीख बलि,

बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी

विकविहीन लोग सीद्यमान सोच बस,

कहैं एक एकन सों "कहाँ जाई का करी?।।"[33]

इस पद का आशय यह है कि किसान को खेती नहीं मिलेगी तो समाज की आर्थिक स्थिति चरमरा जाएगी। कुछ समझ नहीं आएगा कि कहाँ जाएँ और क्या करे? इसके साथ ही राम राज्य की परिकल्पना में भी तुलसी सबसे पहले किसान के खुशी जीवन को आधार मानते हैं। क्योंकि समाज में अगर किसान उन्नत जीवनयापन करता है तो समाज के बाकी वर्ग भी खुशहाल होंगे।

मध्यकालीन समाज का प्रतिबिम्ब कबीर, तुलसी, सूर की रचनाओं में दिखाई पड़ता है। इस त्रयी ने न केवल किसान, वरन अपने समय के समाज के हर वर्ग एवं परिस्थितियों का चित्रण अपने लेखन में किया है।

1.2.3 ब्रिटिश कालीन किसान जीवन

अंग्रेजों के भारत आगमन से पूर्व भारत में परम्परागत भूमि व्यवस्था थी। जिसमें भूमि पर किसानों का अधिकार था। इसमें से फसल का एक हिस्सा सरकार को दे दिया जाता था। जो गाँव द्वारा सामूहिक रूप से शासक को दिया जाता था। यह हिस्सा उत्पादन के साथ घटता बढ़ता रहता था और फ़सल के रूप में दिया जाता था। इसमें साल भर के उत्पादन का एक हिस्सा राजा को दिए जाने का नियम था।

ब्रिटिश शासन में कृषि प्रणाली में अनेक परिवर्तन किए गए। हालाँकि ईस्ट इंडिया कम्पनी ने प्रारंभ में भारत में प्रचलित पुरानी भू राजस्व व्यवस्था को ही जारी तो रखा; परन्तु भू राजस्व की दरों में वृद्धि कर दी। इस वृद्धि की एक वजह यह रही की अब धीरे-धीरे कम्पनी के खर्चे में वृद्धि होने लगी, जिसकी भरपाई के लिए दरों को बढ़ाया गया। ऐसा करना स्वाभाविक भी था क्योंकि कृषि भारतीय अर्थ-व्यवस्था की धुरी रही है। "अँग्रेजों के उपनिवेशवादी शोषण का कहर भारतीय किसानों पर ही सबसे ज्यादा बरपा। औपनिवेशिक आर्थिक नीतियाँ, भू-राजस्व की

नई प्रणाली और उपनिवेशवादी प्रशासनिक व न्यायिक व्यवस्था ने किसानों की कमर तोड़ दी।"[34] भू-राजस्व ही एक ऐसा माध्यम था जिससे अधिकाधिक धन प्राप्त किया जा सकता था।

ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपने आर्थिक व्यय की पूर्ति करने तथा अधिकाधिक धन कमाने के उद्देश्य से भारत की कृषि व्यवस्था में हस्तक्षेप करना प्रारंभ कर दिया तथा कृषि के परम्परागत ढाँचे को समाप्त करने का प्रयास किया। यद्यपि क्लाइव तथा उसके उत्तराधिकारियों के समय तक भू राजस्व पद्धति में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं किया गया तथा इस समय तक भू राजस्व की वसूली जमीदारों या लगान के ठेकेदारों के माध्यम से ही की जाती रही; किंतु उसके पश्चात कम्पनी द्वारा नए प्रकार के कृषि संबंधों की शुरुआत की गई।

कम्पनी ने करों के निर्धारण और वसूली के लिए कई नए प्रकार के भू-राजस्व बंदोबस्त कायम किए। इसमें सबसे पहले मालगुज़ारी निर्धारण की प्रणाली और भूमि के स्वामित्व का पंजीकरण था। ब्रिटिश शासन में मालगुज़ारी पैसे के आधार पर तय की गई। ये राशि ज़मीन के हिसाब से तय कर दी गई। फ़सल कम हो या ज्यादा निश्चित राशि देनी ही पड़ती थी। इस प्रणाली से किसान सीधे राज्य का काश्तकार बन गया। सरकार ने इस व्यवस्था से भूमि पर पूर्ण अधिकार कर लिया। अब किसान को लगान न दिए जाने की स्थिति में ज़मीन से बेदखल किया जा सकता था। इसके परिणामस्वरूप कम्पनी ने करों के निर्धारण और वसूली के लिए कई नए प्रकार के भू-राजस्व बंदोबस्त कायम किए। जिसमें मध्यस्थ जमींदारों ने सरकार की ओर से राजस्व एकत्र किया।

ब्रिटिश सरकार ने राजस्व संग्रह के समयबद्ध अनुबंध का पालन किया और सबसे अधिक बोली लगाने वाले को राजस्व संग्रह का अनुबंध सौंपा। बोली लगाने की प्रक्रिया को राजस्व की शर्त से अधिक का सामना करना पड़ा। अंततः किसानों को बोली में निर्धारित लक्ष्य को पूरा करने के लिए नकद फसलों की खेती करने के लिए मजबूर किया गया था। जमींदारों को उनके नियंत्रण में भूमि के उप अनुबंध

की अनुमति दी गई। इस तरह ब्रिटिश सरकार ने एक कृषि पदानुक्रम पेश किया जो लोग इस पदानुक्रम के ऊपरी परतों पर सीधे खेती में शामिल नहीं थे, वे विशेष रूप से विशेषाधिकार प्राप्त हुए और बड़े भूमि धारण का आनंद ले रहे थे; लेकिन किसान जो फसलों के वास्तविक उत्पादक थे भूमि रहित बंधुआ मजदूर किरायेदार किसान बन गए। परिणामतः किसान अत्यन्त दरिद्र होता गया।

मुख्य रूप से अंग्रेजों ने भारत में तीन प्रकार की भू-राजस्व पद्धतियाँ अपनाई : 1.स्थायी बंदोबस्त, 2. रैयतवाड़ी व्यवस्था, 3. महालवाड़ी

भू-राजस्व की स्थायी बंदोवस्त व्यवस्था को लागू करने के पीछे कम्पनी के प्रमुख रूप से दो उद्देश्य थे। पहला इंग्लैण्ड ही की तरह, भारत में भी जमींदारों का एक ऐसा वर्ग तैयार करना, जो अंग्रेजी साम्राज्य के किसानों से की गई लूट-खसोट से थोड़ा-सा हिस्सा प्राप्त कर संतुष्ट हो जाए तथा कम्पनी को सामाजिक आधार प्रदान करे। दूसरा कम्पनी की आय में वृद्धि करना क्योंकि खेती ही कम्पनी की आय का प्रमुख साधन था। इस व्यवस्था से जमीदारों को सबसे अधिक लाभ ही हुआ। जिससे वे भूमि के मालिक बन गए। लगान का निश्चित हिस्सा सरकार को देने के बाद भी बड़ी धनराशि जमींदारों को प्राप्त होने लगी। जमींदार अब एक ऐसा वर्ग हो गया, जो हर परिस्थिति में सरकार के साथ खड़ा था। इस व्यवस्था से सबसे अधिक नुकसान किसानों को हुआ। इससे उनके भूमि संबंधी तथा अन्य परम्परागत अधिकार छीन लिए गए। भू-राजस्व की उच्च दरें सरकार को समय पर चुकाने में वे समर्थ नहीं थे, तो उन्हें बेरहमी के साथ उनकी ज़मीन से बेदखल कर दिया गया तथा उनकी जमीनें नीलाम कर दी गईं और वे केवल खेतिहर मजदूर बन कर रह गए। इस प्रकार की व्यवस्था से सरकार को भी हानि हुई क्योंकि कृषि उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ उसकी आय में कोई वृद्धि नहीं हुई तथा उसका सम्पूर्ण लाभ केवल जमीदारों को ही प्राप्त होता रहा।

स्थायी बंदोबस्त के पश्चात, मद्रास के तत्कालीन गवर्नर (1820-27) टॉमस मनरो ने भू-राजस्व की एक नई पद्धति अपनायी, जिसे रैयतवाड़ी बंदोबस्त कहा गया। इस व्यवस्था में रैयतों (किसानों) को भूमि के मालिकाना हक के अधिकार दे दिए गए। जिससे वे सीधे सरकार को लगान अदा करने के लिए उत्तरदायी थे। इस व्यवस्था ने किसानों के भू-स्वामित्व की स्थापना की। इस प्रथा में जमींदारों के स्थान पर किसानों को भूमि का स्वामी बना दिया गया। सरकार द्वारा इस व्यवस्था को लागू करने का उद्देश्य, बिचैलियों (जमीदारों) के वर्ग को समाप्त करना था। इस व्यवस्था के अंतर्गत किसान का भूमि पर तब तक ही स्वामित्व रहता था, जब तक कि वह लगान की राशि सरकार को निश्चित समय के भीतर अदा करता रहे अन्यथा उसे भूमि से बेदखल कर दिया जाता था। “रैयतवारी इलाकों में लगान की दरें बेतहाशा बढ़ाकर ठीक यही काम सरकार ने किया। नतीजा यह हुआ कि किसान धीरे-धीरे महाजनों के चंगुल में फँसते गए और इस तरह उनकी जमीन, फसलें और पशु उनके हाथ से निकलकर जमींदारों, व्यापारियों-महाजनों और धनी किसानों के हाथ में पहुँचते गए। जमीन के मालिक छोटे किसान की हैसियत महज काश्तकारों, बँटाईदारों और खेतिहार मजदूरों की ही रह गई।”[35] अधिकांश क्षेत्रों में लगान की दर अधिक थी अतः प्राकृतिक विपदा या अन्य किसी भी प्रकार की कठिनाई आने पर जब किसान लगान अदा नहीं कर पाता तो उसे अपनी भूमि से हाथ धोना पड़ता था। इसके अलावा कसानों को लगान वसूलने वाले कर्मचारियों के दुर्व्यवहार का सामना भी करना पड़ता था।

लाई हेस्टिंग्स ने भू-राजस्व व्यवस्था का संशोधित रूप लागू किया, जिसे महालवाड़ी बंदोबस्त कहा गया। यू.पी. एवं पंजाब में यह व्यवस्था लागू की गई। इस व्यवस्था में एक पूरे गाँव का भू-राजस्व का बंदोबस्त एक ऐसे वर्ग का दिया गया जो पूरे गाँव का प्रमुख होने का दावा करते थे। इस वर्ग के पास यह अधिकार था कि लगान नहीं देने पर ये किसी भी किसान की भूमि पर अधिकार कर सकते

थे। इसका परिणाम यह हुआ की गाँव का मुखिया अधिक ताकतवर हो गया तथा सरकार और किसानों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध खत्म हो गया।

भारत पर पहली बार इस समय एक पूँजीवादी राष्ट्र का शासन था और इसका भारत की आर्थिक संरचना पर प्रभाव पड़ना भी स्वाभाविक था। यहाँ अंग्रेजों का प्रमुख उद्देश्य अधिकतम लाभ अर्जित करना था। लगान की नई व्यवस्था के साथ जमीन के रेहन और खरीद-बिक्री की भी प्रथा शुरू हुई। जब फसल या अपनी औकात के बल पर किसान राज्य को भूमिकर नहीं चुका पाता तब उसे अपनी जमीन को रहन करना पड़ता था। नई भूमि व्यवस्था कृषक समुदाय की ऋणग्रस्तता और गरीबी का मुख्य कारण सिद्ध हुई।

1.2.4 ब्रिटिशकालीन किसान आन्दोलन

इतिहास गवाह है कि जब-जब सरकारी नीतियों, शोषण, कर्ज, आदि के द्वारा किसानों को प्रताड़ित करने का प्रयास किया है। किसानों ने अपने लुप्त हो रहे वर्चस्व को जीवित रखने तथा कृषक वर्ग के साथ हो रही मनमानियों के खिलाफ समय-समय पर अपनी हक की लड़ाई के लिए आवाज बुलंद की तथा सरकार को झुकने के लिए विवश किया है। भारतीय किसानों ने भी औपनिवेशिक ताकत के द्वारा हो रहे अत्याचार और शोषण के खिलाफ अपने अधिकारों की लड़ाई का आरम्भ किया था। किसानों के द्वारा अंग्रेजी सत्ता के दौरान किए गए प्रमुख किसान आन्दोलन, विद्रोह और सत्याग्रह को हम संक्षेप में देख सकते हैं।

अंग्रेजों के समय में किसानों का पहला संगठित आन्दोलन बंगाल में किसानों की समस्याओं से हुआ **नील** विद्रोह था। 1859-60 ई. हुए इस विद्रोह ने प्रतिरोध की एक मिसाल कायम की और नई चेतना का संचार किया। यूरोपीय बाजारों में नील की माँग की पूर्ति हेतु नील उत्पादकों ने किसानों की निरक्षरता का फ़ायदा उठाकर झूठे करार द्वारा उन्हें नील की खेती के लिए बाध्य किया। नाटककार दीनबंधु मित्र ने इस आन्दोलन को अपनी रचना का आधार बनाकर

'नील दर्पण' नाटक की रचना की। नील दर्पण नाटक में बंगाल में नील की खेती करने वाले भारतीय किसानों पर हो रहे अंग्रेजों के शोषण और अत्यचारों की अभिव्यक्ति की गई है। जहाँ पर नील उत्पादकों ने लठैतों को पालकर उनके माध्यम से बलात किसानों से नील की खेती करवाना शुरू कर दिया। वे किसानों का अपहरण, बेदखली, लाठियों से पीटना एवं फसलों को जलाने जैसे क्रूर हथकंडे भी अपनाने लगे थे।

नील आंदोलन का प्रारंभ एक सरकारी आदेश को समझने में हुई भूल से माना गया। जहाँ कलारोवा के डिप्टी मैजिस्ट्रेट ने पुलिस विभाग को यह आदेश दिया कि किसान अपनी इच्छानुसार भूमि पर उत्पादन कर सकें। शीघ्र ही किसानों ने नील उत्पादन के खिलाफ अर्जियाँ देनी शुरू कर दी और जब इन अर्जियों पर ध्यान नहीं दिया गया तो दिगम्बर विश्वास एवं विष्णु विश्वास के नेतृत्व में नादिया जिले के गोविंदपुर गाँव के किसानों ने विद्रोह कर दिया। जब सरकार ने इस विद्रोह को बलपूर्वक दबाने का प्रयास किया तो किसान भी हिंसा पर उतर आए। इस घटना से प्रेरित होकर आसपास के क्षेत्रों के किसानों ने भी उत्पादकों से अग्रिम राशि लेने, नील सम्बन्धी करार करने तथा नील की खेती करने से साफ़ मना कर दिया।

इसके पश्चात किसानों ने जमींदारों को लगान देना भी बंद कर दिया। जिससे नील उत्पादकों ने किसानों के खिलाफ मुकदमे करना शुरू कर दिए। इसके बदले में किसानों ने भी नील उत्पादकों की सेवा में लगे लोगों का सामाजिक बहिष्कार प्रारंभ कर दिया। तत्कालीन गवर्नर लार्ड केनिन ने खुद कहा कि "नील के किसानों के वर्तमान विद्रोह के बारे में प्रायः एक सप्ताह तक मुझे इतनी चिंता रही जितनी दिल्ली की घटना (अर्थात् 1857 का महाविद्रोह) के समय भी नहीं हुई थी। मैं हर समय सोचता रहता कि अगर किसी अबोध निलहे ने भय या क्रोध से गोली चला दी तो उसी वक्त दक्षिण बंगाल की सब कोठियों (अर्थात् नील की कोठियों) में

आग लग जाएगी।"[36] इस समय किसान शक्तिशाली होते गए तथा नील उत्पादक अकेले पड़ते गए।

इस स्थिति में सरकार ने नील आयोग का गठन किया। इस आयोग की सिफारिशों के आधार पर सरकार ने किसानों को यह आश्वासन दिया गया कि उन्हें नील उत्पादन के लिए विवश नहीं किया जाएगा तथा इससे संबंधित विवादों को वैधानिक तरीकों से हल किया जाएगा। इस प्रकार कोई चारा न रहने की स्थिति में नील उत्पादकों ने बंगाल से अपने कारखाने बंद करने प्रारम्भ कर दिए और यह विवाद समाप्त हो गया।

पाबना विद्रोह मुख्यतः कानूनी मोर्चे पर ही लड़ा गया था। 1873 तक किसान अपने कानूनी अधिकारों के प्रति कुछ हद तक जागरुक हो चुके थे और कानूनी लड़ाई लड़ना सीख गए थे। पाबना जिले में जमीदारों की मनमानी के विरुद्ध किसान-संघ की स्थापना की गई। इस संघ के अधीन किसान संगठित हुए और उन्होंने बढ़े हुए लगान के विरुद्ध हड़ताल कर दी और लगान देने से मना कर दिया। इसके साथ ही इस संघ ने जमींदारों के खिलाफ मुकदमे दायर किए तथा आर्थिक मजबूती के लिए कोष भी स्थापित किए गए।

जहाँ आंदोलन शांतिपूर्ण रहा तथा किसानों ने सिर्फ कानूनी मोर्चे पर लड़ाई लड़ी वहाँ सरकार ने तटस्थ रुख अपनाया। जहाँ हिंसक वारदातें हुईं, वहाँ सरकार ने जमींदारों का पक्ष लिया और किसानों की गिरफ्तारियाँ बड़े पैमाने पर की गईं। इसके प्रभाव से ही बंगाल काश्तकारी कानून बना, हालाँकि अधिकांश विवाद पहले ही निपटा लिए गए थे और किसानों को उनकी जमीन वापस मिल चुकी थी। कई जमींदारों ने तो स्वयं ही डर के कारण समझौते की पेशकश की।

दक्कन विद्रोह पश्चिमी भारत के दक्कन क्षेत्र में होने के कारण यह दक्कन विद्रोह कहलाया। इस क्षेत्र में होने वाले सभी कृषक विद्रोहों का मुख्य कारण रैयतवाड़ी बंदोबस्त के अंतर्गत किसानों पर लादे गए भारी कर थे। जिससे वो

साहूकारों के कुचक्र में फँसने को विवश हो गए थे। जिससे महाजनों-सूदखोरों एवं किसानों के मध्य तनाव बढ़ने लगा, इसका परिणाम यह हुआ कि 1874 में किसानों ने महाजनों के विरुद्ध सामाजिक बहिष्कार आंदोलन प्रारंभ कर दिया और महाजनों की दुकानों से खरीददारी भी बंद कर दी। इसके साथ ही मजदूरों ने खेतों में मजदूरी करने से इंकार कर दिया। समाज के अन्य वर्ग नाइयों, धोबियों तथा चर्मकारों ने भी महाजनों की किसी प्रकार की सेवा करने से मना कर दिया।

यह सामाजिक बहिष्कार जल्द ही आस-पास के गाँवों में भी फैल गया; लेकिन यह शीघ्र ही कृषि दंगों में परिवर्तित हो गया, जिसके फलस्वरूप किसानों ने महाजनों एवं सूदखोरों के घरों एवं व्यापारिक प्रतिष्ठानों पर हमले किए, ऋण संबंधी कागजात व करारनामे लूट लिए तथा सार्वजनिक तौर पर उनको आग लगा दी गई।

सरकार ने आन्दोलनकारियों के प्रति दमन की नीति अपनाई और आन्दोलन को कुचल दिया गया। 1879 में दक्कन कृषक राहत अधिनियम बनने से यह आंदोलन पूर्णतया समाप्त हो गया।

किसान आंदोलनों में किसान मुख्य शक्ति बनकर उभरे तथा अब उन्होंने अपनी माँगों के लिए सीधे लड़ना प्रारंभ कर दिया। उनकी माँगे मुख्यतया आर्थिक समस्याओं से सम्बद्ध थीं। किसानों के मुख्य दुश्मन विदेशी बागान मालिक, देशी जमीदार, महाजन एवं सूदखोर थे। इन आंदोलनों में निरंतरता एवं दीर्घकालीन संगठन का अभाव था। इन आंदोलनों का प्रसार क्षेत्र सीमित था।

बीसवीं शताब्दी के कृषक विद्रोह, पिछली शताब्दी के विद्रोहों से अधिक व्यापक, प्रभावी, संगठित व सफल थे। इस परिवर्तन के सूत्र, कृषक आंदोलन एवं भारतीय राष्ट्रीय स्वाधीनता संघर्ष के अन्योनाश्रय संबंधों में थे। राष्ट्रीय आंदोलन ने

अपना संघर्ष तीव्र करने के लिए सामाजिक आधार बढ़ाने की कोशिश के क्रम में किसानों से नजदीकियाँ स्थापित कीं और दूसरी ओर किसानों ने राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ने के लाभों को देखकर तन-मन-धन से उसे समर्थन देना प्रारंभ कर दिया।

होमरूल लीग की गतिविधियों के कारण फरवरी, 1918 में गौरीशंकर मिश्र तथा इंद्रनारायण द्विवेदी ने उत्तर प्रदेश किसान सभा का गठन किया। उनके इस कार्य में मदन मोहन मालवीय से भी उन्हें सहयोग प्राप्त हुआ। 1919 के मध्य तक किसान सभा की लगभग पाँच सौ शाखाएँ गठित हो चुकी थीं। किसान सभाओं के प्रमुख नेताओं में झिंगुरी सिंह, दुर्गापाल सिंह एव बाबा रामचंद्र थे। जून, 1920 में बाबा रामचंद्र ने जवाहर लाल नेहरू से इन गाँवों का दौरा करने का आग्रह किया।

राष्ट्रवादी नेताओं में आपसी मतभेद के कारण अक्टूबर, 1920 में अवध किसान सभा का गठन किया गया। इस सभा ने किसानों से बेदखल जमीन न जोतने और बेगार न करने की अपील की तथा ऐसा न करने वाले किसानों का सामाजिक बहिष्कार करने आग्रह किसानों से किया।

जनवरी 1921 में कुछ क्षेत्रों में स्थानीय नेताओं की गलतफहमी एवं आक्रोश के कारण इस आंदोलन ने हिंसक रूप ले लिया। इसके पश्चात सरकारी दमन के कारण यह आंदोलन कमजोर पड़ने लगा। इसी बीच सरकार ने अवध मालगुजारी रेंट संशोधन अधिनियम पारित कर दिया। जिससे यह आंदोलन और कमजोर हुआ। मार्च 1921 तक आंदोलन समाप्त हो गया।

1921 के अंत में, उत्तर प्रदेश के उत्तरी जिलों में किसान पुनः संगठित होकर उच्च लगान दरों और जमींदारों की दमनकारी नीतियों के विरुद्ध आंदोलन पर उतर आए। इस समय लगान की दरें पचास प्रतिशत से भी अधिक हो गई थीं। इसके साथ ही राजस्व वसूली के कार्य में जमींदारों द्वारा किसानों और बेगार प्रथा के लिए बाध्य किया गया। इसी के विरुद्ध में आरम्भ हुए इस एका या एकता

आदोलन में प्रतीकात्मक धार्मिक रीति-रिवाजों का पालन किया गया तथा किसानों को उचित लगान ही देने, भूमि नहीं छोड़ेंने, बेग़ार नहीं करने की शपथ दिलवाई गई। सरकार ने इस आंदोलन को दमन का सहारा लेकर कुचल दिया।

केरल के मालाबार तट पर अगस्त 1921 में अवध के किसानों से प्रेरित होकर स्थानीय मोपला किसानों ने जब जबरदस्त विद्रोह किया। इस तट के मुस्लिम किसानों को **मोपला** कहते थे, जहाँ जमीदारी मुख्यतः हिन्दुओं के हाथों में थी। मोपला विद्रोह के प्रमुख कारण-लगान की उच्च दरें, नजराना एवं अन्य दमनकारी तौर-तरीके थे; किंतु इस आंदोलन की एक विशेषता रही इसका राष्ट्रवादी आंदोलन के साथ संबंध स्थापित होना। अवध की ही तरह यहाँ भी किसानों की बैठक और खिलाफत की बैठक में फर्क कर पाना कठिन था। गांधी जी, शौकत अली, मौलाना आजाद आदि राष्ट्रीय नेताओं ने इन क्षेत्रों का दौरा कर इनमें विद्रोह में और अधिक सक्रियता ला दी। अंत में सरकार ने फरवरी 1921 में निषेधाज्ञा लागू कर खिलाफत के साथ किसानों की सभाओं पर रोक लगा दी और इसके सभी प्रमुख नेताओं को गिरफ्तार कर लिया।

प्रमुख नेताओं के गिरफ़्तार होने के कारण आंदोलन का नेतृत्व स्थानीय मोपला नेताओं के हाथों में आ गया और आंदोलन हिंसक और हिन्दू विरोधी हो गया। हिंसा का प्रारंभ शुरुआत 20 अगस्त 1921 को खिलाफत के एक प्रमुख नेता मुदलियार की गिरफ्तारी के लिए सेना के मस्जिद में प्रवेश करने के मुद्दे को लेकर हुई।

अंग्रेजी सरकार द्वारा मार्शल लॉ लागू करने की घोषणा से विद्रोह का चरित्र बदल गया। सरकार ने हिन्दुओं से अपना समर्थन करने के लिए कहा और कुछ हिन्दू स्वेच्छा से भी खुले तौर पर सरकार का समर्थन करने लगे। जिससे यह विद्रोह हिन्दू-विरोधी हो गया तथा बड़ी संख्या में हिन्दुओं की हत्याएँ एवं धर्म

परिवर्तन की घटनाएँ हुईं। इसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रवादी नेता आंदोलन से अलग हो गए। 1921 के अंत में यह आन्दोलन समाप्त हो गया।

1926 में गुजरात के बारदोली में स्थानीय प्रशासन ने भू-राजस्व की दरों में तीस प्रतिशत वृद्धि की घोषणा करने के बाद इसका यहाँ के कांग्रेसी नेताओं और स्थानीय लोगों ने तीव्र विरोध किया। सरकार ने परिस्थिति की गंभीरता को देखते हुए बारदोली जाँच आयोग का गठन किया। आयोग ने संस्तुति दी कि यह वृद्धि अन्यायपूर्ण एवं अनुचित है। इसी सत्याग्रह में वल्लभभाई पटेल को आंदोलन की महिलाओं ने 'सरदार' की उपाधि से विभूषित किया।

अखिल भारतीय किसान कांग्रेस सभा की स्थापना 1936 में हुई। स्वामी सहजानंद सरस्वती को इस सभा का अध्यक्ष तथा एन.जी. रंगा को सचिव चुना गया। इस सभा ने किसानों के लिए घोषणा-पत्र जारी किया। सरकार के सहयोगात्मक रवैये के परिणामस्वरूप इस अवधि में किसानों ने जनसभाएँ, प्रदर्शन, धरने आदि आयोजित किए तथा गाँवों में भी किसान आंदोलनों का प्रसार किया गया।

बिहार में सहजानंद सरस्वती, कार्यानंद शर्मा, यदुनंदन शर्मा, राहुल सांस्कृत्यानन, पंचानन शर्मा एवं जामुन कार्जीति इत्यादि नेताओं ने किसान आंदोलनों का नेतृत्व किया। 1935 में प्रांतीय किसान सभा ने जमींदारों के उन्मूलन का प्रस्ताव पारित किया। इसके बाद जमीन की वापसी के लिए आंदोलन तेज हुआ।1939 में कुछ सुविधाएँ मिल जाने के कारण तथा कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारी की वजह से आंदोलन कुछ समय के लिए स्थगित हो गया। 1945 में यह पुनः प्रारंभ हुआ और स्वाधीनता के बाद भी चलता रहा, जब तक की जमीदारी प्रथा समाप्त नहीं हो गई।

तेभागा आंदोलन बंगाल कृषक आंदोलनों में सबसे प्रमुख था। 1940 के लगान आयोग के अनुसार, इस आंदोलन में माँग की गई कि फसल का दो-तिहाई हिस्सा किसानों को दिया जाए। यह आंदोलन बटाईदारों द्वारा जोतदारों के विरुद्ध चलाया गया था। इस आंदोलन में सबसे मुख्य भूमिका बंगाल किसान सभा की थी तथा इसमें महिलाओं ने भी प्रमुख भूमिका निभाई। इस आन्दोलन में इकलाब जिंदाबाद जैसे नारे लगाए गए। यह आन्दोलन स्वाधीनता के पश्चात भी तब तक जारी रहा, जब तक 1949 में बर्गदार अधिनियम नहीं बन गया।

तेलंगाना आंदोलन आधुनिक भारत का सबसे बड़ा कृषक गुरिल्ला युद्ध था। इस आन्दोलन ने तीन हजार गाँवों तथा तीस लाख लोगों को प्रभावित किया। तेलंगाना के देशमुखों ने किसानों तथा खेतिहर मजदूरों का भरपूर शोषण किया जिससे इस क्षेत्र में इनके अत्याचारों की एक बाढ़-सी आ गई। सामंती दमन तथा जबरन वसूली किसानों के भाग्य की नियति-सा बन गया।

इसी के विरुद्ध किसानों एवं खेतिहर मजदूरों ने शोषकों के विरुद्ध आंदोलन छेड़ दिया। कुछ समय पश्चात स्थानीय कम्युनिस्ट, मझोले कृषक तथा कांग्रेस संगठन भी इस अभियान में शामिल हो गए। इस आंदोलन की प्रमुख विशेषता विद्रोहियों की शोषकों के विरुद्ध गुरिल्ला आक्रमण की नीति रही। युद्ध के दौरान कम्युनिस्ट नेतृत्व वाले गुरिल्ला छापामारों ने आंध्र महासभा के सहयोग से पूरे तेलंगाना क्षेत्र के सभी गाँवों में अपनी अच्छी पैठ बना ली।

सरकार ने आंदोलनकारियों के प्रति अत्यंत निर्दयतापूर्ण रुख अपनाया। अगस्त 1947 से सितम्बर 1948 के मध्य यह आंदोलन अपने चरमोत्कर्ष पर था। भारतीय सेना के द्वारा हैदराबाद का विलय करने के बाद यह आंदोलन अपने आप समाप्त हो गया।

1.2.5 आज़ादी के बाद किसान जीवन

आजादी से पूर्व ब्रिटिश सरकार का एक मात्र लक्ष्य अपने साम्राज्यवादी हितों की पूर्ति करना रहा। इन्हीं साम्राज्यवादी हितों के लिए ब्रिटिश सरकार ने भारतीय अर्थव्यवस्था के सबसे प्रबल आधार कृषि का सर्वाधिक दोहन किया। यही कारण रहा कि आज़ादी के तत्काल बाद बनी प्रथम भारतीय सरकार को अर्थव्यवस्था का कृषि आधार फिर से सुदृढ़ करने पर विशेष प्रयास करने पडे। इसमें सबसे प्रमुख कार्य भारतीय कृषि के उन संस्थागत तंत्रों की पुनर्संरचना करने का था जो कि ब्रिटिशकालीन कृषि व्यवस्था में सामंतवादी प्रवृत्तियों के कारण कमजोर एवं रूढ़ हो गई थी। इस दिशा में भारत की प्रथम सरकार द्वारा उठाए गए कदमों में एक 1949 में 'भूमि और काश्तकारी सुधार' प्रारंभ करने के लिए संवैधानिक प्रावधान करना था। इन सुधारों को प्रादेशिक संवेदनशीलता को ध्यान में रखकर किया जाना था इसलिए केंद्र सरकार इन सुधारों के क्रियान्वयन का सम्पूर्ण कार्य संबंधित राज्य सरकारों पर छोड़ दिया गया। इसका परिणाम इस रूप में सामने आया कि क्षेत्रीय सामाजिक, राजनीतिक दबावों द्वारा और राज्य सरकारों द्वारा की गई पहलों की उपलब्धि का स्तर भी भिन्न-भिन्न रूपों में प्राप्त होता है।

औद्योगीकरण का बढता प्रभाव वर्तमान समय में खेती किसानी को निगलने के लिए तत्पर दिखाई पड़ता है। किसानों की जमीनें उद्योगों की स्थापना के नाम पर जबरन सरकार द्वारा उद्योगपतियों को कौड़ियों के दाम पर दी जा रही है। खाद-बीज, कीटनाशक और तकनीक पर किसानों की निर्भरता और पूँजीपतियों के एकाधिकार ने किसान को गुलाम बनने के लिए मजबूर कर दिया है। भारतीय किसान पुरानी परम्परागत कृषि पर निर्भर है जबकि विकसित देश का किसान ट्रांसजैविक बीजों का प्रयोग कर रहा है। अतः लघु एवं सीमान्त कृषकों को इसका लाभ नहीं मिल पा रहा है।

आज वैश्वीकरण की आँधी भारतीय कृषि, समाज, संस्कृति को गहराई से प्रभावित कर रही है। वर्तमान भारतीय बाजार तरह-तरह के खाद्यान्नों एवं उत्पादों

से भरे पड़े हैं। एक अनुमान के अनुसार भारत के लगभग चार हजार छह सौ विदेशी कम्पनियाँ है जो चाकलेट, कोका-कोला, फास्टफूड, शैम्पू, टूथपेस्ट, भारतीय कृषि की वनस्पतियों एवं पेड़ पौधों बीज आदि का पेटेन्ट हासिल कर उनकी बिक्री पर अपना एकाधिकार जमाने के प्रयास करने में लगी है। अब तो यह कम्पनियाँ रक्षाबधन पर राखियाँ बनाने का भी काम करने लगी है। अब इन्हें लोक प्रिय भारतीय पेय नारियल पानी को बोतल में बंद करके बेचने की अनुमति मिल गई है। अनेक कृषि पदार्थों को यह सरेआम हमारे बाजार में बेच रहे है। इससे कम्पनियाँ अधिक लाभ अर्जित कर रही हैं। अतः हम कह सकते हैं कि वैश्वीकरण ने हमारी भारतीय कृषि व्यवस्था को नकारात्मक रूप से भी प्रभावित किया है।

1.3 किसान जीवन : मूलभूत प्रश्न और चुनौतियाँ

जब-जब हमारे समक्ष किसान का जिक्र होता है तो हमारे मन-मस्तिष्क में एक ऐसा चेहरा आता है जो हमेशा चिंता की लकीरों से घिरा रहता है। एक ऐसा चेहरा जो मिट्टी की उर्वरा शक्ति में अपनी पहचान और अस्मिता को तलाशता है। जो सूर्योदय से पहले जागता है और शाम ढलने के बाद भी अपने खेतों की सुरक्षा में लगा रहता है। जो रात को सोते हुए भी भगवान से मौसम के अनुकूलन की प्रार्थना करता है। इसके साथ ही न जाने कितने ही अनगिनत प्रश्न उसके जीवन को प्रभावित करते हैं मसलन अगली फसल के लिए बीज, खाद, पानी की चिंता, बेटे-बेटी की पढ़ाई की चिंता, बेटी की शादी की चिंता, पिछला कर्ज चुकता करने की चिंता, परिवार की सकुशलता की चिंता इत्यादि। इन्हीं प्रश्नों के उत्तर खोजने में सुबह हो जाती है और फिर वह किसान अपने खेतों की तरफ चल देता है।

भारतीय समाज में पहले मुग़ल और फिर सामंतवाद और पूँजीवाद का अजीब मिश्रण अंग्रेजों के शासन काल में तैयार हुआ। जहाँ भारतीय किसानों का शोषण होता रहा और उनके हालात बद से बदतर होते चले गए। कृषि प्रधान

भारत की कमर तोड़ कर अंग्रेज तो वापस इंगलैण्ड गए, किन्तु किसानों की आर्थिक स्थिति आज़ादी के पश्चात् भी वैसी ही बनी हुई है।

किसानों की स्थिति का आभास सहजानंद सरस्वती को पहले ही हो गया। उन्होंने अपने लेख 'किसान क्या करें?' में इसी को इंगित करते हुए लिखा कि "जिसके हाथ में संसार का गला हो और जिसकी एक करवट से संसार में प्रलय मचे, वही अपने को गया गुजरा और गैरों को समाज की कोटियों का कृपा पात्र मानने में धन्य समझे, यह निराली बात है।"[37] यही स्थिति हमें वर्तमान समय में देखने को मिल रही है। किसानों का खेती से पलायन आज के समय का मूलभूत प्रश्न है। "राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संस्थान के सर्वे के मुताबिक चालीस प्रतिशत किसानों का मानना है कि खेती –किसानी का कोई विकल्प उनके पास हो तो वे खेती छोड़ देंगे।"[38] आज़ादी के बाद हरित क्रांति के समय किसानों को कुछ समय के लिए तो लाभ हुआ लेकिन उसके दूरगामी परिणाम कुछ ख़ास नहीं रहे। "नि:संदेह हरित क्रांति से कुछ वर्षों के लिए खाद्यान्नों की पैदावार बहुत बढ़ गई थी। लेकिन इसने हमारी सदियों से आजमाई परंपरागत कृषि प्रणाली पर दूरगामी नकारात्मक प्रभाव भी छोड़ा है। यह हमारे लिए आयातित नई कृषि प्रणाली थी। इसने कृषि रसायनों के अविवेकपूर्ण उपयोग और सिंचाई की अनिवार्यता से हमारी कृषि संस्कृति में आमूल-चूल परिवर्तन किया। संकर बीजों के प्रवेश ने सदियों से किसानों द्वारा विकसित स्थानीय बीजों का स्थान ले लिया।"[39] इसे इस देश का दुर्भाग्य है कि बिचोलियों से संबंधित लोग औद्योगिक क्षेत्रों के उत्पादन की लागत दरें, माँग और पूर्ति को ध्यान में रखते हुए निर्धारित करते हैं।

भारतीय कृषि की सबसे बड़ी चुनौती है कि जब भी किसान का कृषि उत्पाद बाजार में आता है उसकी कीमत लगातार गिरने लगती है। बिचौलिए सस्ती दरों पर किसानों का उत्पाद खरीद लेते हैं। इस वजह से किसानों को उसकी उचित लागत नहीं मिल पाती और कृषि अभी तक घाटे का व्यवसाय बना हुआ है। वहीं किसानों के तत्काल नष्ट होने वाले उत्पादों की बिक्री के समय किसान इतना

असहाय हो जाता है कि उन्हें अपने उत्पाद सड़कों पर फेकने पड़ते हैं। इन फसलों की लागत तक किसानों को नहीं मिल पाती।

जब हम किसान जीवन के मूलभूत प्रश्नों की बात करते तो हम पाते हैं कि वर्तमान समय में स्थिति पहले से ज्यादा भयावह हुई है। पहले भी किसान के पास खेती के लिए जमीन नहीं थी, आज भी यह प्रश्न वैसा ही बना हुआ है। यदि कुछ के पास जमीन है भी तो खेती योग्य साधन और सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं। बीज सर्वसुलभ नहीं है। अगर बाजार में बीज मिल भी जाएँ तो इतने महँगे हैं कि छोटे और गरीब किसान उसे खरीदने में असमर्थ हैं। अगर वह अच्छे उत्पादन के स्वार्थ में इधर-उधर से कर्ज लेकर उसे खरीद भी लें तो प्रकति की मार फसलें बर्बाद कर देती है। इससे वे कर्ज के जाल में ऐसे फँस जाते हैं कि अपनी गिरवी पड़ी लोक लाज और बिकती हुई ज़मीन देखने के बजाय आत्महत्या ज्यादा सुलभ लगती है।"1995 से लेकर 2010 तक, दो लाख पचास हजार से ज्यादा किसानों ने आत्महत्या की है।"[40] यदि पूरे भारत के कर्जदार किसानों का आकड़ा देखे तो "(एनएसएसओ) 2005 मई की रिपोर्ट के अनुसार भारत के 48.6 किसान ऋणग्रस्त हैं।"[41] यह कर्ज ही उनके गले का फंदा बन रहा है।

जब भारत में उदारीकरण का आगमन हुआ तो उसके साथ ही किसानों की आत्महत्या का एक लंबा सिलसिला शुरू हो गया। तकनीक के विकास से रोजगार में वृद्धि तो हुई है; किन्तु आबादी लगातार बढ़ते रहने से हम रोजगार के अवसर सब तक पहुँचाने में आज भी असफल साबित हुए हैं।

जिससे यह सिलसिला रुकने के बजाय दिन-प्रतिदिन और अधिक विकराल होता जा रहा है। खेती एक घाटे का सौदा बन चुकी है। महंगे होते बीज, खाद, कीटनाशक, दवाएँ, डीजल और जुताई की वजह से लागत मूल्य बढ़ गया है लेकिन आमदनी घट गई है। जो किसान आत्महत्या कर रहे हैं वे छोटे और सीमांत किसान हैं।

निष्कर्ष

किसान मानवीय समाज का एक बड़ा वर्ग है। भारत देश की आधी से अधिक आबादी कृषि से जुडी हुई है। इस अध्याय में इसी किसान वर्ग को समझने का प्रयास किया गया है। इसमें वह वर्ग जिसके पास अपनी ज़मीन है तथा जिसकी रोजी-रोटी का आधार कृषि तय करती है, वे सभी किसान हैं। अध्याय में भारतीय किसान जीवन की अवधारणा पर चर्चा की गई है। इसमें किसान और कृषक जीवन और किसान आंदोलनों के सैद्धांतिक पक्ष को जानने का प्रयास किया गया है। क्रान्तिकारी आंदोलनों में कृषकों की भूमिका पर भी संक्षेप में विचार किया गया है। अध्याय में आज के संदर्भ में किसान अध्ययन की प्रासंगिकता को समझने की कोशिश की गई है। इसके साथ ही प्रत्येक काल खंड में किसान की सामाजिक और आर्थिक स्थिति को जानने का प्रयास किया गया है। इसके आधार पर कहा जा सकता है कि हमें बड़े पैमाने पर समाज के सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन को समझने की जरूरत है, जिससे किसानों और कृषि उत्पादन पर असर पड़ा है। भारतीय किसानों की स्थिति में सुधार उनकी आय बढ़ने से ही आ सकता है। अत: इस क्षेत्र में कारगर व प्रभावशाली कदम उठाने की जरुरत है। इसके साथ ही ग्रामीण रोजगार तथा कृषि आधारित उद्योग धंधों की स्थापना की जानी चाहिए। सरकार को बाजार में अनिश्चितता की स्थिति को समाप्त करने तथा एक राष्ट्रीय कृषि बाजार के निर्माण की दिशा में सार्थक प्रयास करने होंगे।

संदर्भ

[1] श्यामसुन्दरदास बी.ए. (संपा.), हिंदी शब्द सागर, द्वितीय भाग, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, 1966, पृ. 656

[2] रामचन्द्र वर्मा (संपा.), मानक हिंदी कोश, हिंदी साहित्य सम्मलेन, प्रयागराज, 1981, पृ. 534

[3] नरेश गौतम, भारत में ग्रामीण समाज, महात्मा गाँधी विश्वविद्यालय, चित्रकूट, 2016, पृ. 5-6

[4] किशन पटनायक, किसान आन्दोलन: दशा और दिशा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ. 66

[5] नीलमणि शर्मा, भारतीय किसान: दशा और दिशा, राजभाषा आयोग, नई दिल्ली, अगस्त 2018, पृ. 24

[6] https://share.google/S1Tu5Bkmh9y7t7ChW

[7] राष्ट्रीय किसान नीति, कृषि एवं किसान कल्याण मंत्रालय,भारत सरकार, नई दिल्ली, 2007, पृ. 3

[8] राष्ट्रीय कृषि गणना, कृषि एवं किसान कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, 2020-21, पृ. 269

[9] वही, पृ. 269

[10] वही, पृ. 269

[11] वही, पृ. 269

[12] राष्ट्रीय किसान नीति, कृषि एवं किसान कल्याण मंत्रालय,भारत सरकार, नई दिल्ली, 2007, पृ.18-9

[13] वही, पृ. 18-9

[14] वही, पृ. 18-9

[15] जय प्रकाश उपाध्याय, आई.जे.आर.एस.टी., प्राचीन भारत में कृषि : एक अध्ययन, नई दिल्ली, सितम्बर-अक्टूबर, 2017, पृ. 1333

[16] वही

[17] वही

[18] वैदिक काल, भारतीय इतिहास के कुछ विषय, कक्षा-12, एन.सी.आर.टी.,नई दिल्ली, 2015, पृ. 64

[19] वही, पृ. 64

[20] वही, पृ. 65

[21] वही, पृ. 61

[22] प्रशांत कुमार, (वैदिक साहित्य में वर्णित कृषि व्यवस्था का विवेचन), शोध मंथन पत्रिका, अप्रैल- जून, 2019, पृ. 453

[23] प्रेमलाल, वैदिक कृषि का स्वरूप, लोहिया शोध मंच, बरेली, 2012

[24] एन.सी.बंधोपाध्याय, इकनामिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन एशियेण्ट इण्डिया, कलकत्ता,1945, पृ. 128-29

[25] रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ. 57

[26] भारतीय इतिहास के कुछ विषय,कक्षा 12, एन.सी.आर.टी., नई दिल्ली, 2020, पृ. 198

[27]जयदेव सिंह, वासु देव सिंह (स. सबद), विश्वविद्यालय प्रकाशन ,वाराणसी 1981 पृ. 11

[28] अपनी माटी ई पत्रिका, अप्रैल-सितम्बर, 2017, अंक 25

[29] रामचन्द्र शुक्ल, सूरदास, संस्थान प्रकाशन, दिल्ली, 2016, पृ.111-2

[30] रामविलास शर्मा, मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ. 344

[31] नन्द दुलारे वाजपयी (संपा.), सूरसागर भाग 1, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, 1952, पद 185

[32] वही ग्रन्थ,पद 196

[33] तुलसी दास, कवितावली, गीता प्रेस, गोरखपुर, 2017, पृ.116

[34] वही ग्रन्थ, पृ. 21

[35] बिपिनचन्द्र, भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष, हिन्दीमाध्यम, कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली, 2010, पृ. 21

[36] अयोध्या सिंह, भारत का मुक्ति संग्राम, शिल्पी ग्रन्थ प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली , 2012, पृ. 7

[37] सहजानन्द सरस्वती, किसान क्या करे?, ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली, 2011, पृ. 28

[38] अपनी माटी, ई पत्रिका, अप्रैल-जून 2022, अंक 41

[39] वही ग्रन्थ, अंक 41

[40] वही ग्रन्थ, अंक 41

[41] बी.रत्ना कुमारी, फॉर्मर सुसाइड इन इंडिया इंपेक्ट ऑन वुमेन, प्रकाशन, सीरियल पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2009, पृ. 2

द्वितीय अध्याय

किसान जीवन के संदर्भ में हिन्दी उपन्यास लेखन परम्परा का परिचय

प्रस्तावना

2.1 बीसवीं सदी तक के प्रमुख हिन्दी उपन्यास: किसान जीवन के संदर्भ में

2.1.1 प्रेमचंदपूर्व प्रमुख हिन्दी उपन्यास: किसान जीवन के संदर्भ में

2.1.2 प्रेमचंदोत्तर प्रमुख हिन्दी उपन्यास : किसान जीवन के संदर्भ में

2.2 इक्कीसवीं सदी के प्रमुख हिन्दी उपन्यास: किसान जीवन के संदर्भ में

2.3 विवेच्य उपन्यास और उपन्यासकार

निष्कर्ष

प्रस्तावना

हमारी परम्पराओं और संवेदनाओं के विभिन्न पक्षों को साहित्य अपने साथ लेकर चलता है। साहित्य सास्कृतिक विरासत, राजनैतिक चेतना, सामाजिक परम्पराएँ और मानव जीवन के उन पक्षों जो जीवन मूल्यों का निर्माण करते हैं और मनुष्य को सतत् प्रेरणा देते रहते हैं, का खजाना होता है। लिखने वाले की सहूलियत के हिसाब से वह अनेक विधाओं के रूप में हमारे सामने प्रकट होता है। उन्हीं विधाओं में उपन्यास विधा जीवन के विविध पक्षों को बड़ी सरलता से पेश करती है। जीवन की छोटी-से-छोटी भाव संवेदना और चेतना को प्रकट करने का अवकाश सबसे ज्यादा उपन्यास विधा में ही देखने को मिलता है। जब बात किसान जीवन की हो तो उपन्यास विधा और भी सार्थक हो उठती है क्योंकि किसानी पर लिखना यानी सभ्यता यात्रा का वर्णन करना और सभ्यताओं की चेतना का प्रकटीकरण विस्तृत ही होता है; इसलिए उपन्यास के माध्यम से किसानी को प्रकट करना अपने आप में कलात्मक कौशल है।

हिन्दी साहित्य में उपन्यास लेखन की परम्परा अंग्रेजी से बांग्ला होते हुए हिन्दी तक पहुँची है। अन्य गद्य विधाओं की तरह उपन्यास भी आधुनिक काल की देन है। यह भारतीय समाज में नवजागरण का दौर था। इस समय उपन्यास में कला और ज्ञान के अछूते क्षेत्रों की खोज की जा रही थी। इस समय अंग्रेजों का शासन् स्थापित हो गया था और मध्यम वर्ग तेजी से विकसित हो रहा था। इसलिए साहित्य में भी मध्यमवर्गीय जीवन की आवश्कताओं से जुड़े विषय आने लगे थे।

हिन्दी का पहला उपन्यास श्रीनिवास दास कृत 'परीक्षागुरु' था। इसके पश्चात देवकीनंदन खत्री का प्रसिद्ध उपन्यास 'चन्द्रकान्ता' प्रकाशित हुआ। इसी समय गोपाल गहमरी ने बांग्ला की छाया लेकर कई उपन्यास लिखे। सन् 1898 में किशोरीलाल गोस्वामी ने अपनी 'उपन्यास' नामक पत्रिका में उपन्यासों को छापने का कार्य किया।

इस समय के हिन्दी साहित्य में उपन्यास का आगमन एकदम नया था। यही कारण है कि इस समय के उपन्यासों में सामाजिक समस्याओं का चित्रण न के बराबर मिलता है।

इस अवधि का उपन्यास देश के उस विशाल जनसमुदाय से कटा हुआ है जो ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन् के शोषण चक्र में पिस रहा था। यह समुदाय किसान एवं मजदूर वर्ग था। अनेक वर्ष बीत जाने के बाद भी अभी तक उपन्यास का विषय मनोरंजन ही रहा।

ग्रामीण एवं किसान जीवन पर उपन्यास लेखन की परम्परा वैसे तो बहुत लम्बी है; परन्तु हिन्दी उपन्यास के आरम्भिक दौर में ऐसे उपन्यासों की संख्या न के बराबर थी। हालाँकि उड़िया भाषा में इनके पहले फ़कीर मोहन सेनापति ने 'छ बीघा ज़मीन' में किसान जीवन की समस्याओं को आधार बनाया था। इसके उपरान्त हिन्दी साहित्य में प्रेमचंद के आगमन के साथ ही किसान व मजदूर वर्ग के साथ उपन्यास का केंद्र मनुष्य की सामजिक समस्या बन गई थी। किसान वर्ग की सामाजिक समस्या को आधार बनाकर प्रेमचंद हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम उपन्यास को यथार्थ के धरातल पर लेकर आए। प्रेमचंद किसान जीवन को आधार बनाकर न केवल उपन्यास लिखे अपितु तत्कालीन समय के अनुरूप इस विषय को व्यापक एवं गंभीर बनाया। किसी भी वर्ग एवं जाति की सांस्कृतिक जड़ें उसकी भाषा में निहित होती है। प्रेमचंद ने किसानी संस्कति को दिखाने के लिए किसानी भाषा का सबसे पहले प्रयोग किया।

प्रेमचंद के बाद के उपन्यासकारों ने किसान जीवन की संवेदनाओं को प्रमुखता से स्थान दिया। इस दौर में ग्रामीण जीवन को लेकर अनेक आंचलिक उपन्यास लिखे गए। इन उपन्यासों में स्वतंत्रता के बाद की बदली हुई पृष्ठभूमि तथा ग्रामीण जीवन के स्तर एवं नई व्यवस्थाओं में किसान स्वर का चित्रित हुआ। इन उपन्यासों में ग्रामीण जीवन और ग्राम के अभिन्न अंग किसानों के आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन को प्रमुखता से प्रकट किया गया है। इस दौर के उपन्यासकारों में नागार्जुन और फणीश्वरनाथ रेणु प्रमुख थे। इनके पश्चात भी हिन्दी साहित्य में किसान एवं ग्रामीण जीवन को केंद्र में रखकर उपन्यास लिखने की एक विस्तृत परम्परा दिखाई पड़ती है। इस परम्परा में जहाँ एक ओर जगदीश चन्द्र किसान जीवन की आर्थिक समस्याओं के साथ उनके सामाजिक संघर्ष को चित्रित कर रहे थे तो वही दूसरी ओर भैरव प्रसाद गुप्त, राही मासूम रजा,

विवेकी राय, शिव प्रसाद सिंह जैसे उपन्यासकार ग्रामीण यथार्थ को उद्घाटित करने का प्रयास कर रहे थे।

बीसवीं सदी और इक्कीसवीं सदी के मध्य का काल आर्थिक उदारीकरण का रहा है। इस दौर के उपन्यासों में औद्योगिकीकरण और पूँजीवादी चेतना के परिणाम इन उपन्यासों में देखे जा सकते हैं। भूमि अधिग्रहण, कर्ज, आत्महत्या का आरंभिक दौर तथा किसान समाज के कमजोर होते चले जाने की कहानियाँ कमलकांत त्रिपाठी, वीरेन्द्र जैन, सूर्यदीन यादव और नीलकांत जैसे उपन्यासकारों ने किसान जीवन को केंद्र में रखकर अपनी लेखनी चलाई।

2.1 बीसवीं सदी तक के प्रमुख हिन्दी उपन्यास : किसान जीवन के संदर्भ में

उपन्यास का उद्भव हिन्दी साहित्य में भारतेंदु युग की देन है। आधुनिक काल के प्रारम्भ से चली यह उपन्यास परम्परा हमारी विरासत और परम्पराओं को समेटते हुए अभी तक निर्बाध रूप से चली आ रही है। इस परम्परा में किसान जीवन के विभिन्न पहलुओं का सच्चा दर्शन प्रेमचंद के साहित्य पटल पर होते हैं। अतः उन्ही को आधार बनाकर बीसवीं सदी के प्रमुख हिन्दी किसान उपन्यासों को तीन भागों में विभाजित किया गया है। जो इस प्रकार है-

1. प्रेमचंदपूर्व प्रमुख हिन्दी उपन्यास: किसान जीवन के संदर्भ में
2. प्रेमचंदयुगीन प्रमुख हिन्दी उपन्यास: किसान जीवन के संदर्भ में
3. प्रेमचंदोत्तर प्रमुख हिन्दी उपन्यास: किसान जीवन के संदर्भ में

प्रेमचंदपूर्व युग आधुनिक काल के प्रारंभ अर्थात् भारतेंदु युग से लेकर सन् 1918 तक माना गया है। सन् 1918 से 1936 तक प्रेमचंदयुग और इसके बाद के समय को प्रेमचंदोत्तर युग माना गया है।

2.1.1 प्रेमचंदपूर्व प्रमुख हिन्दी उपन्यास : किसान जीवन के संदर्भ में

प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी खड़ी बोली परम्परा में उपन्यास लेखन विधा की कोई निर्धारित और सैद्धांतिक प्रणाली नहीं थी और किसान जीवन मात्र को आधार बनाकर लिखना तो और भी मुश्किल था। ऐसे में हमें उस दौर में अन्यान्य विषय पर लिखे गए उपन्यासों में किसान जीवन का वर्णन दिखाई पड़ता है। उन उपन्यासकारों में ग्रामीण समाज का वर्णन करने के बहाने कहीं-कहीं किसानों की समस्याओं और लोक जीवन को दिखाया है।

अंगूठी का नगीना

यह उपन्यास किशोरीलाल गोस्वामी के द्वारा लिखा गया है। इस उपन्यास में जमींदारों की जीवन शैली का वास्तविक रूप देखने को मिल जाता है। इसके साथ ही जमींदार किस तरह से किसान से लगान वसूल करते थे इसका भी उल्लेख इस उपन्यास में मिलता है। गोपाल राय इसी का वर्णन करते हुए लिखते है कि "फसल हो या न हो। रैयत के घर में चाहे अनाज का एक दाना भी न हो, पर उसे मालगुजारी देनी ही पड़ती थी। जो आसामी प्यादों के बुलावे पर जमींदार की कचहरी में हाजिर नहीं होता था, उसे घसीटकर लाया जाता था, उस पर तरह-तरह के अत्याचार किए जाते थे और उसके घर के बैल बछिए, चौखट किवाड़ तक जब्त कर लिए जाते थे।"[1] इसका आशय यह है कि इस समय में किसानों का जीवन नारकीय था।

अन्य उपन्यास

इस दौर में सीधा-सीधा किसान जीवन को आधार बनाकर उपन्यास लेखन बहुत कम हुआ है; लेकिन कुछ उपन्यासों में किसान जीवन का संक्षिप्त वर्णन जरूर मिल जाता है। इसमें लज्जाराम मेहता का 'हिन्दू गृहस्थ', बालकृष्ण गुप्त का 'गुप्त बेरी' और भुवनेश्वर प्रसाद मिश्र के 'बलवंत भूमिहार' में किसान जीवन की कुछ झलक मिलती है। इनिष्कर्षतः

प्रेमचंदपूर्व के हिन्दी उपन्यासों में किसान जीवन का सम्पूर्ण दर्शन नहीं हो पाता है बस कहीं कहीं कुछ झलकियाँ ही मिलती हैं।

2.1.1 प्रेमचंदयुगीन प्रमुख हिन्दी उपन्यास: किसान जीवन के संदर्भ में

खड़ी बोली हिन्दी उपन्यास परम्परा में प्रेमचन्द का योगदान अतुलनीय रहा है। ऐसा नहीं है कि प्रेमचन्द से पूर्व खड़ी बोली में उपन्यास लिखे नहीं गए थे; लेकिन उन उपन्यासों में यथार्थवादी चेतना का अभाव था और वे मानव जीवन की वास्तविक समस्याओं से कोसों दूर थे। समाज के पददलित वर्ग की संवेदना और करुणा का कलात्मक वर्णन पहले पहल प्रेमचन्द के उपन्यासों में ही देखने को मिलता है। उन्होंने विधवा जीवन जैसे विषय से लेकर सम्पूर्ण किसान समाज को केंद्र में लिखकर अपने उपन्यासों की रचना की। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में- "प्रेमचंद शताब्दियों से पददलित, अपमानित और निष्पेषित कृषकों की आवाज थे, पर्दे में कैद, पद-पद पर लांछित और असहाय नारी जाति की महिमा के जबरदस्त वकील थे; गरीबों और बेकसों के महत्त्व के प्रचारक थे। अगर आप उत्तर भारत की समस्त जनता के आचार-विचार, भाषा-भाव, रहन-सहन, आशा-आकांक्षा, दुःख-सुख और सूझ-बूझ जानना चाहते हैं तो प्रेमचंद से उत्तम परिचायक आपको नहीं मिल सकता। झोपड़ियों से लेकर महलों, खोमचों वालों से लेकर बैंकों, गाँव से लेकर धारा-सभाओं तक आपको इतने कौशलपूर्वक और प्रमाणिक भाव से कोई नहीं ले जा सकता।"[2] किसान जीवन को आधार बनाकर लिखे गए प्रमुख प्रेमचंदयुगीन उपन्यास निम्नलिखित हैं-

प्रेमाश्रम

सन् 1922 में प्रकाशित यह उपन्यास किसानों की समस्या पर लिखा प्रथम उपन्यास है। यह हिन्दी का प्रथम राजनीतिक उपन्यास है। यह उपन्यास उत्तरप्रदेश के लखनपुर गाँव को केंद्र में रखकर लिखा गया है। यह उपन्यास सामन्ती व्यवस्था के प्रति किसानों के असंतोष एवं अन्तर्विरोधों को दिखाता है। इस उपन्यास में परंपरागत रूप से

चली आ रही बेगार एवं समय के साथ जमींदारों के व्यवहार परिवर्तन को प्रस्तुत किया गया है। इस उपन्यास में प्रेमचंद ने तीन पीढ़ी के जमींदारों का चित्रण किया है। जो तात्कालिक समय की जमींदारी व्यवस्था के यथार्थ को प्रदर्शित करते हैं। इस उपन्यास में जहाँ एक ओर जमींदार एवं उसका अमला जिसमें पुलिस, पटवारी एवं पूरा भ्रष्ट सरकारी तंत्र है तो दूसरी ओर किसान, जो अपने सामर्थ्य के अनुसार संगठित होकर इनका सामना करते हैं। प्रेमाश्रम के किसान जमींदारों के शोषण, बेगारी के विरुद्ध डटकर एवं तनकर खड़े हैं। प्रेमचंद जिस प्रकार से समय के साथ बदलते हुए जमींदार वर्ग का चित्रण करते हैं उसी प्रकार समय की गति के साथ बदलते हुए किसान का भी। वह किसान जिसकी चेतना पर परम्पराओं का बोझ पड़ा है।

इस उपन्यास में गाँधी दर्शन का प्रभाव भी दिखाई देता है। जहाँ प्रेम के द्वारा हृदय परिवर्तन कर 'राम राज्य' स्थापना की गई है। वहीं दूसरी ओर उपन्यास का एक पात्र बलराज रूस और बलगेरिया के किसान और मजदूर राज्य का भी जिक्र करता है। इसके पीछे की वजह उस समय का अंग्रेजी शासन् था। किसान पूरी तरह से सत्ता के अधीन दबा हुआ था ऐसे में खुलकर विरोध कर पाना भी संभव नहीं था। इस संबंध में सुरेन्द्र चौधरी ने कहा है कि "प्रेमाश्रम में किसान संघर्ष उभरने के बजाय यहाँ थोड़ा दब गया है। इस उतार चढ़ाव की अपनी विशेष परिस्थितियाँ हैं।"[3] इस उपन्यास में प्रेमचंद ने किसानों का विरोध तो दिखाया; परन्तु वह अपने मुखर रूप में नहीं है।

देहाती दुनिया

यह उपन्यास सन् 1926 में शिवपूजन सहाय के द्वारा लिखा गया। यह उपन्यास आंचलिक उपन्यास माना गया है लेकिन इसमें किसानों की दयनीय स्थिति, बेग़ार प्रथा, जमींदार द्वारा शोषण पटवारी का भ्रष्ट आचरण और प्रकति की मार जैसे किसान सम्बन्धित विषयों को भी उजागर किया गया है। इस उपन्यास में किसानों की समस्याएँ कम होने का नाम ही नहीं लेती; वरन बढ़ती ही जाती है। जहाँ किसान से दिन भर काम

करवाने के बाद भी उनको उनकी मेहनत का पूरा हिस्सा नहीं दिया जाता। पटवारी की कलम किसानों के खून से चलती है और इसमें उसका साथ दरोगा जी देते हैं।

रंगभूमि

यह उपन्यास मुंशी प्रेमचंद के द्वारा भूमि अधिग्रहण की समस्या को लेकर सन् 1924 में लिखा गया है। इस उपन्यास का कथा क्षेत्र बनारस से लेकर राजस्थान तक फैला हुआ है। इस उपन्यास की मूल कथा का सूरदास और जानसेवक से संबंध है। उपन्यास का अंधा नायक भिखारी सूरदास महात्मा गांधी का प्रतीक पात्र है और उसका मानना यह कि 'धरती माँ होती है और माँ बेची नहीं जाती'। सूरदास अपनी इस ज़मीन के माध्यम से भारतीय किसानों के नैतिक संस्कारों के प्रतिरक्षण की लड़ाई लड़ता है। जानसेवक एक उद्योगपति है जो सूरदास की ज़मीन पर सिगरेट का उद्योग लगाना चाहता है। वह किसी तरह ज़मीन हथिया भी लेता है। यह उपन्यास पूँजीवाद और भारतीय परम्परा के द्वन्द का अंकन करता है। इसमें एक ओर जहाँ पूँजीवाद है तो दूसरी ओर साम्राज्यवाद एवं स्वामित्व व परम्परा की प्रतिरक्षा का महत्व है।

पूँजीवाद का एक रूप जहाँ विदेशी था तो उसके समानांतर एक स्वदेशी रूप भी था। इस रूप के प्रमुख पात्र जमींदार और सामंत थे। रंगभूमि के लेखन का समय भी वही है जब जमींदारों, सामंतों और किसानों के बीच तनाव चरम पर था। इस उपन्यास में तात्कालिक समय की राजनीतिक स्थिति एवं भारतीय समाज के अनेक वर्गों का विस्तारपूर्वक अंकन किया गया है। इन परिस्थिति पर नामवर सिंह लिखते हैं कि "सूरदास प्रेमचंद का सबसे झुझारू नायक है। यह हीरो तब सामने आया, जब राष्ट्रीय आन्दोलन उतार पर था, पस्ती पर था, मंदी पर था।"[4] साहित्य को प्रेमचंद ने उस मशाल के रूप में प्रकट किया जो राजनीति पीछे नहीं, आगे चलती है।

कर्मभूमि

मुंशी प्रेमचंद के द्वारा इस उपन्यास की रचना सन् 1932 में की गई। अन्य उपन्यासों की तरह इस उपन्यास में भी प्रेमचंद ने तात्कालिक समाज की समस्याओं का चित्रण किया है। इस उपन्यास में किसानों एवं मजदूरों के आन्दोलन को दिखाया गया है। इस उपन्यास का प्रमुख पात्र अमरकांत जमींदारों के द्वारा किसानों पर हो रहे शोषण के विरुद्ध आन्दोलन करता है, जेल भी जाताहै। इस प्रकार के विरोध का समाधान एक कमेटी के गठन से होता है और लगान वसूली बंद कर दी जाती है।

इस उपन्यास में किसानों की पीड़ा को उजागर किया गया है। जहाँ सरकारी पद पर बैठे किसी भी व्यक्ति को किसान के प्रति कोई हमदर्दी नहीं है। फ़सल कम हो या ना हो किसान को पूरा लगान चुकाना पड़ता है। इसके लिए चाहे उसे कर्ज लेना पड़े या भूखा सोना पड़े किसी को कोई फर्क नहीं पड़ता। इस उपन्यास में प्रेमचंद ने विरोध या आन्दोलन को जन आन्दोलन का रूप दिया। रामविलास शर्मा के अनुसार "प्रेमचंद ने 'कर्मभूमि' में पहली बार मजदूरों और विद्यार्थियों को एक साथ अंग्रेजों का मुकाबला करते दिखाया है। जैसा कि सभी लोग जानते हैं, इसके बाद भी नौजवानों ने अनेक बार मजदूरों और किसानों के साथ मिलकर अंग्रेजों का मुकाबला किया था। प्रेमचंद ने राष्ट्रीय आन्दोलन की एक महत्वपूर्ण कड़ी को पकड़ा था और उसका यहाँ चित्रमय वर्णन किया है।"[5] प्रेमचंद की रचनाओं में तात्कालिक स्थिति का सटीक वर्णन मिलता है।

गोदान

गोदान सन् 1936 में प्रकाशित प्रेमचंद का किसान समस्या को केंद्र में रखकर लिखा गया महाकाव्यात्मक उपन्यास है। यह उपन्यास अवध के एक गाँव बेलारी को केंद्र में रखकर लिखा गया है। इस गाँव में एक किसान परिवार है- होरी का परिवार। परिवार के पास थोड़ी सी ज़मीन है जिससे होरी परिवार का भरण-पोषण करता है। उसके मन में एक छोटी सी इच्छा है। यह इच्छा है एक गाय पालने की। वह किसी तरह इस इच्छा की पूर्ति कर भी लेता है; परन्तु इसके साथ ही उसके जीवन में नई-नई समस्याओं का भूचाल आता

है। रामदरश मिश्र ने किसान जीवन की इसी समस्या पर गोदान को आधार बनाते हुए लिखा कि "होरी अपने जीवन के अंतिम दिनों में किसानी छोड़कर मजदूर बन जाता है। अब पंडित दातादीन और होरी के संबंध सामंती नहीं रहे, वे मालिक और मजदूर बन जाते है। होरी का बेटा गाँव छोड़कर शहर जाता है कमाने के लिए, वह वहाँ मजदूर बनता है। विस्थापित किसान मजदूर के रूप में स्थापित हो रहा है।"[6] एक यह छोटी-सी इच्छा उसकी ज़मीन हड़प लेती है, किसान से मजदूर बना देती है।

गोदान की रचना का समय वह समय था जब जमींदारों को ये लगने लगा था कि अब पहले की तरह किसानों का शोषण नहीं किया जा सकता। अतः उन्होंने किसानों को भावात्मक रूप से लुटने का कार्य किया। इसका परिणाम यह हुआ कि होरी जैसे किसान रायसाहब को दयालु और मजबूर समझ बैठते हैं। इसी का वर्णन करते हुए रामविलास शर्मा लिखते हैं कि "गोदान में किसानों के शोषण का दूसरा ही रूप है। यहाँ सीधे सीधे कारिंदे होरी का घर लुटने नहीं पहुँचते। लेकिन उसका घर जरूर लुट जाता है। यहाँ अंग्रेजी राज के कचहरी कानून सीधे-सीधे उसकी ज़मीन छिनने नहीं पहुँचते। लेकिन ज़मीन जरूर छिन जाती है। होरी के विरोधी बड़े सतर्क हैं। वे ऐसा काम करने में झिझकते हैं जिससे होरी दस-पाँच को इक्कठा करके उनका मुकाबला करने पहुँच जाए। वह उनके चंगुल में फँसकर तिल-तिल कर मरता है; लेकिन समझ नहीं पाता कि ये सब क्यों हो रहा है।"[7] यही कारण था कि होरी के रायसाहब के साथ अच्छे सम्बन्ध तो है; परन्तु इस सम्बन्ध की परिणति सिर्फ रायसाहब के स्वार्थ में होती है।

अलका

अवध के किसानों की दयनीय दशा को आधार बनाकर सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' ने इस उपन्यास की रचना सन् 1933 में की। इस उपन्यास में किसानों पर जमींदारों का शोषण और इसकी प्रतिक्रिया में किसानों के विरोध का वर्णन किया गया है। इस उपन्यास

के किसानों को किसी बड़े नेता का साथ नहीं मिलने पर भी वे अपने संघर्ष को जारी रखते हैं, जो उनके अपने अधिकारों के प्रति सजगता का संकेत है।

तितली

प्रेमचंदयुगीन प्रसिद्ध लेखक जयशंकर प्रसाद ने बहुत अधिक उपन्यास लेखन तो नहीं किया; इनके सिर्फ तीन उपन्यास प्राप्त होते हैं। जिसमें सन् 1934 में लिखे तितली उपन्यास में वे किसान जीवन को लेकर सजग दिखाई देते है। इस उपन्यास में जमींदारों द्वारा किसानों पर तात्कालिक समय में किए जा रहे शोषण का चित्रण है।

अन्य उपन्यास

प्रेमाश्रम के दौर में प्रमुख रूप से दो उपन्यास ऐसे मिलते है जिनमें किसान समस्याओं को आधार बनाया गया है। इनमें पहला उपन्यास 'वनदेवी' बालदत्त पांडे द्वारा 1921 में लिखा गया तथा दूसरा उपन्यास 1922 में जंग बहादुर सिंह द्वारा लिखा हुआ 'पतितोद्धार' था।

2.1.2 प्रेमचंदोत्तर प्रमुख हिन्दी उपन्यास : किसान जीवन के संदर्भ में

प्रेमचंद के गुजर जाने के कुछ वर्षों बाद ही भारत स्वाधीन हो गया। स्वाधीनता मिलने से किसान वर्ग को भी अपनी उन्नति की राह नज़र आने लगी। इसका प्रयास भी प्रथम पंचवर्षीय योजना में दिखाई दिया। इसके पश्चात हरित क्रांति का दौर भी आया; परन्तु जो नहीं आया वो था किसान के जीवन स्तर में बहुत अधिक परिवर्तन। इस दौर के उपन्यासकारों ने किसान जीवन का वर्णन गाँव और अंचल विशेष के सदस्य के रूप में किया। प्रेमचंद के बाद किसान जीवन पर उपन्यास लेखन करने वाले आरम्भिक उपन्यासकारों में नागार्जुन और फणीश्वर नाथ रेणु का नाम सामने आता है। इसके बाद भैरव प्रसाद गुप्त और शिव प्रसाद सिंह ने ग्रामीण और किसान जीवन को उपन्यास का आधार बनाया। इन उपन्यासकारों ने किसान जीवन के प्रति अपनी संवेदना प्रकट करना जारी रखा।

सन् 1970 के बाद किसान जीवन पर उपन्यास लेखन की परम्परा और अधिक समृद्ध हुई। इस दौर में रामदरश मिश्र, जगदीश चन्द्र और विवेकी राय आदि ने किसान जीवन के यथार्थ को उपन्यास का विषय बनाया। प्रेमचंद के बाद किसान जीवन पर लिखे गए प्रमुख हिन्दी उपन्यास निम्नलिखित हैं-

रतिनाथ की चाची

स्वतंत्रता के बाद किसान एवं ग्रामीण जीवन को आधार बनाकर लिखे गए उपन्यासों में सबसे पहला नाम 'रतिनाथ की चाची' का आता है। नागार्जुन का यह उपन्यास ग्रामीण जीवन को आधार बनाकर सन् 1948 लिखा गया। इसमें किसान पर ज़मीदारों के शोषण, कृषिभूमि के लिए बेग़ार और कर्ज से किसान के मजदूर बनने तक की स्थिति का वर्णन है। इसके बाद किसान संगठित होते हैं और किसानों का विरोध प्रदर्शन भी दिखाई पड़ता है।

बलचनमा

'बलचनमा' उपन्यास मिथिला के ग्रामीण जीवन को लेकर नागार्जुन के द्वारा सन् 1952 में लिखा गया है। इस उपन्यास में एक ऐसे परिवार का वर्णन है जिसके सभी सदस्य मजदूर हैं। परिवार का मुखिया बलचनमा है। इस उपन्यास की कहानी है- वलचनमा के चरवाहे से बहिया, कोंग्रेसी, स्वयंसेवक, नौकर एवं नौकर से खेत मजदूर, खेत मजदूर से किसान और फिर किसान से मजदूर बनने की। गोपाल राय ने बलचनमा के बारे लिखा कि "बलचनमा एक ऐसे परिवार का सदस्य है, जिसमें सब के सब मजदूर ही हैं। उसकी माँ और बहन, और वह बचपन से खुद, जमींदार के यहाँ खवासी है।"[8] इस उपन्यास में भी जमींदारों का किसानों पर शोषण तात्कालिक समय कि आम सी बात दिखाई पड़ती है; लेकिन इस उपन्यास की मुख्य विशेषता यह रही कि नागार्जुन ने जमींदारों से किसान संघर्ष की नई कहानी लिखी। यह वह समय था जब जमींदारों के विरुद्ध किसान संगठित

होने लगे थे और किसान आन्दोलन ज़ोर पकड़ने लगा था। उपन्यास का पात्र बलचनमा भी इस तरह के आन्दोलन में भाग लेता है और किसानों को एकजुट करने का कार्य करता है। अंत में जमींदार के गुंडो की लाठी के वार से नीचे गिर जाता है।

बाबा बटेसरनाथ

बलचनमा के बाद नागार्जुन ने सन् 1954 में 'बाबा बटेसरनाथ' लिखा। इस उपन्यास में नागार्जुन ने औपनिवेशिक काल में किसानों की बदतर स्थिति का वर्णन किया है। जहाँ पर किसान जमींदारों के शोषण के साथ साथ सरकारी कर्मचारियों द्वारा भी शोषित होता है। इसके साथ ही वह निर्धनता, अकाल और भुखमरी के साथ एक अभावग्रस्त जीवन जीने के लिए बाध्य है।

मैला आँचल

हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों की परम्परा को समृद्ध करने वाले फणीश्वरनाथ रेणु से मैला आँचल और परती परिकथा में प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं; अपितु किसान गाँव के या अंचल के मुख्य सदस्य के रूप में दिखाई देता है। उन्होंने अपने लेखन में ग्रामीण जीवन के सजीव चित्रण को प्रमुखता दी। सन् 1954 में लिखे इनके उपन्यास 'मैला आँचल' का केंद्र भी एक ऐसा ही गाँव मेरीगंज है। जहाँ जाति के आधार पर भिन्न-भिन्न दल बने हुए हैं। इस गाँव में प्रमुख रूप से तीन दल हैं- कायस्थ, राजपूत और यादव। इनके अतिरिक्त अन्य सभी अपनी सुविधा के अनुरूप इन्ही दलों में बटे हुए हैं। ग्रामीण समाज में जाति का महत्व उच्च स्तर पर होता है। यहाँ अक्सर लोगों को उनका नाम पूछने के बाद जाति पूछने का चलन है। इस गाँव में जमींदारी प्रथा का चलन था और जमींदारों के द्वारा किसानों के शोषण का प्रचलन भी। कहने को तो आजादी के पश्चात जमींदारी प्रथा का वैधानिक रूप से उन्मूलन हो गया था; परन्तु अब जमींदार वर्ग ने बड़े किसान का रूप धारण कर शोषण को जारी रखा। दोनों के बीच आर्थिक असमानता अपने चरम पर थी। इसी आर्थिक असमानता ने समाज में वर्ग-भेद को जन्म दिया। प्रत्येक व्यक्ति किसी ना किसी रूप से एक वर्ग का हिस्सा

बन गया। इस प्रकार जातिगत और वर्गगत विद्वेष ने निम्न वर्ग को उच्च वर्ग के विरूद्ध संघर्ष के लिए बाध्य किया। इन्ही विषमताओं के परिणामस्वरूप किसान और मजदूर वर्ग जमींदारों के शोषण के विरुद्ध संगठित होकर खड़ा हो जाता है।

परती परिकथा

रेणु का दूसरा उपन्यास 'परती परिकथा' सन् 1957 में अंचल विशेष को केंद्र में रख कर लिखा गया है। जहाँ पर एक तरफ गाँव वालों की पिछड़ी मानसिकता है तो दूसरी तरफ जितेन्द्र के प्रयास। उपन्यास का मुख्य पात्र जितेन्द्र कोसी नदी घाटी परियोजना के माध्यम से गाँव के किसानों के दरिद्रता दूर करने का प्रयास करता दिखाई देता है। इसके साथ ही वह इस परियोजना के माध्मय से गाँव की हजारों एकड़ की परती भूमि को खेती योग्य बनाने का सपना देखता है।

गंगा मैया

ग्रामीण जीवन को आधार बनाकर चली परम्परा में भैरव प्रसाद गुप्त का भी अहम योगदान है। भैरवप्रसाद गुप्त ने सन् 1952 में 'गंगा मैया' उपन्यास लिखा। इस उपन्यास में ग्रामीण समाज के अभावपूर्ण जीवन एवं सामाजिक मतभेदों को उजागर करने का प्रयास किया है। इस उपन्यास में हम देखते हैं कि किस तरह से एक गाँव के ही लोग अपने ही गाँव के दुश्मन बने बैठे हैं। जहाँ एक ओर इस उपन्यास में जमींदार और उसका संगी प्रशासन् है तो वही दूसरी ओर मटरू सिंह जो जमींदारों के शोषण का विरोध करता है।

सती मैया का चौरा

भैरव प्रसाद गुप्त अपने सन् 1959 में लिखे दूसरे उपन्यास 'सती मैया का चौरा' में भी किसानों के संघर्ष को दिखाया है। इस उपन्यास की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें न केवल किसान व मजदूर हड़ताल करते हैं; अपितु अपनी माँगो को मनवाने में भी सफल होते हैं। इस उपन्यास में किसान व मजदूर अपने अधिकारों को लेकर सजग दिखाई पड़ते हैं।

पानी के प्राचीर

रामदरश मिश्र के द्वारा सन् 1961 में लिखित यह उपन्यास पान्डेपुरवा गाँव की स्वाधीनतापूर्व की कहानी कहता है। राप्ती और गोर्रा नामक नदियों से घिरा पूर्वी उतर प्रदेश के यह गाँव सम्पूर्ण गाँवों के अभावग्रस्त जीवन एवं नग्न यथार्थ को हमारे सन्मुख लाता है। जहाँ एक ओर अभाव, निर्धनता और प्राकृतिक आपदाओं से संघर्ष है, वहीं दूसरी ओर जमींदार, महाजन और सरकारी तंत्र का अत्याचार है। जमींदार, महाजन और सरकारी तंत्र की ये त्रयी किसान, मजदूर और निम्नवर्ग के जीवन को नारकीय बना देती है। यह त्रयी किसानों के आर्थिक पिछड़ेपन से निकलने के हर प्रयास को विफल कर देती है। जमींदार गजेन्द्र सिंह किसानों से बलपूर्वक लगान वसूल करता है। इस लगान को चुका पाने में कुछ किसानों के विफल होने पर उन्हें हवेली लाया जाता है। जहाँ पर मुंशी और सिपाही उन्हें मुर्गा बनाकर पिटाई करते हैं। कुछ इसी प्रकार का अत्याचार वह मजदूरों के साथ भी करता है। वह मजदरों से बहुत कठिन श्रम करवाता है और थोड़ी सी भी काम में ढील होने पर मजदूरी काट लेता है। पट्टेदारी को लेकर पान्डेपुरवा गाँव दो टोलों, उत्तर और दक्खिन में बँट जाता है। यह लड़ाई जो खेत काटने को लेकर प्रारंभ हुई थी कुछ ही समय में एक-दूसरे के खून की प्यासी हो जाती है। इस उपन्यास में निम्नवर्ग में पैदा हुई जाग्रति की भावना और वर्ग चेतना को भी दिखाया गया है। इस समय में निम्न वर्ग उच्च वर्ग के विरुद्ध आवाज उठाने की हिम्मत जुटाता है। नीरू नौकरी के छूट जाने के डर से प्रत्यक्ष रूप से तो विरोध नहीं कर पाता; परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से निम्न वर्ग की सहायता का प्रयास जरूर करता है।

जल टूटता हुआ

'पानी के प्राचीर' का अगले भाग के रूप में रामदरश मिश्र ने सन् 1969 में 'जल टूटता हुआ' उपन्यास लिखा। इसमें किसानों की आजादी के बाद स्थिति बदलने की आशा

को टूटते हुए दिखाया गया है। उपन्यास में सुगन मास्टर का कथन है कि "इतने साल हो गए आजादी मिले हुए। यह अभागी ज़िन्दगी टस से मस नहीं हुई।"[9] क्योंकि जो आज़ादी से पहले जमींदार थे अब वो मंत्री या नेता के रूप में पुनः किसानों और मजदूरों का शोषण कर रहे हैं।

आधा गाँव

राही मासूम रजा ने विभाजन के बाद की बदली हुई ग्रामीण स्थिति का वर्णन सन् 1966 में लिखे अपने उपन्यास 'आधा गाँव' में किया है। जहाँ एक मुस्लिम जमींदार के शोषण को दिखाया गया है। इसके साथ ही यह भी दिखाने का प्रयास किया गया है कि किसान चाहे हिन्दू हो या मुसलमान दोनों ही समान रूप से प्रताड़ित किए जा रहे थे। शोषण का जात पात से कोई लेना देना नहीं था।

अलग-अलग वैतरणी

शिवप्रसाद सिंह सन् 1967 में लिखे अपने उपन्यास 'अलग अलग वैतरणी' में भारतीय गाँव के बदतर हालात का चित्रण करते हैं। इस उपन्यास के आधार पर यह कहना गलत नहीं होगा कि गाँव आज भी उसी स्थिति में है जैसे आजादी से पहले। गोपाल राय के अनुसार "जिसे निर्मित किया है भूतपूर्व जमींदार ने, धर्म तथा समाज के पुराने ठेकेदारों ने और इस वैतरणी में जूझ और छटपटा रही है गाँव की प्रगतिशील नई पीढ़ी।"[10] आजादी के बाद भी किसान उसी गरीबी में जीवन जीने को मजबूर थे और इसका कारण है जमींदार।

गली आगे मुड़ती है

शिवप्रसाद सिंह के सन् 1974 में लिखे दूसरे उपन्यास 'गली आगे मुडती है' में एक किसान पुत्र के अपनी ज़मीन से अलगाव को दिखाया गया है। इसके पीछे का कारण यह है

कि नई पीढ़ी को खेती में भविष्य नजर नहीं आता, क्योंकि खेती एक घाटे का सौदा बनती जा रही है; लेकिन ऐसा होने से कृषि का भविष्य भी चिंता का विषय है।

मुट्ठी भर कांकर

स्वाधीनता के पश्चात अपनी रचना का प्रमुख आधार गाँव और किसान को बनाने वाले प्रमुख उपन्यासकारों में जगदीश चन्द्र जाना-पहचाना नाम है। इन्होंने सन् 1976 में लिखे अपने उपन्यास ग्रामीण संस्कृति एवं लोक जीवन को केंद्र में रखकर लिखे हैं। इनका उपन्यास 'मुट्ठी भर कांकर' किसान विस्थापन पर आधारित है। देश के विभाजन के बाद पंजाब से आए शरणार्थियों के लिए दिल्ली के नजदीक के किसानों को विस्थापित होना पड़ा था। उन किसानों को पैसे तो मिले; लेकिन वे भूमिहीन हो गए।

घास गोदाम

'मुट्ठी भर कांकर' उपन्यास का विस्तार जगदीश चन्द्र के सन् 1985 में लिखे उपन्यास 'घास गोदाम' में दिखाई पड़ता है। जहाँ दिल्ली के निरंतर होते विस्तार की वजह से आस पास के किसानों के पास एक बार के लिए तो बहुत पैसे आ गए; लेकिन ज़मीन छिन गई। इन पैसों का न उचित प्रयोग उसको पता है न ही वह इतना शिक्षित है अन्य कुछ कार्य कर सके। इसका परिणाम यह हो रहा है कि जैसे ही पैसे खत्म होते हैं उसके लिए जीवनयापन कठिन हो जाता है।

लोक ऋण

बीसवीं सदी के अंतिम दशकों में आँचलिकता एवं ग्रामीण संस्कृति को अपने उपन्यासों का विषय बनाने वाले रचनाकारों में विवेकी रॉय अग्रणी हैं। इनका सम्पूर्ण कथा साहित्य ग्रामीण जीवन को समर्पित है। मुख्य रूप से इनके तीन उपन्यास किसान जीवन का चित्रण करते हैं। जिसमें सन् 1977 में लिखा पहला उपन्यास है 'लोकऋण'। यह उपन्यास आज़ादी के बाद के एक आधुनिक गाँव को केंद्र में रखकर लिखा गया है। आधुनिक

इस रूप में कि यहाँ लाइट की व्यवस्था है। इसके साथ ही इस गाँव में चकबंदी हो चुकी है। इस चकबंदी की वास्तविकता को इस उपन्यास में दिखया है। जहाँ जमींदारों ने गाँव की सभी उपजाऊ ज़मीन पर पहले ही अपना हक जमा लिया। इसका लाभ सिर्फ बड़े किसानों अर्थात् जमींदारों को हुआ, छोटे किसान तो आज ही अभावों में जी रहे हैं।

समर शेष है

विवेकी राय का सन् 1988 में लिखा दूसरा उपन्यास 'समर शेष है' उनके पहले उपन्यास 'लोकऋण' की ही कथा का विस्तार है। इसमें गाँव वाले आज़ादी के बाद गाँव के विकास का, किसान की स्थिति के सुधरने का और खुशहाली का सपना देख रहे हैं; लेकिन यह सब उनके गाँव तक नहीं पहुँचा। गोपाल राय इस उपन्यास की कथावस्तु को लेकर लिखते हैं कि " 'समर शेष है' एक विक्षोभकारी विजन पर आधारित उपन्यास है। इस विजन के केंद्र में पूर्वांचल के किसान मजदूर हैं, जो लम्बे समय तक शोषण और अन्याय सहने के बाद अब संघर्ष की मुद्रा में तनकर कहदे हो रहे हैं।"[11] इस उपन्यास के किसान प्रगतिशील है तथा वे अपने अधिकारों को जानते हैं इसलिए वे शोषण के खिलाफ आवाज उठाते हैं।

सोना माटी

विवेकी राय का सन् 1983 में लिखा तीसरा उपन्यास सोना माटी है। इस उपन्यास में एक उपजाऊ ज़मीन का वर्णन है, जहाँ बहुत अच्छी पैदावार होती है अर्थात् सोना उगलने वाली ज़मीन। अचानक गाँव में बाढ आ जाने कि वजह से फसलें नष्ट हो जाती हैं, खेत जलमग्न हो जाते हैं। इससे गाँव के वे लोग जिनके पास कम भूमि थी और वो बाढ़ की भेट चढ़ गई। उनकी आर्थिक दशा खराब हो जाती है। बड़े किसानन केवल उनका शोषण करते हैं; अपितु सरकार द्वारा मिलने वाला मुआवजा भी उन तक नहीं पहुँचने देते।

सात आसमान

किसान जीवन और पूँजीवाद को आधार बनकार सन् 1996 में लिखा गया उपन्यास है 'सात आसमान'। यह उपन्यास असगर वजाहत के द्वारा लिखा गया है। इस उपन्यास में पूँजीवादी व्यवस्था के आगमन से किसान जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों के यथार्थ का वर्णन किया है। इसमें सरकारी योजनाओं की घोषणा से लेकर उसके गाँव तक पहुँचने की प्रक्रिया का चित्रण भी किया गया है। इस उपन्यास में सीलिंग कानून, को-ऑपरेटिव फार्म एवं अन्य सरकारी योजनाओं के माध्यम से किसानों को मिलने वाले अनुदान की वास्तविक स्थिति का चित्रण किया गया है।

इस उपन्यास का पात्र मुंशी, उन लोगों का प्रतीक है जो विकास के नाम पर किसानों को भ्रमित कर सिर्फ लाभ कमाने का उद्देश्य रखते हैं। इस उपन्यास में जहाँ किसान बिजली के आने की वर्षों प्रतीक्षा करते हैं, वही बिजली के आने पर उसके बड़े-बड़े बिलों को चुकाने में असमर्थ दिखाई देते हैं।

सीलिंग कानून के नाम पर किसानों ने सहकारी फार्म खोल तो लिए; लेकिन उनके पास भी सीलिंग के नोटिस आने लगे। इसके पश्चात कोर्ट आदि के चक्कर प्रशासन् की पोल खोलता है। इस तरह से ये सब घटनाक्रमक किसानों के लिए जारी सरकारी योजनाओं पर भी प्रश्न चिह्न खड़ा करता है।

डूब

उदारीकरण के दौर में वीरेंद्र जैन ने एक महत्वपूर्ण किसान जीवन से जुड़े उपन्यास 'डूब' की रचना सन् 1998 में की। इस उपन्यास में इस उपन्यास में ठाकुरों एवं साहूकारों के द्वारा किसानों पर किए गए शोषण का चित्रण है। यह भूमि अधिग्रहण से जुड़ा हुआ उपन्यास है। भूमि के लिए मिलने वाले मुआवजे पर भी जमींदारों की गिद्ध दृष्टि है। इस उपन्यास की कथावस्तु पर अरुण प्रकाश लिखते हैं कि "परियोजना में कृषि योग्य भूमि ले ली जाती है, लेकिन गाँव के रिहायशी इलाके को छोड़ दिया जाता है। किसानों के पास पैसा आया तो साहूकारों ने अपने पुराने कर्ज वसूले और जा बसे, जिला शहर ललितपुर, झाँसी, बीना या भोपाल में।"[12] बाँध के निर्माण पर किसान खुश होते हैं कि मजदूर के रूप

में उन्हें काम मिलेगा; लेकिन ग्रामीण मजदूरों को काम पर नहीं रखा जाता है। उनके बारे में कहा जाता है कि, “यहाँ के स्थानीय आदमी मन लगा कर पूरे समय काम नहीं करेंगे, क्योंकि वे अपने तीज-त्योहार मनाना नहीं छोड़ेंगे। घर-परिवार के शादी ब्याह में शामिल होना भी नहीं त्यागेंगे। कोई बीमार-दुखी हुआ तो उसकी तीमारदारी में जुटना भी नहीं छोड़ेंगे। ठेकेदार के मुँह से कोई ऊँच-नीच बात निकल गई तो उससे झगड़ने से बाज भी नहीं आएँगे।”[13] इस उपन्यास में बाँध निर्माण के लिए जमीन के स्वामी किसानों से जबरन भूमि को छुडवाने का वर्णन है।

बेदखल

बीसवीं सदी के अंतिम वर्षों में कमलकान्त त्रिपाठी के द्वारा सन् 1997 ‘बेदखल’ में उपन्यास लिखा गया है। इस उपन्यास में उतरप्रदेश के गावों में अंग्रेजी कानून तथा जमीदारी प्रथा के विरोध में किए गए आंदोलनों का चित्रण किया गया है। यह उपन्यास 1857 के बाद के समय को आधार बनाकर लिखा गया है। इस उपन्यास में तात्कालिक समय में किसान जीवन के सन्मुख आने वाली समस्याओं का वर्णन किया गया है। इस उपन्यास के नायक बाबा रामचंद्र है, जो एक काल्पनिक पात्र नहीं होकर, एक ऐतिहासिक पात्र है। इनके नेतृत्व ने उतर प्रदेश के अवध किसान आन्दोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। रायबरेली की घटना के बारे में जब बाबा पूछते हैं तब उन्हें बताया जाता है- “क्या नहीं हुआ बाबा?... आन्दोलन का सारा नक्शा ही बदल गया। हमने क्या सोचा था और क्या हो गया। कितने किसान मारे गए। रातों-रात कितनी लाशें गंगा में बहा दी गई।... जो वहाँ हुआ वही अब फैजाबाद में होनेवाला है। आपका नाम लेकर लोग लूटपाट कर रहे हैं। कितने ही नकली बाबा रामचंद्र निकल आए हैं।.. और हम भकुआ बने देख रहे हैं।”[14]

इस उपन्यास में तात्कालिक समय में होने वाली किसान सभाओं का वर्णन भी मिलता है जहाँ किसान अपने अधिकारों के लिए अपने प्राण तक देने को तैयार थे। यह उपन्यास अवध किसान आन्दोलन में गाँवों की भूमिका पर प्रकाश डालता है। यह उपन्यास

साम्राज्यवादी शोषण के खिलाफ खड़े किसानों की दृष्टि का परिचय करवाता है। यह उस समय की तालुकेदारी प्रथा तथा किसानों का इसके विरुद्ध किए गए संघर्ष का चित्रण करता है। इस उपन्यास को कमलकांत त्रिपाठी के उपन्यास 'पाहीघर' का उतरार्ध माना गया है। पाहीघर में अवध के ही एक ग्रामीण परिवार की कथा है। इसमें ग्रामीण समाज की सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था का वर्णन किया गया है जिसमें साम्प्रदायिकता और जातीय तनाव का दंश झेल रही जनता का वर्णन किया गया है।

2.2 इक्कीसवीं सदी के प्रमुख हिन्दी उपन्यास : किसान जीवन के संदर्भ में

हिन्दी साहित्य में किसान और मध्यम वर्ग को उपन्यास का विषय बनाने का प्रथम और सफल प्रयास प्रेमचंद ने किया था। 'प्रेमाश्रम' से आरम्भ हुई यह परम्परा इक्कीसवीं सदी में और अधिक विकसित हुई। इक्कीसवीं सदी में किसान जीवन को केंद्र के रखकर अनेक उपन्यास लिखे गए। जिनका परिचय इस प्रकार है-

अधबुनी रस्सी

यह उपन्यास सच्चिदानन्द चतुर्वेदी के द्वारा सन् 2009 लिखा गया है। इस उपन्यास को आपातकाल की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है। आपातकाल के समय ग्रामीण समाज और किसान वर्ग की स्थिति का चित्रण इस उपन्यास में दिखाई देता है। यह उपन्यास आपातकाल के क्रूर इतिहास का परिचय कराता है।

ज़मीन

यह उपन्यास भीमसेन त्यागी के द्वारा सन् 2004 में लिखा गया। यह उपन्यास किसानों एवं मजदूर जीवन को आधार बनाकर लिखा गया। यह उपन्यास भारत की स्वाधीनता के तुरंत बाद के किसान और खेतिहर मजदूर के सामाजिक जीवन को जीवंत करता है। इस उपन्यास में 'जमींदारी उन्मूलन' और 'भू-दान' आन्दोलन का भी जिक्र मिलता है। इस उपन्यास में जमींदारों के शोषण, किसानों से बेग़ार, कर्ज, भूमि अधिग्रहण

एवं किसान परिवार की महिलाओं पर शारीरक शोषण का वर्णन है। यह उपन्यास उस प्रक्रिया का परिचय देता है जिसमें एक किसान भूमिहीन हो जाता है।

उपन्यास का प्रमुख पात्र महकू कई पीढ़ियों से ठाकुर के पास बेग़ार कर रहा है; परन्तु फिर भी उसका कर्ज नहीं उतरता। “हर साल दशहरे पर ठाकुर चन्दन सिंह महकू के अंगूठे की टीप लेता है। कलम की मार। बेचारा महकू कुछ नहीं समझता। उसे पता नहीं कि ठाकुर का क्या लेना देना है। बस, इतना पता है कि उसके दादा ने चन्दन सिंह के दादा से दो विस्सी और दस रुपये लिए थे। कुल जमा बीस तक गिनती जानता है महकू। लंबा चौड़ा हिसाब उसकी समझ में नहीं आता। समझने से फायदा भी क्या? कर्ज पहाड़ बन चुका है। महकू को मालूम है कि अपनी खाल बेचकर भी वह ठाकुर का कर्ज नहीं चुका सकता। तो फिर इसके अलावा क्या चारा है कि वह और उसका कुनबा ठाकुर की बेगार करता रहे।”[15]

सल्लतनत को सुनो गाँव वालो

मंडी एवं चीनी मिल की समस्या को आधार बनाकर जयनंदन ने यह उपन्यास 2005 में लिखा। इस उपन्यास में गाँव के उन किसानों का वर्णन है जिन्होंने ईख की खेती करना सिर्फ इसलिए बंद कर दिया क्योंकि सरकार ने चीनी मिल बंद कर दी थी। गाँव में धान की खेती के लिए उपयुक्त ज़मीन तो है; परन्तु पानी की समस्या के कारण वह भी नहीं की जा सकती। इन सब समस्याओं के बावजूद भी सल्तनत और भैरव खेती के लिए गाँव के युवाओं को प्रेरित तो करते है परन्तु राजनैतिक भ्रष्टाचार बाधा बन जाता है। इस प्रकार यह उपन्यास कृषि के व्यवसायीकरण और कृषि में रोजगार की पृष्ठभूमि पर आधारित है।

कंदील

पहाड़ी किसान जीवन को केंद्र में रखकर सन् 2015 में राजकुमार ‘राकेश’ ने इस उपन्यास की रचना की। इस उपन्यास की कथावस्तु पारवती नाम की किसान महिला के इर्द-गिर्द चलती है। यह उपन्यास जहाँ एक और पानी की समस्या तो दूसरी ओर भूमि अधिग्रहण से किसान का संघर्ष को दिखाता है।

आदिग्राम उपाख्यान

कुणाल सिंह का यह उपन्यास भूमि अधिग्रहण की समस्या पर सन् 2010 में लिखा गया है। आदिग्राम में सरकार द्वारा एक केमिकल फेक्ट्री लगाने के आदेश के बाद किसान अपनी ज़मीन बचाने के लिए आन्दोलन करते है। वही सरकार उन्हें तरह तरह के प्रलोभन दे रही है। उपन्यास ईस्ट इंडिया कम्पनी के कालखंड का चित्रण करता है तथा कम्पनी के द्वारा किसानों के शोषण का वर्णन भी करता है।

हिडिम्ब

यह उपन्यास पहाड़ी जीवन को केंद्र में रखकर सन् 2004 में लिखा गया। इस उपन्यास के लेखक एस.आर. हरनोट है। उपन्यास का मुख्य पात्र शावणु एक लघु किसान है। वह किसी तरह से इस ज़मीन के छोटे से टुकड़े से अपना जीवन यापन करता है। इस ज़मीन के टुकड़े पर मंत्री जी की नजर पड़ने के बाद उसका सुख-चैन सब खो जाता है। शावणु इस जमीन को बेचना नहीं चाहता। शावणु मंत्री से कहता है कि "माई बाप ! यह जमीन तो मेरे पुरुखों की है। आज हमारी दोख साँझ है। रोजी रोटी है सरकार। मेरी माँ है। मैं अपनी माई को कैसे बेच सकता हूँ। मेरे को नी बेचणी है।"[16] मंत्री और शावणु का यह संघर्ष तब तक चलता है जब तक शावणु का परिवार खत्म नहीं हुआ।

अगम बहै दरियाव

सन् 2024 में लिखा यह शिवमूर्ति का किसान जीवन पर यह दूसरा उपन्यास है। इस उपन्यास को महाकाव्यात्मक उपन्यास का दर्जा दिया जा सकता है क्योंकि इसमें एक लंबे दौर की कहानी कहीं गई है। गोदान की तुलना में इसको रखा जा सकता है। "सामाजिक तानेबाने, प्रेरणा, भावनाएँ एवं कार्य-व्यापार की ज़मीन से उपन्यासकार कहने को काल्पनिक पर जटिल यथार्थ निर्मित करता है, जो आंकड़ों से भी अधिक विश्वसनीय होते हैं। इसमें सामाजिक अंत: क्रियाओं की महीन जड़े रहती हैं। इसमें जीवन धड़कता रहता है। वरिष्ठ उपन्यासकार शिवमूर्ति का उपन्यास 'अगम बहे दरियाव' हिन्दी प्रदेश की ग्रामीण व्यवस्था में सत्ता की निर्मिति की महाकथा है।"[17] इसका कलेवर काफी विस्तृत है।

ताकि बची रहे हरियाली

अनंत कुमार सिंह ने सन् 2018 में लिखे इस उपन्यास में वैश्विकरण में किसानों के उजड़ते घरो का वर्णन किया है। यह उपन्यास खाद, बीज और कीटनाशक बनाने वाली कम्पनियों के द्वारा किसानों से की जा रही लूट का वर्णन करता है। इस उपन्यास में हम देखते हैं कि कृषि से जुडी हर कम्पनी का उद्देश्य सिर्फ लाभ कमाना है। यह उपन्यास हमें रासायनिक उर्वरकों के दुष्परिणाम से भी अवगत कराता है।

2.3 विवेच्य उपन्यास और उपन्यासकार

इस अध्याय में शोध के लिए चयनित उपन्यास और उपन्यासकारों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। यह वे इक्कीसवीं सदी के उपन्यासकार हैं जिन्होंने किसान जीवन को अपने लेखन का आधार बनाया। इस अध्याय में विवेच्य प्रमुख किसान जीवन सम्बन्धी उपन्यास और उपन्याकारों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है ।

हलफ़नामे

यह उपन्यास किसान जीवन के यथार्थ को उजागर करता है। यह उपन्यास 2007 में राजू शर्मा के द्वारा लिखा गया है। उपन्यासकार ने इस उपन्यास में किसान जीवन की समस्याओं को बारी-बारी से पाठक के सामने लाने का प्रयास किया है। पानी की कमी से उत्पन्न हुई समस्याओं का अंत किसान के आत्महत्या करने के बाद भी नहीं होता। स्वामीराम के आत्महत्या करने के बाद उसका पुत्र मकई जब दफ़्तर दफ़्तर से कोर्ट तक चक्कर लगाता है तो पता चलता है की ये समाज, सरकारे और व्यवस्थाएँ अन्नदाता के प्रति किस तरह का व्यवहार करते हैं। सरकारी दफ़्तर के चक्कर लगा-लगा कर थकने के बाद मकईराम कहता है कि “अब इन्हें दसवां और ग्यारहवां हलफनामा चाहिए.. एक, दो, तीन... आठ, नौ से इनका पेट नहीं भरा, इन्हें और खुराक चाहिए, राक्षस की तरह रोज एक आदमी का मांस .... इतनी शपथ और सत्यनिष्ठा, इतना सर्वोत्तम ज्ञान ये एक के बाद एक डकार जाते हैं, इनकी भूख नहीं मिटती, इन्हें अप नहीं होता, न पाप लगता है। शपथ

की आड़ में इन्हें धन चाहिए..... हलफनामे के लिफाफे में इनका पैगाम होता है.. दक्षिणा दो, नहीं तो गाड़ी आगे नहीं बढ़ेगी।"[18] इसके उपरांत सरकारी तंत्र के यथार्थ और किसानों के शोषण के लिए अधिकारी वर्ग लालसा दिखाई देती है।

राजू शर्मा

राजू शर्मा का जन्म 1959 में हुआ। इनकी शिक्षा दिल्ली विश्वविद्यालय से हुई। जहाँ इन्होंने भौतिक विज्ञान से स्नातकोतर तथा लोक प्रशासन् में पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की। ये 1982 से 2010 तक आई.ए.एस. रहे तथा इसके बाद स्वतंत्र रूप से लेखन कार्य में लग गए। इनका रचना संसार निन्मलिखित है-

कहानी संग्रह- शब्दों का ख़ाकरोब, समय के शरणार्थी, नहर में बहती लाशें।

उपन्यास- हलफनामें, विसर्जन।

नाटक- भुवनपति, मध्यमवर्ग का आत्मनिवेदन या गुब्बारों की रूहानी उड़ान, जंगलवश

आख़िरी छलांग

सन् 2008 में लिखे इस उपन्यास में शिवमूर्ति किसान जीवन के सामाजिक एवं आर्थिक पहलुओं को सामने लाने का प्रयास करते है। जहाँ पर फ़सल बोने से पहले से लेकर फ़सल के बेचने तक की प्रक्रिया में आने वाली सभी समस्याओं का वर्णन इस उपन्यास में दिखाई देता है। इस उपन्यास में पहलवान नाग जो किसान है वह पानी कि समस्या, बीज की समस्या, आर्थिक समस्याओं के भंवर में ऐसा फँसता है कि कर्ज लेने के अतिरिक्त उसके पास अन्य कोई रास्ता नहीं बचता। इससे तंग आकर पहलवान कहता है कि "किसान के घर में जन्म लेकर न पहले कोई सुखी रहा है न आगे कोई रहेगा। इन्हीं परिस्थितियों में जिंदगी की नाव खेना है।"[19] इस उपन्यास में यह भी दिखाई देता है कि किस तरह से खेती एक घाटे का सौदा बनती जा रही है।

शिवमूर्ति

कथाकार शिवमूर्ति का जन्म मार्च, 1950 को उतरप्रदेश के कुरंग गाँव में एक सीमांत किसान परिवार में हुआ। बचपन में पिता के गृहत्यागी हो जाने के कारण आर्थिक संकट एवं निम्नमध्यमवर्गीय परिवार के जीवन संघर्ष को खुद ने भोगा है। इसके चलते आपने जड़ी बूटी बेचने का कार्य भी किया था। शिवमूर्ति हिन्दी कथा साहित्य का एक जाना-पहचाना नाम है। इन्होंने कथा साहित्य की तीन प्रमुख विधाओं उपन्यास, कहानी औए नाटक में लेखन कार्य किया है, जो इस प्रकार है-

कहानी संग्रह- केसर कस्तूरी, कुच्ची का कानून।

उपन्यास- त्रिशूल, तर्पण, आखिरी छलांग।

नाटक-कसाईबाड़ा, तिरिया चरितर, भरतनाट्यम

कालीचाट

सुनील चतुर्वेदी द्वारा सन् 2015 में लिखा गया यह उपन्यास औद्योगीकरण एवं उनसे किसान जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव का वर्णन करता है। जहाँ हम देखते हैं कि औद्योगीकरण से युवा पीढ़ी का खेती से मोहभंग हो रहा है। वही दूसरी और जो कर रहे हैं उनकी भी समस्याएँ कम होने का नाम नहीं ले रही। सरकार द्वारा जो भी योजना किसान उत्थान के लिए लाई जा रही है वो भी धरातल तक आते आते किसान शोषण का एक जरिया बन जाती हैं। इस उपन्यास में युनुस खान नाम का किसान अपनी समस्याओं से निपटने के लिए सरकारी योजनाओं को अपनाता है; परन्तु जागरूकता के अभाव एवं तंत्र की अव्यवस्थाओं के कारण उनका लाभ नहीं उठा पाता। अंत में आत्महत्या कर लेता है।

सुनील चतुर्वेदी

इनका जन्म 11 जनवरी, 1963 को उज्जैन, मध्यप्रदेश में हुआ। इनका सम्बन्ध शिक्षा के क्षेत्र में विज्ञान से रहा है। ये एक भू-गर्भ शास्त्री के रूप में सामाजिक संस्था

विभावरी से सम्बन्ध रखते हैं। भू- गर्भ शास्त्री होने के कारण इनकी रचनाओं में हमें जल सरक्षण एवं संवर्द्धन को आसानी से देखा जा सकता है। जल सरक्षण पर इनकी तीन रचनाएँ 'पानी दे गुड़धानी दे', 'रुको बूंद' तथा 'विजिट गरीब' प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त इनके दो उपन्यास 'महामाया' और 'कालीचाट' ने इनको हिन्दी साहित्य का एक प्रमुख रचनाकार बना दिया।

'पानी दे गुड़धानी दे' के लिए इनको मेदिनी पुरस्कार तथा 'महामाया' के लिए वागीश्वरी सम्मान से सम्मानित किया है। सुनील चतुर्वेदी समाज सेवा और पत्रकारिता के क्षेत्र में कार्यरत रहे हैं। जिसके कारण समाज के प्रति उनकी नजर बारीक और तेज हुई है। उनका उपन्यास 'महामाया' एक ऐसे परिदृश्य को प्रकट करता है जो धर्म और आध्यात्म के नाम पर बड़े बड़े आश्रमों में लोगों का शोषण किया जाता है। इन लोगों को राजनैतिक संरक्षण प्राप्त होता है।

अकाल में उत्सव

पंकज सुबीर ने यह उपन्यास छोटे और सीमांत किसान के जीवन को आधार बनाकर कर सन् 2016 में लिखा है। इस उपन्यास में राम प्रसाद जो कि एक छोटी जोत का किसान है, उसके जीवन के माध्यम से सम्पूर्ण सीमांत किसानों के जीवन के यथार्थ का चित्रण किया है। इस उपन्यास के मुख्य पात्र राम प्रसाद के घर की आजीविका का एक मात्र साधन खेती है। फ़सल के पकने के बाद आई एक बारिश ने उसके साल भर की मेहनत पर पानी फेर दिया। इस आपदा से निकलने का एक रास्ता उसे सरकारी मुआवज़े में दिखाई दिया; लेकिन बैंक के फर्जीवाड़े और अफ़सरों की घूस की लालसा ने रामप्रसाद को आत्महत्या के लिए मजबूर किया। जहाँ एक और सभी किसान फसलों के नष्ट होने से, साल भर की मेहनत बेकार जाने से मातम में डूबे थे, मुआवाज़े के लिए भटक रहे थे, घूस देने के लिए कर्ज ले रहे थे वहीं दूसरी ओर जिले में उत्सव चल रहा था। सरकारी कर्मचारियों का व्यवहार उपन्यास में इस रूप में मिलता है कि "तो मर जाए? सरकार के भरोसे बैठा है क्या? दुनिया में सब अपने-अपने भरोसे बैठे हैं। आपको किसने कहा है खेती करो? मत

करो अगर नुकसान का इतना ही डर है तो। जब कहा ही जाता है कि खेती तो मौसम के भरोसे खेला जाने वाला जुआ है, तो क्यों खेलते हो इस जुए को? किसी ने कहा है क्या आपसे? मत करो खेती कोई दूसरा काम करो।"[20] इस प्रकार यह उपन्यास सीमांत किसानों की त्रासदी का दस्तावेज है।

पंकज सुबीर

इनका जन्म 11 अक्टूबर 1975 को मध्यप्रदेश सिवनी मालवा कस्बे में हुआ। शिक्षा के क्षेत्र में ये रसायन शास्त्र एवं पत्रकारिता से सम्बन्ध रखते हैं। पंकज सुबीर 21 वीं सदी के उन कुछ ही लेखकों में से हैं जिन्होंने कविता, कहानी, उपन्यास और ग़ज़ल जैसी सभी विधाओं में लेखन कार्य किया है। पंकज सुबीर बहुमुखी प्रतिभा के धनी हैं। इनका विस्तृत रचना संसार है:-

कहानी संग्रह- इस्ट इंडिया कम्पनी, महुआ घटवारिन और अन्य कहानियाँ, कसाब डॉट गाँधी@ यरवदा डॉट इन, चौपड़े की चुड़ैल आदि।

उपन्यास- ये वो सहर तो नहीं, अकाल में उत्सव, जिन्हें जुर्म ए इश्क पे नाज था।

सम्मान- भारतीय ज्ञानपीठ नवलेखन पुरस्कार, अंतरराष्ट्रीय इंदु कथा सम्मान, वनमाली कथा सम्मान, वागीश्वरी सम्मान

तेरा कोई संगी नहीं

मिथिलेश्वर ने सन् 2018 में बलेसर नाम के किसान को प्रतीक बनाकर इस उपन्यास के माध्यम से सम्पूर्ण किसान जगत के यथार्थ, समस्याओं और जीवन से परिचित करवाया है। इसके साथ ही इस उपन्यास में भूमि को माँ समझने वाली पीढ़ी बलेसर और औद्योगीकरण से प्रभावित पीढ़ी उनके बेटों के बीच के द्वंद को भी दिखाया गया है। इस उपन्यास में एक ओर किसान का भूमि कर प्रति प्रेम जिसमें बलेसर जैसे लोग है जो मरने

पर ही भूमि छोड़ते हैं। वहीं दूसरी ओर किसान से मजदूर बनकर शहर की तरफ़ पलायन है। इस उपन्यास में किसान आन्दोलन पर भी प्रकाश डाला गया है।

मिथिलेश्वर

बिहार के भोजपुर में 31 दिसम्बर, 1950 को इनका जन्म हुआ। इन्होंने हिन्दी साहित्य से एम.ए. तथा पीएच. डी. तक की शिक्षा प्राप्त की। मिथिलेश्वर हिन्दी कथा साहित्य का प्रसिद्ध चेहरा है। इनका एक विस्तृत रचना संसार है। जिसमें एक दर्जन से अधिक कहानी संग्रह, आधा दर्जन उपन्यास तथा इसके अतिरिक्त आत्मकथा, लोक साहित्य, बाल साहित्य, विचार साहित्य तथा 'मित्र' पत्रिका का संपादन कार्य प्रमुख है। इनका रचना संसार निम्लिखित है:-

कहानी संग्रह-एक और मृत्युञ्जय, बाबूजी, बंद रास्तों के बीच, दूसरा महाभारत, मेघना का निर्णय, तिरिया जनम, हरिहर काका, एक में अनेक, एक थे प्रो.बी. लाल, भोर होने से पहले, चल खुसरो घर आपने तथा जमुनी।

उपन्यास- झुनिया, युद्धस्थल, प्रेम न बाड़ी ऊपजै, यह अन्त नहीं, सुरंग में सुबह, माटी कहे कुम्हार से, तेरा संगी कोई नहीं।

आत्मकथा पानी बिच मीन पियासी, कहाँ तक कहें युगों की बात, जाग चेत कुछ करी उपाई।

लोक साहित्य-भोजपुरी लोककथाएँ।

बाल साहित्य- गाँव के लोग, एक था पंकज।

पुरस्कार- अखिल भारतीय मुक्तिबोध पुरस्कार, सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार, यशपाल पुरस्कार, अमृत पुरस्कार, अखिल भारतीय वीर सिंह देव पुरस्कार, श्रीलाल शुक्ल इफ्को स्मृति सम्मान से विभूषित।

फाँस

सन् 2015 में लिखे इस उपन्यास में किसान आत्महत्या की एक शृंखला दिखाई देती है। पिछले कुछ दशकों में देश भर में किसान आत्महत्या की बढ़ती हुई संख्या को आधार बनाकर उसी विषय 'किसान आत्महत्या' को केंद्र मर रखकर इस उपन्यास की रचना संजीव द्वारा की गई है। इस उपन्यास का केंद्र विदर्भ का वह क्षेत्र है जहाँ किसान आत्म हत्या का प्रतिशत सबसे अधिक है। यह क्षेत्र पानी की समस्या से पूरी तरह से त्रस्त है। इसके साथ ही वहु राष्ट्रीय कम्पनियों के कारण भी परम्परागत खेती से जुड़े हुए उद्योग नष्ट होते जा रहे हैं। इससे छोटी जोत के किसानों के लिए मजदूर बनने से सिवा कोई अन्य विकल्प नहीं रहा। सरकारी नीतियों में भी किसानों के लिए कुछ विशेष नज़र नहीं आता और इन सब को मिलाकर कर्ज लेना एक ऐसी मज़बूरी बनती है कि उसके सिवा कोई दूसरा उपाय दूर दूर तक दिखाई नहीं देता। इसके पश्चात जब कर्ज नहीं चुका पाते तो आत्म सम्मान और मज़बूरी के कारण आत्म हत्या का रास्ता किसान चुन लेता है।

फाँस उपन्यास में किसान के घर की ये छोटी सी वार्तालाप उसके जीवन को समझाने के लिए पर्याप्त है - "अगले महीने बैंक का 25 हज़ार का क़र्ज़ अदा करना है। आज गुढी पाडवा है- मराठी नववर्ष।

'फर्स्ट क्लास डिनर है आई। 'ये जो भात है न आई, इसमें स्टार्च है, इसका माड न फेंको तो चावल की सारी ताकत बची रहती है, फिर मावा! मेवा है मेवा! ताकत ही ताकत ! मज़बूती ही मज़बूती !'।।।

'इसके सामने नासिक का किसमिश फेल, रत्नगिरि का हापुस फेल और कलमी के साग में आयरन ही आयरन। और स्वाद ?'

'शुभा सामने आकर खड़ी हो गई तो झेंप गया पूरा परिवार। शुभा ने तरस खाती जुबान से कहा आज चढ़ाव नववर्ष है। आज तो कुछ कायदे की चीज़ बना लेती ! चलो मैं देती पूरण पोली!'

'नहीं बहिणी कोई तो दिन आएगा, हम भी पूरण पोली और ढेर सारा पकवान बनाएँगे।

'आज रहने दो।

'मगर क्यों ?'

'वो सुनील काका ने कहा है न कि जब कि तक क़र्ज़ न उतार लो...

'समझी। अरे तुम मियाँ बीवी! तुम्हें छाँह तपस्या करनी हो, शौक से करो, मगर अब मुलगियों को तो बख्श दो।[21]"

संजीव

हिन्दी कथा साहित्य में अछूते क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करने वाले संजीव का जन्म 6 जुलाई, 1947 को उतर प्रदेश के सुल्तानपुर जिले के बांगर कला गाँव में हुआ। बचपन में इनका नाम राम संजीवन प्रसाद था। ये खुद एक ऐसे परिवार से संबंध रखतें हैं जो लघु और सीमान्त किसान वर्ग के आस पास दिखाई देता है। इनके परिवार ने खुद विस्तापन की समस्या से सामना किया। इसके साथ ही मूर्तिया बनाने के व्यवसाय से भी सम्बन्ध रहा। इनका यह संघर्ष इनके रचना संसार में दिखाई पड़ता है। इन्होनें गाँव, आदिवासी एवं निम्न वर्ग को अपनी रचना का आधार बनाया। संजीव जी ने प्रेमचंद की परम्परा को जीवित रखने का प्रयास किया है। इनकी सम्पूर्ण रचना संपदा का आधार गाँव, किसान और आदिवासी है।

संजीव के आठ उपन्यास प्रकाशित हैं। 'सूत्रधार' भिखारी ठाकुर के जीवन पर आधारित उपन्यास ने सबको आकर्षित किया है। 'धार', 'सावधान ! नीचे आग है',

‘किशनगढ़ के अहेरी’, ‘सर्कस’, ‘जंगल जहाँ शुरू होता है’ तथा ‘पाँव तले की दूब’ और फांस प्रमुख हैं।

कहानी संग्रह- तीन साल का सफरनामा, आप यहाँ है, भूमिका और अन्य कहानियाँ, दुनिया की हसीन औरत, प्रेरणास्रोत और अन्य कहानियाँ, प्रेतमुक्ति, ब्लैक हॉल, डायन और अन्य कहानियाँ, खोज, गति का पहला सिद्धांत, गुफा का आदमी।

सम्मान- कथाक्रम सम्मान, इंदू शर्मा अंतर्राष्ट्रीय कथा सम्मान लंदन से ‘जंगल जहाँ शुरू होता है’ इस उपन्यास के लिए पुरस्कार प्राप्त हुआ है।

यह गाँव बिकाऊ है

एम एम चंद्रा का सन् 2019 में इस उपन्यास को ग्रामीण जीवन को आधार बनाकर लिखा गया है। इसमें गाँव से शहर की ओर होने वाले पलायन और उसके प्रभाव का चित्रण किया गया है। यह उपन्यास किसान और खेतिहर मजदूर को केंद्र में रखकर लिखा गया है। जिसमें फ़तेह जो खेतिहर मजदूर हैं। वह गाँव से शहर जाता है आजीविका के लिए और फिर फैक्ट्री के बंद होने से फिर गान आता है। फ़तेह के माध्यम चंद्रा जी ने खेतिहर मजदूर की समस्याओं को सामने लाने का प्रयास किया है। वही उपन्यास के अन्य पात्र बल्ली के माध्यम से किसान समस्याओं को प्रकट किया है।

एम. एम. चंद्रा

एम.एम. चन्द्रा ने अभी तक तीन उपन्यासों का लेखन किया है। इन उपन्यासों में ‘प्रोस्तोर’ एवं ‘यह गाँव बिकाऊ है’ प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में व्यंग्य, समीक्षा, आलोचना एवं समसामयिक रचनाओं का प्रकाशन भी करवाया है। अब तक इनकी एक 26/31 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी है।

बहुत लम्बी राह

यह उपन्यास भूमि अधिग्रहण की समस्या को आधार बनाकर सन् 2003 में लिखा गया है। बिहार की पृष्ठभूमि पर लिखे गए इस उपन्यास के रचनाकार कुर्मेंदु शिशिर हैं। इस

उपन्यास का केंद्र बिंदु गाँव की गैर- मजरुआ भूमि है। वैसे तो इस भूमि पर सरकार का अधिकार है लेकिन गाँव के जमींदार मिसिर ने इस भूमि पर कब्ज़ा कर रखा है। एक सरकारी योजना के अंतर्गत मिसिर ने महतो को उस भूमि पर बसाया था उसके बदले आज तक बेग़ार करवा रहा है। इसी सरकारी ज़मीन पर बने एक तलब से महतो के बेटे के मछली पकड़ लेने की एक घटना से किस तरह महतों की ज़िन्दगी छिन्न-भिन्न हो जाती है। इसका वर्णन इस उपन्यास में किया गया है।

कर्मेंदु शिशिर

26 अगस्त,1953 वाराणसी में जन्मे और फिर बिहार के उनवांस गाँव के रहने वाले कुर्मेंदु शिशिर ने पटना कॉलेज से हिन्दी में एम.ए. किया। इन्होंने अपने सृजनात्मक लेखन में दो कहानी संग्रह लिखे। इन कहानी संग्रहों में इन्होंने निम्नवर्गीय जीवन के यथार्थ को प्रकट करने का प्रयास किया है। इसके साथ ही इन्होंने वैचारिक लेखन भी किया है। जो प्रमुख रूप से नवजागरण से संबंध रखते है। इनमे इनके तीन संग्रह 'नवजागरण और संस्कृति', 'हिन्दी नवजागरण और जातीय परम्परा' तथा 'राधा मोहन और हिन्दी नवजागरण' है।

चलती चाकी

सूर्यनाथ सिंह का सन् 2011 में लिखा यह उपन्यास वैसे को काश्मीर के हालातों पर लिखा गया है; लेकिन इसका आधा भाग काश्मीर के किसान जीवन और उनकी समस्याओं पर ही लिखा गया है। इस उपन्यास में सरकारी तंत्र की किसानों के प्रति उदाशीनता को दिखाया गया है।

सूर्यनाथ सिंह

14 जुलाई 1966 को उतरप्रदेश के सवना जन्मे सूर्यनाथ सिंह ने दो उपन्यास 'चलती चाकी' और 'नींद रात भर क्यों नहीं आती' के साथ एक कहानी संग्रह 'कुछ रंग बेनूर' से पर्याप्त ख्याति अर्जित की है।

निष्कर्ष

इस प्रकार हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि हिन्दी उपन्यास का आरम्भिक चरण में उपन्यास लेखन का उद्देश्य मनोंरजन था। प्रेमचंद के आगमन के बाद वह यथार्थ के धरातल पर आया। प्रेमचंद ने ही हिन्दी में सबसे पहले किसान की पीड़ा को समझा। प्रेमचंद के साहित्य में मध्यमवर्ग भी है; लेकिन प्रमुख केंद्र किसान रहा। किसानों के संघर्ष को ही प्रेमचंद ने उपन्यास का आधार बनाया।

स्वाधीनता के बाद एक नए भारत का उदय होता है। जनता के हर वर्ग की तरह किसान को भी उम्मीद रहती है कि अब कई तरह के सुधार किए जाएँगे। इस समय भारत की आर्थिक स्थिति को ठीक करने के प्रयास भी हुए; लेकिन यह सुधार ना तो लम्बे समय तक जारी रहे और ना ही किसान के जीवन स्तर में बदलाव आया। स्वधीनता के बाद विस्थापन, भूमि अधिग्रहण और रासायनिक उर्वरकों के प्रयोगों ने खेती के स्वरूप को बदल दिया। वर्तमान समय के भूमंडलीकरण और नव उदारवाद के दौर में किसान के लिए चुनौती और बढ़ गई। किसान धीरे धीरे कम्पनियों पर निर्भर होता जा रहा है।

संदर्भ सूची

---

[1] गोपाल राय, हिंदी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. 105

[2] हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, 2003, पृ. 229

[3] सुरेन्द्र चौधरी, साधारण प्रतिज्ञाः अंधेरे से साक्षात्कार, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, 2009, पृ. 18

[4] नामवर सिंह, प्रेमचंद और भारतीय समाज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृ. 124

[5] रामविलास शर्मा, प्रेमचंद और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018, पृ. 84

[6] रामदरश मिश्र, हिंदी उपन्यासः एक अंतर्यात्रा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. 56

[7] रामविलास शर्मा, प्रेमचंद और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018, पृ. 98

[8] गोपाल राय, हिंदी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. 217

[9] वही, पृ. 306

[10] वही, पृ. 273

[11] वही, पृ. 316

[12] अरुण प्रकाश, उपन्यास के रंग, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, 2013, पृ. 77

[13] वीरेन्द्र जैन, डूब, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2014, पृ. 191

[14] कमलकांत त्रिपाठी, बेधखल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1997, पृ.180

[15] भीमसेन त्यागी, जमीन, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2004, पृ. 53

[16] एस. आर. हरनोट, हिडिम्ब, आधार प्रकाशन, पंचकुला, 2011, पृ. 22

[17] https://samalochan.com/agam-bahai-dariyav/

[18] राजू शर्मा, हलफनामे, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 45

[19] शिवमूर्ति, आख़िरी छलांग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ. 83

[20] पंकज सुबीर, अकाल में उत्सव, शिवना प्रकाशन, सिहोर, 2017, पृ. 170

[21] संजीव, फाँस, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. 61-2

तृतीय अध्याय

इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में किसान जीवन का सामाजिक परिदृश्य

प्रस्तावना

3.1 आत्महत्या के सामाजिक संदर्भ

3.2 नयी पीढ़ी का पलायन और संघर्ष

3.3 किसान समाज का मूल्यगत ढाँचा और वैचारिक चेतना

निष्कर्ष

प्रस्तावना

किसानी का पेशा न केवल शारीरिक श्रम का प्रतिनिधित्व करता है; बल्कि मानसिक रूप से भी अन्य लोगों की तुलना में अधिक संघर्षशील है क्योंकि अभाव उनके जीवन का अनिवार्य हिस्सा होता है। ऐसा नहीं है कि अभाव और संघर्ष केवल व्यक्तिगत ही हों या क्षेत्र विशेष के किसानों के हिस्से ही आए हों, यह तो किसान परिवार में जन्म लेते ही नियति बन जाते हैं। उसी नियति को भोगते हुए उसके जीवन का अंत होता है। स्वाभिमान और अभाव किसान को एक ऐसे गहरे अन्धकार की ओर धकेलते जाते हैं कि वह अपने जीवन का अंत करना ही मुक्ति का सबसे अंतिम उपाय समझता है। यह मुक्ति की ओर होने वाली यात्रा उसके परिवार, समाज और राज्य जैसे संस्थानों से होती हुई गुजरती है जिससे वह चाहकर भी पलायन नहीं कर पाता क्योंकि उसका स्वाभिमान उसे हमेशा रोके रखता है। जिन मनुष्यों के दैनिक जीवन के कार्य शारीरिक श्रम से जुड़े हुए होते हैं उनमें स्वाभिमान उस चरम स्थिति तक पाया जाता है कि वे उसके लिए जीवन का बलिदान देने से भी पीछे नहीं हटते।

किसान के लिए खेती करना किसी बनिए के व्यापार करने जैसा नहीं है कि वह नफा देखकर किसी को लूट लेगा या फिर नुकसान देखकर उससे पलायन कर जाएगा। क्योंकि खेती का विकल्प नहीं है और खेती छोड़ते ही उसके पास मरने और मजदूर बनने जैसे दो ही विकल्प होते हैं। जो किसान समझदार और बौद्धिक रूप से सम्पन्न होते हैं वे मजदूर बनने के बाद आत्महत्या का रास्ता अपनाते हैं और जो भावुक होते हैं वे सीधे ही किसी पेड़ की डाल से, माहुर खाकर या कुएँ में कूदकर अपनी जीवन लीला समाप्त कर लेते हैं।

'कर्मभूमि' उपन्यास में प्रेमचन्द बेबसी, स्वाभिमान और किसानी के मोह के बीच फँसे हुए किसान की स्थिति का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि "कृषि प्रधान देश में खेती केवल जीविका का साधन नहीं, सम्मान की वस्तु भी है। गृहस्थ कहलाना गर्व की

बात है। किसान गृहस्थी करता है। मान प्रतिष्ठा का मोह औरों की तरह उसे घेरे रहता है। वह गृहस्थ रहकर जीना और गृहस्थी में ही मरना चाहता है। उसका बाल-बाल कर्ज से बँधा हो; लेकिन द्वार पर दो चार बैल बाँधकर वह अपने को धन्य समझता है। उसे साल के 360 दिन आधे पेट खाकर रहना पड़े, पुआल में घुसकर रातें काटनी पड़े, बेबसी से जीना और मरना पड़े, कोई चिंता नहीं, वह गृहस्थ तो है। यह गर्व उसकी सारी दुर्गति की पुरौती कर देता है।"[1] प्रेमचन्द का किसान अपमान झेलकर भी ज़िंदा रहता है और अंत तक संघर्ष करता है; लेकिन वैश्वीकरण के बाद का किसान न केवल आर्थिक रूप से कमजोर हुआ है; बल्कि मानसिक रूप से भी वह स्वयं के वश में नहीं रहा। ऐसा नहीं है कि उसके जीवन में हर तरफ से दुःख और संघर्ष ही आते हो; परन्तु वर्तमान तक आकर ऐसा लगने लगा है कि वह बहुत लम्बी यात्रा करके थक चुका है और समय उसे किसानी से दूर, बहुत दूर जाने के लिए उकसा रहा है। विवेचित उपन्यासों में हम किसान जीवन की भिन्न–भिन्न सामाजिक विडंबनाओं और संघर्षों को परखने का प्रयास करेंगे।

3.1 आत्महत्या के सामाजिक संदर्भ

किसान समाज की बुनावट में कोई जटिलता नजर नहीं आती; लेकिन उसके सामाजिक स्तर और जीवन प्रक्रियाएँ बेहद ही उलझी हुई होती हैं। किसान होना मतलब जमीन का एक टुकड़ा, सामान्य रहन–सहन और मात्र कुछ हजार की आबादी वाला गाँव, जिसमें एक दूसरे पर निर्भर छोटे बड़े किसान, खेतीहर मजदूर और किसानी से सम्बन्ध रखने वाले अन्य पेशे वाली आबादी जिनकी संख्या खेती करने वालों की तुलना में बेहद कम होती है।

भारत के संदर्भ में एक जमीन का मालिक किसान है और दूसरा खेतीहर मजदूर। इनके आपसी सम्बन्ध किसानी की बदौलत ही होते हैं। समाज में प्रतिष्ठा

जमीन से होती है और अन्य सामाजिक कार्यों में होने वाले खर्च से किसान समाज में उसका स्तर तय होता है। वह अपनी प्रतिष्ठा के लिए खुलकर खर्चे करना चाहता है; लेकिन आमदनी इतनी नहीं होती जिसकी वजह से उसको कर्ज लेना पड़ता है। वह कर्ज खेती के लिए भी लेता है और सामाजिक कार्यों के लिए भी। बैंकों से मिलने वाला कर्ज बहुत कम होता है इसलिए वह साहूकार और बड़े किसानों से उधार लेता है जिस पर भारी मात्रा में ब्याज का भुगतान उसे करना होता है। उधार लिए हुए पैसे का भुगतान न करने पर बैंकों द्वारा तो जमीन कुड़क की ही जाती है। ब्याज पर पैसे देने वाले लोग भी एक तय समय बाद जमीन पर अपना दावा ठोक देते हैं और किसान को उस पर खेती करने से रोक देते हैं जिसकी वजह से उसकी आमदनी में और भी कमी आती जाती है। यह प्रक्रिया अगर लंबे समय तक खींच जाती है तो किसान आत्महत्या के मार्ग की ओर अग्रसर होता है। उदारीकरण की प्रक्रिया के बाद विदर्भ जैसे क्षेत्रों में सरकारी नीतियों के कारण भी आत्महत्या के आँकड़े बहुत ही तेज गति से बढे हैं। खेती को मुनाफे का सौदा बनाने के चक्कर में सरकार की अव्यावहारिक नीतियों से किसानों में आत्महत्या का एक रोग सा पनप गया। विदर्भ और पंजाब में यह हालत सबसे ज्यादा भयावह है।

इन आत्महत्याओं के पीछे न केवल सामाजिक कारण हैं अपितु राजनीतिक और प्रशासनिक कारण सबसे ज्यादा उतरदायी नजर आते हैं। चूँकि किसानी घाटे का सौदा बन चुकी है ऐसी स्थिति में सरकार और प्रशासन का दायित्व बनता है कि एक बड़ी आबादी के जीवन स्तर में सुधार के लिए प्रयास करें और मजदूरों की बढती संख्या पर रोक लगाए। "कृषि अर्थव्यवस्था के जानकारों का कहना है कि हालात ऐसे बुरे भी नहीं हैं कि सरकार इसे नियंत्रित न कर पाए; लेकिन सरकार में इच्छा शक्ति का अभाव है। किसानों के लिए जो सुविधा मिलती है वह काफी नहीं है।

साख व्यवस्था में दो तरह के ऋण प्राप्त होते हैं। अल्पकालीन और दीर्घकालीन। अल्पकालीन व्यवस्था के अंतर्गत सरकार का विशेष ध्यान रहता है; परंतु दीर्घकालीन

ऋणों में किसान की आवश्यकता पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। दीर्घकालीन ऋणों की ब्याज दरें अल्पकालीन ऋण की तुलना में अधिक है। किसान की अन्य आवश्यकताओं के लिए ऋणों का कोई प्रावधान दीर्घकालीन व्यवस्था में नहीं है जिससे एक ही किसान को दोहरे मापदंडों का सामना करना पड़ता है।"[2] किसान को केवल खेती मात्र के लिए ही ऋण नहीं चाहिए होता है। उसे फसल पककर आने और उसे बाजार में बिकने के बीच के समय जीवन संचालन के लिए अन्य खर्चों की जरूरत होती है जिसके सरकारी बैंकिंग व्यवस्था में कोई प्रावधान नहीं होता। इसके लिए वह व्यक्तिगत ऋण लेने के लिए बाध्य होता है और फिर फसल आने पर वह दोनों में से एक ही ऋण को चुकता कर पाता है। यह स्थितियाँ लगातार कई सालों तक बनी रह सकती है क्योंकि छोटे और मध्यम आकार के किसान दोनों ऋणों को एक साथ चुकाने में असमर्थ ही रहते हैं। इस बीच प्राकृतिक आपदाओं के कारण बहुत बार पैदावार शून्य तक पहुँच जाती है। उन क्षेत्रों में तो यह हाल बहुत ही बदतर हैं जहाँ सिंचाई के लिए बारिश पर निर्भर रहना पड़ता है। कई बार किसान सूखे की समस्या से निपटने के लिए कुँओं के निर्माण के लिए भी व्यक्तिगत स्तर पर साहूकारों से ऋण लेता है और पानी न निकलने की दशा में वह ऋण के जाल में फँसता चला जाता है।

विवेचित उपन्यासों में सबसे पहला नाम आता है संजीव का 'फाँस' यानी फाँसी का फंदा जो हर वक्त किसान के सामने लटका ही रहता है। इसमें महाराष्ट्र राज्य के यवतमाल जिले के 'बनगाँव' नामक जगह के किसानों की भूमंडलीकरण के पश्चात उत्पन्न हुई परिस्थितियों का वर्णन है। उपन्यास में मुख्य रूप से बनगाँव ही नहीं; अपितु आसपास के क्षेत्रों में हो रही लगातार आत्महत्याओं की पड़ताल की गई है। भूमंडलीकृत भारत में लगभग पाँच लाख किसानों ने आत्महत्या की और करोड़ों लोग खेती से पलायन कर गए हैं।

'फाँस' उपन्यास खेती और किसानी की उन्हीं वास्तविक समस्याओं को हमारे सामने रखता है जो वर्तमान विदर्भ क्षेत्र के किसानों की है। उपन्यास का परिदृश्य चाहे

आज के दस साल पहले का हो; लेकिन स्थितियाँ आज भी वैसी की वैसी ही है। महाराष्ट्र के राहत और पुनर्वास मंत्री मकरंद पाटिल ने विधान परिषद् में एक सदस्य द्वारा पूछे गए सवाल का जबाव देते हुए बताया कि “जनवरी, 2025 से लेकर मार्च, 2025 तक विदर्भ क्षेत्र के 767 किसानों ने आत्महत्या की है। सबसे मजेदार बात यह है कि इनमें से 373 परिवार ही सरकारी मदद के पात्र हैं क्योंकि अन्य मरने वाले आत्महत्या के मानदंडों को पूरा नहीं करते।”[3] हम फाँस उपन्यास में ऐसी ही घटनाओं को पाते हैं। यह हमारे पास ताजा आँकड़े हैं जो किसानी के लिए ही नहीं अपितु मनुष्य होने के नाते भी शर्मनाक है।

संजीव भूमंडलीकरण के बाद सरकारी सहायता और उससे पैदा हुई कृत्रिम आत्महत्याओं को अपने उपन्यास में दिखाते हैं कि कैसे एक ‘जीन मोडिफाइड’ कपास बीज और व्यापारिक फसलों के दलालों ने सम्पूर्ण क्षेत्र को मौत के आगोश में धकेल दिया। “विदर्भ के किसानों ने कपास की अधिक पैदावार के लिए अमरीकी बीज बीटी का प्रयोग किया जो उनके लिए सत्यानाशी का बीज साबित हुआ। इस बीज से एक तो उनके खेत की जमीन की उर्वरता कम हुई दूसरा उन्हें कीटनाशकों का प्रयोग काफी मात्रा में करना पड़ा। लागत नहीं निकाल पाने के कारण उन्हीं कीटनाशकों को पीकर किसान जीवन समाप्त कर रहे हैं। उपन्यास में विदर्भ के शेतकार शिबू, उसकी पत्नी शकुन और दो बेटियों की कथा सामान्य जीवनचर्या से शुरू होती है और आगे चलकर किसान जीवन के दुःख, विद्रूपताओं और विडंबनाओं से पाठक को रूबरू करवाती है और फिर सामने आता है सामन्ती शोषण, कभी न चुकने वाला कर्ज, अशिक्षा और अन्धविश्वास के अँधेरे में डूबा समाज, झूठे सरकारी आँकड़े और व्यवस्था द्वारा शोषण। इन सब में फँसा शिबू बैंक का पूरा कर्जा चुकाने के बाद भी शोषण तन्त्र से हारकर आत्महत्या कर लेता है। बावजूद इसके, शिबू द्वारा की गई आत्महत्या को किसान द्वारा की गई आत्महत्या की श्रेणी में नहीं माना जाता क्योंकि उस पर कोई कर्ज नहीं था। जमीन बाप के नाम और आत्महत्या बेटा करें तो वह भी किसान द्वारा की गई

आत्महत्या नहीं मानी जाएगी और उसके परिवार को कोई सहायता सरकार द्वारा नहीं दी जाएगी। सरकारी अफसरों द्वारा इस प्रकार के कई दाँव पेच लगाकर एक ओर जहाँ किसान आत्महत्याओं के आंकड़ों में कमी लायी जाती है वही दूसरी और मुआवजे की रकम भी बचा ली जाती है।"[4] यही किसान जीवन का यथार्थ है।

'फाँस' उपन्यास में मोहन दादा नाम के पात्र की मनोदशा का जिक्र किया गया है जो अंत तक आत्महत्या तो नहीं करता; लेकिन पागल हो जाता है। एक बैल मर चुका और दूसरा लाने की हैसियत नहीं है तो दूसरे बैल की जगह स्वयं जुत जाता है। एक समय था जब मोहन दादा ने शेतकरी आन्दोलन में भाग लिया और जेल तक गया; लेकिन एक बार कपास का नया बीज क्या बोया उसी के साथ दशा ने ऐसी पलटी खायी की वही मोहन दादा अब अकेले ही गाँव के पुलिया पर बैठे–बैठे खुद से ही बतियाते रहते हैं। उसकी मनोदशा का वर्णन पत्नी सिंधुताई के मुँह से लेखक करवाते हैं - "बस एक ही डर है कि वह आत्महत्या न कर ले। कुएँ पर जाता तो पीछे-पीछे मैं भी चुपके से जाती हूँ। यही से बैठी-बैठी देखती रहती हूँ कि वे पुलिया पर है या नहीं। डर लगता है इस 'रणरणाती दुपार' में कहीं लू न लग जाए। चारों तरफ सूखा इलाका। बस थोड़ी सी घास पुलिया में रहती है। वही अकेले में पागलों की तरह जिस-तिस पेड़ पंछी से बातें करता रहता है। कई बार पीछे जाकर मैंने सुनने की कोशिश की कि किसी से न बोलने वाला बोलता 'माझा नवरा'* किससे बतिया रहा है ?...ऐसे ही अकेले पड़ते-पड़ते लोग इतने अकेले हो जाते हैं कि जीवन ही व्यर्थ लगने लगता है। सोचते हैं, मेरे जीने में क्या है और मरने में क्या है।"[5] उपन्यास के आरम्भ से ही लेखक मोहन दादा की कहानी से आने वाली परिस्थितियों की ओर संकेत कर देता है क्योंकि मोहन दादा शुरूआती बर्बाद होने वाले किसानों में हैं। उसके बाद आत्महत्याओं की आँधी आती है और सारा क्षेत्र मौत की दहशत से भर उठता है।

---

* मेरा पति

बनगाँव का शिबू जो अपनी आत्महत्या से पूर्व दो साल से बचाकर रखे हुए पैसे और पत्नी शकुन की हँसुली बेचकर बैंक का कर्जा चुकाता है क्योंकि शिबू ने कर्जा लिया था पच्चीस हजार और ब्याज जुड़कर वह 30 हजार हो गया और शिबू सारे जोड़ तोड़ करने के बाद भी 30 हजार का जुगाड़ नहीं कर पाया तो बैंक में ही पत्नी का गहना उतार कर बेचता है और बैंक से ऋण चुकता होने की ख़ुशी में सारे गाँव में लड्डू बँटवाता है। उसको पता ही नहीं कि ये कर्जा ही उसके परिवार की बर्बादी की कहानी लिखेगा। बनगाँव के पड़ोसी गाँव का विट्ठल-उसकी पत्नी को प्रसव पीड़ा है और वह उसे डॉक्टर के पास ले जाता है; लेकिन डॉक्टर ने इलाज के नाम पर पाँच लाख माँगे। अगर नहीं दिए तो माँ और बच्चें में से एक ही ज़िंदा बचेगा। ऐसे गाँवों में डॉक्टर और महाजनों की मिलीभगत होती है। इलाज के नाम पर अधिक पैसा माँगों। किसान के पास होता नहीं है तो महाजन से उधार लो और खेत गिरवी रख दो। विट्ठल के साथ भी यही हुआ। महादेव महाजन के पास खेत गिरवी रख दिए और पत्नी-बच्चें को बचा लिया लेकिन अगले ही दिन घर में खाने को एक दाना नहीं। खेत में जाकर कपास चुनने लगता है तो महादेव महतो का आदमी रोक देता है कि केवल खेत ही नहीं बेचे साथ में खड़ी फसल भी बिक गई। विट्ठल की आँखों के आगे अँधेरा छा गया कि उनके प्राण एक बार तो बचा लिए लेकिन अब क्या होगा? वह बच्चें और माँ के सामने कैसे जाएगा? संजीव उपन्यास में विट्ठल की मनोस्थिति और आत्महत्या के क्षणिक से समय को दर्ज करते हैं - "तो अब उसका कुछ भी न रहा? क्या लेकर जाएगा वह बायको[†] के पास, दो दिन के बच्चे के पास? सारे पैसे तो डॉक्टर शिंदे ले गया। इलाज अभी बाकी है। खुद के होने पर लाख धिक्कार बरस रहे थे। प्राण इस कदर अकुलाये कि अँधेरे में कुछ सूझा नहीं और जिस रस्सी से कापूस के बोरे के मुँह को बाँधना था, उसी को गले का फंदा बनाकर झूल गया खेत के पेड़ से।"[6] यह घटना केवल विट्ठल के आत्महत्या करने भर की नहीं थी। उसकी पत्नी भी दो माह बाद चल बसी। रह गया दो माह का पुत्र जिसको कोई भी

[†] पत्नी

रखने को तैयार नहीं। जन्म लेते ही अपने माँ-बाप दोनों को खा लिया हो, उसको भला कौन रखे अपने घर में। शिबू की छोटी बेटी उसे अपने घर ले आती है और उसी के साथ शिबू आत्महत्या की ओर बढ़ने लगता है।

शिबू ने बैंक का सारा ऋण चुका दिया था। केवल जमीन का कुछ हिस्सा ही महाजन के यहाँ गिरवी रखा हुआ था और वह कोशिश में था कि जल्द ही उसको भी छुड़ा लेगा; लेकिन विट्ठल का बेटा उसके गले की फाँसी बन गया। शिबू और उसकी पत्नी ने उसको पुत्रवत ही पाला; लेकिन गाँव के पंडित से यह देखा नहीं गया और उसने अफवाह फैला दी कि यह तो शिबू की छोटी लड़की कलावती और पड़ोसी अशोक का पुत्र है जिसको जन्म कहीं बाहर दिया गया और दो माह बाद घर में ले आए। जबकि पंचायत में सबके सामने कलावती उसको लेकर आती है। इसी बात को लेकर कलावती की माँ और अशोक की माँ के बीच झगड़ा हो जाता है। यह स्थितियाँ ज्यादा दिन नहीं चलती हैं और शिबू समझदार होते हुए भी समाज के तानों से तंग आ गया और एक दिन अपने ही कुएँ में रात को छलांग लगा दी। यह घटना अप्रासंगिक सी लगती है कि गाँव के सामने स्वीकार किए गए बच्चें के बारे में कैसे कोई गलत अफवाह उड़ा सकता है? गाँव इतना बड़ा भी नहीं होता कि बातें एक दूसरे से छिपी हुई हों; लेकिन फिर भी लेखक इसका वर्णन करता है।

शिबू इतना कमजोर भी नहीं था कि इतनी सी बात पर आत्महत्या कर ले। उसकी आत्महत्या के पीछे कोई एक घटना न होकर घटनाओं की शृंखला थी। वह जीवन से थक चुका था। शिबू की पत्नी को उसकी बातें याद आती है तब उसकी आत्महत्या का असली कारण सामने आता है – “रानी, ये कर्ज गले की फाँस है निकाल फेंको और जिस दिन मैंने निकाल फेंका, वह जैसे निहाल हो गया, गाँव भर में लड्डू बँटें, गीत गाते हुए बरसात में भीगते हुए नाचता रहा। रह-रहकर गले को देखता, चूमता -उस दिन देखा था तेरा रूप–गले में हँसुली निकाल रही थी तू, तमतमाया

चेहरा, फटकर बाहर निकलने को बेताब आँखें...जैसे हँसुली नहीं परान खींचे चले आ रहे थे, मगर तूने छोड़ा नहीं। फाँस को गले से निकाल ही फेंका। घर आए। पानी बरस रहा था, वह उसी गले से लिपट गया – अब तक इस फाँस में मुझे मुझसे दूर रखा...आज अब और नहीं।"[7] शिबू इसी आत्मग्लानि में आत्महत्या कर लेता है कि बैंक का कर्ज तो चुक गया; लेकिन उसकी पत्नी का अंतिम गहना जो उसको सबसे प्यारा था, वह भी बैंक में ही सबके सामने उतार कर देना पड़ा और फिर भी खेत नहीं छूट सके। यह स्थिति शिबू के सामने कई सालों से मौत की भूमिका तैयार कर रही थी। वह समझदार और पढ़ा लिखा किसान था। अपनी बेटियों को पढ़ा रहा था; लेकिन बीच में पढ़ाई छुडवानी पड़ती है और साथ ही सामाजिक दबाव। वह कई बार बेटियों के लिए लड़के देख चुका है; लेकिन कोई भी बिना दहेज ब्याहकर ले जाने को तैयार नहीं। रही सही कसर इस बात ने पूरी कर दी कि कलावती और अशोक ने मिलकर पुत्र पैदा कर लिया। उपन्यासकार शिबू के जीवन मात्र की स्थितियों का बयान नहीं करता; बल्कि उस किसान समाज की विडम्बनाओं और अन्तर्द्वन्द्वों को भी उजागर करता है जहाँ किसान समाज ही किसान का दुश्मन बन जाता है और शिबू की मौत के बाद पड़ोसी उसे किसान आत्महत्या का पात्र नहीं बनने देते।

उपन्यास में आत्महत्या की घटनाएँ परत दर परत और भी भयावह होती चली जाती हैं। उसी गाँव का बड़ा और क्रांतिकारी किसान जिसने सम्पूर्ण क्षेत्र में अलख जगाई कि कर्जा नहीं लेना है और किसी को भी मौत को गले नहीं लगाना है। वही सुनील एक दिन कर्ज के जाल में फँसकर आत्महत्या कर लेता है। सरकार ने बीटी कपास के अमरीकी बीज देकर किसानों की हालत सुधारने का प्रयास किया। सुनील अग्रणी किसानों में से था। उसने खूब प्रचार किया कि सबको यही बोना चाहिए और स्वयं ने भी खेत किराए पर लेकर और महाजन से कर्जा लिया और बो दिया; लेकिन वे पौधे निकले नपुंसक और उसी साल सूखा पड़ गया। सुनील स्वयं को सम्भाल नहीं पाया। स्वयं को ही दोष देने लगता है। "आखिर-आखिर तक उसमें एक ही बात का

मलाल रहा-दिल्ली में ही बैठकर क्यों बना ली सरकारों ने हमारे गाँवों के कायाकल्प की योजना ? क्यों जगाए सपने - बीटी बीज की तरह बाँझ सपने। मर गए लोग। हमसे पूछते - हम बताते - बड़े नहीं छोटे-छोटे सपने चाहिए हमारे गाँव को। हवाई नहीं, धरती के! गाय नहीं बकरी। फिर सबसे ऊपर दान नहीं। पानी! दान वापस ले लो। हमे सिर्फ सिंचाई के लिए थोडा सा पानी दे दो।"[8] सुनील कितना भी जागरूक रहा होगा; लेकिन जल्दी से सम्पन्न होने की ललक हर व्यक्ति में होती है। सुनील भी सरकार की योजना का व्यावहारिक पक्ष न देख सका। जो सुनील कहता था कि एक भी किसान ने आत्महत्या की तो मेरे जीवन को धिक्कार है वही दो साल में ही पस्त हो गया।

लेखक सुनील के अंतिम क्षणों की पीडादायक और बेबस मौत को दिखाते हैं – "नाले के नीम की यह घनेरी छाँव। आज एक भी परिंदा नहीं है पेड़ पर! नीचे गिरा छटपटाता आखिरी परिंदा भी उड़ जाना चाहता है। आसपास न कोई आदमी न कोई जानवर। सिर्फ है - एंडो सल्फास पीकर प्रायश्चित करता-सा सुनील। अब क्या सोचना और क्या समझना! लो असर शुरू हो गया। बँधने लगा जहर। पेट में भीषण मरोड़। जबरदस्त एंठन, खींचे चली आ रहे हैं प्राण। मुँह से झाग। खींचे चले आ रहे हैं स्नायु! काठ के बेंच से लुढक गया जैसे आदमी नहीं वह भी काठ का कुंदा हो। आखिर बार फिर से अपने फैले खेत नाले उड़ती पीली तितलियों और मेंड़ के पेड़-पल्लवों को देखने की कोशिश! विदा मेरी बायको, विदा मेरे होनहार बेटे विजयेन्द्र. विदा मेरी बेटियों, विदा मेरे बैलों, विदा मेरे गाँव के लोगों, पाटिल जी, दोस्तों, शेतकरी परिवारों, मेरे अपने मेरे सपने...।"[9] सुनील का पुत्र विजेन्द्र, जिसने पीएच.डी. की है जब अपने पिता की आत्महत्या के समाचार सुनता है तो वह विदेश जाकर पढ़ने का सपना त्यागकर किसानों की समस्याओं पर शोध करने लगता है। वह आत्महत्या के वास्तविक कारणों को खोजने का प्रयास करता है जिसके मूल में समाज का ढाँचा ही मुख्य रूप से जिम्मेदार है।

किसान समाज में सामूहिक जीवन शैली की धारणा वर्षों से चली आ रही थी जिसमें व्यक्तिगत परेशानियों को समाज की समझकर समाधान ढूँढा जाता था; लेकिन आधुनिक वैश्विक पूँजीवादी दौर के कारण एकीकृत परिवार की अवधारणा जैसे–जैसे घर करती गई - किसान अकेला पड़ने लगा। पहले वह खेती को ही अंतिम सत्य मानता था। उसी में जीना मरना होता था। अब आवश्यकताएँ बदल गईं।

उपन्यास के पात्र मोहन दादा ने अपनी अब तक की कुल जमा पूँजी से दोनों बेटों को पढ़ाया; लेकिन वे पढ़कर पिता की सहायता करने के बजाय हमेशा के लिए शहर में जाकर बस गए। मोहन दादा के ज्यादा कर्जा तो बेटों को पढ़ाने के कारण ही हुआ था। यही हाल सुनील का था कि वह अपने बेटे को अमरीका भेजना चाहता था इस वजह से अधिक पैदावार के चक्कर में बीटी कपास बो दिया और परिस्थितियाँ बिगड़ती गई। मोहन दादा के पागल होने और सुनील की आत्महत्या को केवल खेती से जोड़कर नहीं देखा जा सकता। यह समस्या पूँजीवादी और वैश्विक समाज से उत्पन्न हुई है जहाँ सामाजिक दबाव दबे पाँव चले आता है और किसानों की जिंदगियाँ लील जाता है। विजयेन्द्र अपने एक शोध पत्र में उन स्थितियों का आकलन करते हुए विचारक एमिल दुर्खिम की आत्महत्या की अवधारणा के आधार पर निष्कर्ष निकालता है कि "आत्महत्या के प्रति प्रत्येक समाज का एक सामाजिक झुकाव होता है। यह झुकाव व्यक्ति से परे और उसकी इच्छाओं से ज्यादा बलवान होता है। आत्महत्या के मूल तत्व कहीं न कहीं सामाजिक संरचना में मौजूद रहते हैं। खासकर उन समाजों में, जहाँ व्यक्ति समाज के अधीन होता है, वहाँ यह माना जाता है कि आत्महत्या उनके अनुशासन की अपरिहार्य क्रियाविधि है, खासकर सामूहिक आत्महत्या के मामलों में उसके बीजों को देखा जा सकता है। कृषक समाज का अपना अनुशासन होता है जिन पर उनके समुदाय के दबाव होते हैं। वे अपने जीवन का मूल्य ही कम आँकते हैं। जैसे ही किसान अपना मूल्य कम आँकने लगते हैं, उसके लिए कोई भी चीज जीवन को त्यागने का बहाना बन जाती है। कुछ समाजशास्त्रियों का मानना है कि अत्यधिक व्यक्तिकरण

आत्महत्या की ओर ले जाता है। आत्महत्या इसलिए कि जाती है कि समाज व्यक्तियों को अपने से पलायन करने देता है क्योंकि कुछ मामलों में वह अधिक से सम्पूर्ण होता है, समाज व्यक्ति को अत्यधिक संरक्षण में जकड़े रहता है।...धर्म के मूल्य उसे मरने से पहले ऋण उतार देने की ओर ठेलते हैं, जब तक ऐसा नहीं होता, आत्मा पर बोझ बना रहता है। प्रलोभन और जिम्मेदारियाँ उसे एक और खींचती है, अभाव दूसरी और। धीरे-धीरे सहमते-सहमते अँधेरे में हाथ उठाए वह कर्ज के मकड़जाल में फँसता चला जाता है।"[10] लेखक की इस समाजशास्त्रीय व्याख्या का कुछ हिस्सा किसान के यथार्थ और काल्पनिक जगत के बीच द्वंद्व की स्थित्तियों की ओर इशारा करता है; लेकिन समाज का चरित्र सामूहिक रूप से आत्महत्या करने वाला नहीं होता।

वैश्विक समाज में किसान समाज का मूल चरित्र बदल दिया है। इसके उदाहरण इसी उपन्यास में आए हैं जहाँ शिबू की पत्नी आत्महत्या न चुनकर संघर्ष का रास्ता चुनती है और नाना पात्र जैसे लोग लंबे समय से उन स्थितियों से लड़ते रहे हैं। वैश्विक पूँजीवादी समाज में तीव्र गति से परिवर्तन होने वाली संरचना को किसान समाज झेल नहीं पाता है क्योंकि एक तरफ पूँजी का प्रवाह है तो दूसरी तरह जड़ जमाए संस्कार और विपन्नता। अगर इसी किसान समाज के पास शासन और सत्ता को समझने वाली बुद्धि और संसाधन होते तो वह संघर्ष का मार्ग भी चुन सकता था। संजीव द्वारा एमिल दुर्खिम के उद्धरण के माध्यम से कहीं गई आत्महत्याओं की बात सम्पूर्ण समाज पर लागू नहीं होती। विजयेन्द्र एक ऐसे गाँव में सभा करता है जहाँ गाँव वालों ने लिखित रूप में सरकार से अनुमति माँगी कि उन्हें सामूहिक रूप से आत्महत्या करनी है। एमिल दुर्खिम के सिद्धांत के हिसाब से यह अनुमति सटीक बैठती है; लेकिन व्यावहारिक रूप से किसान समझदार और जीवन के प्रति मोह रखते हैं। सब लोगों ने एक साथ अनुमति माँगी यानी आत्महत्या समाज का शाश्वत सिद्धांत नहीं है। वे सरकार को दबाव में लेना चाहते हैं। उन्होंने लड़ने का एक हथियार आत्महत्या की घोषणा को बनाया है। नाना उसी सभा में भाषण देते हैं - "हमने सुना आप लोगों ने सरकार से लिखकर

आत्महत्या करने की इजाजत माँगी है! वाह क्या शिष्टाचार है! एइ मैं सद्कैं जावां! हमारा कहना है मरना है तो मर जाओ, ये परमिशन की नौटंकी क्यों? सोचते हो तुम्हारे दुखों से दुखी और द्रवित हो जाएगी सरकार! दान, दया की बरसात करेगी! है न? कीड़े-मकोड़े की तरह मर जाने वाले डरपोकों!...तुम के समझते हो तुम्हारे आत्महत्या कर लेने से शासन बदल जाएगा? प्रशासन बदल जाएगा? कुछ नहीं बदलेगा।"[11] इस प्रकार लेखक का यह सिद्धांत उन्हीं द्वारा दिए गए उदाहरणों द्वारा ख़ारिज हो जाता है।

एक महिला किसान की आत्महत्या का जिक्र भी फाँस उपन्यास में आता है – आशा। उसका पति शराबी है और वही घर खेत का सारा कार्य देखती है। उसने आत्महत्या की तब उसके सामने केवल अपने शराबी पति की स्थिति मात्र ही सामने नहीं थी; बल्कि वह अभावों और कष्टों को अपनी नियति समझ बैठी थी और उनसे निरंतर लड़ रही होती है; लेकिन एक कमजोर क्षण आया और उसने सल्फास खा लिया। दो बेटियों का विवाह और उसके लिए दहेज जुटाना उसके लिए बहुत भारी हो रहा था। पूरा खेत रेहन पर चला गया और अबकी बार जो कपास की फसल हुई उसका भी सही दाम नहीं लगा तो वापस घर ले आया। रात में भयंकर बारिश हुई और सारा कपास पानी में बह गया उसके साथ ही आशा के जीवन के सपने भी। वह निराश हो जाती है - यह शेती मेरे जीवन का जंजाल हो गई और यह जिंदगी भी! धत् तेरी जिंदगी की। जीवन से पीछा छुड़ाने की यह हिम्मत लंबे समय से चली रही परेशानियों और संघर्ष कर-कर के परिणामों की नाउम्मीदी के बाद की स्थिति है। जहाँ मनुष्य जीवन के प्रति मोह का त्याग कर देता है। ऐसे ही एक किसान माधव - जो अधिक मुनाफे के चक्कर में सूखे प्रदेश में गन्ने की फसल लगा लेता है और एक दिन उसी खेत में स्वयं पर केरोसिन डालकर खेत के साथ आग में जलकर मर जाता है। पैदा हुआ भी तो बिका नहीं क्योंकि उस क्षेत्र में गन्ने की माँग ही नहीं है। अव्यावहारिक सरकारी नीतियों ने माधव की धीरे-धीरे चल रही जिंदगी में मौत का तड़का लगा दिया।

'फाँस' उपन्यास में किसान आत्महत्याओं के अनेक उदाहरण हैं। एक के बाद एक आत्महत्या–जिनका आँकड़ा उपन्यास लिखे जाने तक का दिया हुआ है। लाखों की संख्या में 20 वर्ष के भीतर किसान आत्महत्या कर लेते हैं। यह उपन्यास केवल विदर्भ क्षेत्र की स्थितियों मात्र को दर्शाता है। देश के अन्य भागों में आँकड़े इससे अलग हो सकते हैं; लेकिन मूल समस्या उदारीकरण के दौर की भारत में लगभग समान-सी ही है। उनका स्वरूप अलग हो सकता है; लेकिन मूल चरित्र पूँजीवादी-वैश्वीकरणवादी नीतियों में ही समाया हुआ है।

सुनील चतुर्वेदी का उपन्यास 'कालीचाट' में उदारीकरण के पश्चात् उत्पन्न हुई उन स्थितियाँ का जिनमें किसान जीने और मरने के बीच एक ऐसे संघर्ष में फँस जाता है जहाँ समाज का न केवल नैतिक पतन हुआ है अपितु सामन्ती युग नए रूप में हमारे सामने प्रकट हो गया है। साहिबु जैसे एक नहीं अनेक किसान जो कर्जे में ऐसे दबे हुए हैं जिन्होंने चाहे पेड़ से लटकर आत्महत्या न की हो; लेकिन वे जीते जी मरणासन्न जिंदगी जी रहे हैं। मालवा क्षेत्र में पानी की भयंकर कमी और उसी बीच सरकारी अव्यवस्थाओं, भ्रष्टाचार और महाजन संस्कृति के नए रूप का परिचय 'कालीचाट' उपन्यास में मिलता है।

साहिबु बैंक से कोई कर्जा नहीं लेता; लेकिन उसके नाम से दलालों ने जमाबन्दी निकलवाकर बैंक से कर्ज ले लिया और अब वह उसको चुकता करना है। वह इस बात से अनभिज्ञ है; लेकिन जमीन की कुड़की आ जाती है। वह जमीन से पानी निकालने के लिए महाजनों से कर्जा लेता है; परन्तु जमीन में पानी हो तो आए। साहिबु का एक पैर कट जाता है भीमा सामंत के घर का कार्य करते हुए। भीमा उसका इलाज करवाने के बजाए इलाज के नाम पर उसको कर्जा देता है और वह कर्जा बढ़ते हुए उस स्तर तक पहुँच जाता है कि साहिबु का सारा खेत भीमा के पास गिरवी रखना पड़ता है। एक तरफ बैंक वाले साहिबु पर दबाव डालते हैं कि बैंक का ऋण चुकता करे, नहीं तो

जमीन नीलाम हो जायेगी। दूसरी तरफ भीमा अपने पैसे के लिए पहले ही जमीन पर कब्जा कर बैठा है। उधर बेटे साहिबु पर दबाव बनाते हैं कि जमीन बेच देनी चाहिए क्योंकि गाँव में कम्पनी वाले अच्छे पैसे दे रहे हैं। साहिबु के लिए पुरखों की जमीन बेचना अपनी आत्मा का मोल कर लेने जैसा है। एक दिन साहिबु इन परिस्थितियों से तंग आकर हमेशा के लिए घर छोड़कर चला जाता है। पीछे रह जाते हैं उसकी पत्नी और बेटा सुरेश। साहिबु एक बार गया तो कभी वापस नहीं लौटा। शायद कहीं मर गया होगा किसी अनजान जगह जाकर या कहीं भीख माँगकर गुजारा कर रहा होगा। लेखक साहिबु की स्थिति को पाठको पर ही छोड़ देते हैं। उसी गाँव में युनुस ने बैंक से और महाजन से कर्जा लिया ताकि बौरवेल करवा ले और खेती करके कर्जा से मुक्ति पाए; लेकिन पानी नहीं निकलता और एक दिन वह सदमे के कारण मर जाता है।

सुभाष पंत ने कालीचाट उपन्यास में दिखाये गए गाँव सिन्द्रानी की कहानी को 'खामोश वक्त की चीख' कहा है - "वहाँ सामन्ती युग का एक महाजन भीमा है, जिसके शोषण के हथियार ज्यादा नफीस और घातक हैं। अपने कुएँ से मुफ्त पानी देने की विनम्रता में उसका फैलता हुआ शोषणतन्त्र है। उदारीकरण के दौर में उपजे नए महाजन हैं। उसके कर्ज का नागफाश है। कल्याणकारी योजनाएँ है। उन्हें गले के फंदे में बदलता भ्रष्टतंत्र है। बैंक है, बिचौलिए हैं और नेता है और उनके किसानों की ओर लपकते हाथ हैं। किसानों को अपनी जमीन से बेदखल करते कोर्पोरेट हैं और दोस्तों का लिबास पहने फंडिग एजेसियों की जुबान बोलते एनजीओ हैं। बलात्कार और आत्महत्याएँ हैं। सिन्द्रानी की जमीन के भीतर 'काली चाट' (काली चट्टान) है, जिसके नीचे जल है, आशा, आकांक्षा और सपने हैं। उस चट्टान को तोड़ने के लिए अनवरत घन बरसाते संघर्षशील जीवंत किसान हैं। वह चट्टान टूट नहीं रही। उससे तोड़ता किसान खुद टूट रहा है।...किसान के पास सिर्फ दो विकल्प हैं। या तो जमीन बेचें या फिर आत्महत्या करने के लिए विवश हों। हम मूक दर्शक हैं और मीडिया खामोश है। इस खामोश वक्त में यह उपन्यास एक चीख है।"[12] आत्महत्याओं में उन्हीं लोगों को गिना

जाता है जो किसी पेड़ से लटककर मरें हों या फिर कुएँ में कूदे हो या फिर जहर ही खा लिया हो; लेकिन साहिबु और युसूफ जैसे किसान तो उन आत्महत्याओं आंकड़ों में कहीं शामिल ही नहीं है। 2018 की पंजाब केसरी की एक रिपोर्ट के अनुसार सात वर्षों में लगभग सौलह हजार किसानों ने आत्महत्या की है।[13] इन सौलह हजार में साहिबु और युसूफ की गिनती नहीं है। कालीचाट किसान आत्महत्याओं का एक नया रूप हमारे सामने लाता है।

'अकाल में उत्सव' उपन्यास में एक खेतीहर किसान रामप्रसाद के आत्महत्या की कहानी उपन्यासकार पंकज सुबीर ने कही है। इस कहानी में गाँव के किसी ब्याजखोर द्वारा रामप्रसाद के नाम से 'किसान क्रेडिट कार्ड' बनवा लिया जाता है और जब रामप्रसाद को यह बात तब पता चलती है तो बैंक वाले कर्ज चुकाने के लिए तगादा करते हैं। रामप्रसाद छोटा किसान है और दूसरों के खेतों में भी कार्य करता है। उपन्यास का फलक रामप्रसाद और उसकी पत्नी के आपसी संबंधों तथा धीर - धीरे रामप्रसाद के जीवन को आत्महत्या की स्थिति तक पहुँचने तक गाढ़ा होता जाता है। हम पहले भी इस सम्बन्ध में विचार कर चुके हैं कि किसानों की आत्महत्या केवल खेती से जुड़ा मसला नहीं है अपितु वह 'किसानी जीवन पद्धति' में आए विकार का मसला है। एक तरफ रामप्रसाद अपनी पुरानी मान्यताओं से पार नहीं पा रहा है तो दूसरी तरफ खेती करना महँगा हो गया है।

रामप्रसाद की बहन की सास के बीमार होने से उसकी आत्महत्या की ओर बढ़ने की प्रक्रिया आरम्भ होती है जो खेत में ओले पड़ने से खराब हुई फसल के बाद आत्महत्या पर जाकर रुकती है। बहन की सास बीमार हो गई तो रामप्रसाद ने अपनी बचत का रूपया उसके इलाज में लगा दिया। वह बच नहीं सकी और उसके मृत्युभोज के लिए भी रामप्रसाद को खर्चा करना पड़ा क्योंकि उसकी बहन की स्थिति उससे भी कमजोर थी। वह खर्चा रामप्रसाद के लिए मृत्यु का संदेसा लेकर आया। प्रशासनिक और सरकारी भ्रष्ट्राचार तथा सामाजिक दबावों के चलते रामप्रसाद की जिंदगी क्षण-

क्षण छोटी होती जाती है। रामप्रसाद जब बैंक का नोटिस किसी से पढ़वाता है तो समझ नहीं पाता कि उसने कब किसान क्रेडिट कार्ड ले लिया था। वह बैंक में जाकर पूछता है तब समझ आता है - "केसीसी में तो पूरे देश में यही चल रहा है। किसान क्रेडिट कार्ड आसान तरीका है बैंक से 6 महीने के लिए नोमिनल ब्याज पर पैसा लेने का। बिचौलिए और हमारे ही बैंक के लोग मिलकर सारा खेल करते हैं। 6 महीने बाद पूरा पैसा जमा कर देते हैं और फिर उसी खाते में एक बार फिर से लोन ले लेते हैं। पैसा जमा हो जाता है तो किसी को कोई परेशानी नहीं होती। किसान तक को नहीं पता चलता कि उसके नाम से कोई किसान क्रेडिट कार्ड बना है।"[14] इस बात की शिकायत वह कलेक्टर से लेकर रेवन्यू विभाग तक करता है; लेकिन उसकी सुनवाई हो उससे पहले ही मावठ की बारिश के साथ हो ओले गिरते हैं और रामप्रसाद उस स्थिति में स्वयं को संभाल नहीं पाता। रात का समय है और बारिश आरम्भ हो चुकी है। गेहूँ की फसल पककर तैयार है बस काटने की ही देरी है तभी रामप्रसाद की पत्नी सुनती है अचानक से कट्ट की आवाज यानी किसान की मौत की आवाज–जिस पर किसी का वश नहीं है।

लेखक रात में होती हुई उस ओलावृष्टि के समय रामप्रसाद और कमला की मनोस्थिति को दिखाता है - ओले की प्रत्येक ध्वनि में खौफ़ है और मौत की आवाजें। ओलो के आकार में धीरे-धीरे वृद्धि होती जा रही है और रामप्रसाद के सपने, उम्मीद, आशाएँ सब उसी के सामने आँगन में बिछते जा रहे हैं – "मौत और दहशत, इस छोटे से मकान के आसपास कभी ध्वनि के रूप में, कभी दृश्य के रूप में नाच रहे हैं। ध्वनियाँ जो बता रही है कि सब कुछ समाप्त हो रहा है। दृश्य जो दिखा रहे हैं कि किस प्रकार से सब कुछ समाप्त हो रहा है। जब यह ध्वनियाँ रुकेगी, यह दृश्य थमेंगे, तो कहीं भी कुछ नहीं बचेगा। ओले बाहर जाने किस-किस चीज से टकराकर, जाने किस-किस प्रकार की ध्वनियाँ पैदा कर रहे हैं। लेकिन हर ध्वनि में खौफ़ है। रामप्रसाद पत्थर की तरह जड़

होकर बैठा है, जमीन पर बिची चटाई पर। एक ओला, खुले हुए दरवाजे पर टकराकर सीधा अंदर आकर गिरा है, दोनों के सामने। ओला लगभग नींबू के आकार का है। गोबर से लीपे कच्चे फर्श पर गिरने के बाद पिघलकर धीरे-धीरे पानी ही रहा है। कमला की प्रार्थनाएँ अब बंद हो गई हैं, अब वह कोस रही है, रो-रोकर कोस रही है। रोती जा रही है और गालियों के साथ कोसती जा रही है, ठीक वैसे ही जैसे ग्रामीण महिलाएँ मातम मनाने के समय करती है। जाने किस-किस को कोस रही है। सारे अज्ञातों को कोस रही है। उन सबको कोस रही है, जिनसे कुछ ही देर पहले मनौतियाँ माँग रही थी। उन सबको गालियाँ बक रही है। सब कलेक्ट करने वालों को। उन सबके सर्वनाश को लेकर कोस रही है वह अब।...जैसे भादों की रात गरजते और बरसते हैं, वैसे ही गरज बरस रहे हैं बादल। हवा, पानी, ओले। गेहूँ की फसल के तीनों बड़े दुश्मन अपने विकराल रूप में सूखा पानी गाँव के खेतों में तांडव कर रहे हैं। ओलों की आर खा-खाकर बालियाँ जमीन पर गिर रही है, जो कुछ घंटो पहले अपने गर्भ में कुछ होने का अहसास लिए, हवाओं के स्पर्श पर झूल रही थी, झूम रही थी। ओले गेहूँ के पौधों पर जहाँ जाकर टकराते हैं। वही से उसे तोड़कर गिरा देते हैं। जो पौधे हवा के कारण पहले ही जमीन पर गिर चुके थे, अब ओलो से दबाकर उनकी कब्र बन रही है। जिन्दा कब्र या शायद यह सफेद कफन है, जो शायद पूरे खेत पर बिछा दिया गया है। कफन फसल का और कब्र किसान की।"[15] उपन्यास में ओलो की भयावहता का वर्णन जिस रूप में हुआ वह आगे चलकर और सघनता ले लेता है जब रामप्रसाद को पता चलता है कि उसने जिस बाँटें की जमीन पर गेहूँ बो रखा है उसका मुआवजा तो खेत मालिक को मिलेगा। उसने पटवारी से खूब गुहार लगाई कि खर्चा सारा मेरा हुआ है, तो मुआवजा भी मुझे ही मिलना चाहिए; लेकिन कानूनन रामप्रसाद उसका अधिकारी नहीं है।

रामप्रसाद ग्रामसेवक से गुहार लगाता है कि कैसे भी करके मुआवजा दिला दे; लेकिन ग्रामसेवक घूस माँगता है। जमीन के हिसाब से दो हजार तीन सौ रूपये दे दे तो उसको मुआवजा दिलवा सकता है। रामप्रसाद के वह दो हजार तीन सौ ऐसे दिमाग में

घुसे कि उसी रात वह अपने कुएँ की मुंडेर पर रस्सी बाँधकर लटक गया। बैंक, कलेक्टर, पटवारी, ग्रामसेवक और अन्य अधिकारियों ने मिलकर रिपोर्ट बनवाई कि रामप्रसाद पागल था और अपने अंतिम समय में एक ही बात दोहरा रहा था - दो हजार तीन सौ – इसलिए कानूनन वह आत्महत्या के मुआवजे का भी हकदार नहीं है। रिश्वत माँगने वाले पटवारी ने अपना बयान दर्ज करवाया - "आज जब मैं मुआवजे का सर्वे करने गया था, तो यह आदमी अजीब तरीके से व्यवहार कर रहा था। जैसे कोई पागल हो। मैं कुछ पूछता था और यह कुछ जबाव देता था। मुझे लगता है कि उसे सदमा लगा था, अपने खेतों में खड़ी फसल नष्ट होने का। बाद में तो यह हुआ कि मुझे चौकीदार को बुलवाना पड़ा था उसे घर भेजने के लिए, वह जा नहीं रहा था। दूसरे किसानों का सर्वे नहीं करने दे रहा था।"[16] और फिर रामप्रसाद घर गया तो सीधा जाकर कुएँ में लटक गया।

'अकाल में उत्सव' उपन्यास में सूखा पानी गाँव के रामप्रसाद की मात्र कहानी नहीं है; अपितु उदारीकरण के बाद जिन क्षेत्रों में तात्कालिक सरकारों ने ध्यान नहीं दिया वहाँ किसान आत्महत्या की दर सबसे अधिक है। हालाँकि प्राकृतिक आपदाओं के कारण परेशान होकर किसान आत्महत्या के गिने-चुने मामले ही आते हैं क्योंकि किसान प्राकृतिक आपदाओं से वर्षों से लड़ रहा है और उसके समानांतर एक ऐसी व्यवस्था उसने बना रखी है कि लंबे समय तक सूखा नहीं पड़े तो वह जी सकता है; लेकिन जब से वह सरकार और व्यवस्था के साथ जुड़ा है तब से उसके सामने कृत्रिम आपदाएँ और प्राकृतिक आपदाएँ मिलकर ऐसा माहौल पैदा कर देती हैं कि उसे जीवन को ही समाप्त करना पड़ रहा है। सबसे बड़ा कारण ऋण होता है जो पीढ़ी दर पीढ़ी चलता ही रहता है और साहूकार लोगों का गणित अनपढ़ किसानों को समझ नहीं आता।

पंकज सुबीर ने एक ऐसा ही उदाहरण अपने उपन्यास में दिया है। उस पर टिप्पणी करते हुए पवन कुमार लिखते हैं - "किसान और साहूकार का आपसी रिश्ता पीढ़ियों पुराना होता है और पूरी तरह विश्वास पर आधारित होता है। साहूकारों ने तो अपना ही गणित और पहाड़े बना रखे हैं। किसान जब आता, तो वह अपना जोड़-भाग किसान को बताने लगता है 'देख भाई तीन महीने का हो गया ब्याज, तो ढाई सौ के हिसाब से ढाई सौ तीया पन्द्रह सौ और उसमें जोड़े चार सौ पिछले तो पन्द्रह सौ और चार सौ जुड़ के हो गए छब्बीस सौ। उसमें से तूने बीच में जमा किए तीन सौ, तो तीन सौ घटे छब्बीस सौ में से तो बाक़ी के बचे अट्ठाइस सौ, ले माँड दे अँगूठा अट्ठाइस सौ पे। समझ में आ गया ना हिसाब? कि फिर से समझाऊँ?' किसान को क्या समझ में आना। वह चुपचाप से अपना अँगूठा लगा कर उठ के आ जाता है। रकम बढ़ती जाती है, ब्याज बढ़ता जाता है और ज़ेवर धीरे-धीरे उस ब्याज के दल-दल में डूबता जाता, डूबता जाता है। किसान के जीवन में बढ़ते दुख उसकी पत्नी के शरीर पर घटते ज़ेवरों से आकलित किए जा सकते हैं। नई बहू जब आती है तो नए घाघरे, लुघड़े, पोलके के साथ तोड़ी, बजट्टी, ठुस्सी, झालर, लच्छे, बैंदा, करधनी में झमकती है। फिर धीरे-धीरे उम्र बढ़ने के साथ खेती-किसानी की सुरसा अपना मुँह फाड़ती है और महिलाओं के शरीर पर से एक-एक ज़ेवर कम होता जाता है। ज़ेवर जो शरीर से उतर कर किसी साहूकार की तिजौरी में गिरवी हो जाते हैं। और किसान के घर की चीज़ एक बार गिरवी रखा जाए तो छूटती कब है? पहले सोने के ज़ेवर जाते है, फिर उनके पीछे चाँदी के ज़ेवर। हर ज़ेवर जब गिरवी के लिए जाता है, तो इस पक्के मन के साथ जाता है कि दो महीने बाद जब फ़सल आएगी, तो सबसे पहला काम इस ज़ेवर को छुड़वाना ही है। लेकिन

अगर यह पहला काम ही अगर सच में पहला हो जाता, तो इस देश में साहूकारों की तिजोरियाँ और उनकी तोंदें इतनी कैसे फूल पातीं।"[17] और यही स्थितियाँ रामप्रसाद जैसे किसान को अपने ही कुएँ में लटकने के लिए बाध्य कर देती है।

'हलफनामे' उपन्यास में किसान आत्महत्या की कहानी पृष्ठभूमि में चलती है। स्वामीराम नामक किसान आत्महत्या कर लेता है और उसका पुत्र मकई राम सरकार द्वारा लायी गई 'किसान आत्महत्या मुआवजा योजना' में अपने पिता की पात्रता के लिए हलफनामे पेश करता है और साथ – साथ स्वामीराम के आत्महत्या करने के पीछे के कारणों को खोजता चलता है। मकईराम को ये 17 हलफनामें अपने पिता की मौत के कारणों तक ले जाते हैं। जिनका निष्कर्ष यही निकलता है कि स्वामीराम केवल कर्ज के कारण नहीं मरा; बल्कि वह लंबे समय से किसानी संरचना और किसानी पारिस्थितिकी में आए बदलावों की तह तक पहुँच चुका था जिसको पानी के दलाल और सत्ता संरचनाएँ सहन नहीं कर पायी और न ही स्वामीराम ही अपनी आत्मग्लानि को पचा पाया। स्वामीराम से अपने खेत में खूब ट्यूबवेल खोदे; लेकिन कहीं पानी नहीं आया। अंत में वह उसके कारणों की खोज करता हुआ इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि जब तक पानी के प्राकृतिक स्रोतों का पुन: उद्धार नहीं करेंगे तब तक सूखे की स्थिति बनी रहेगी और इसके लिए भूगोल में आए बदलावों को पुन: वास्तविक रूप में लाना होगा। 'डार्क जोन' घोषित इलाके में टयूबवेल खोदना भी एक धंधे की तरह उपन्यास में दिखाया गया है जिसका शिकार स्वामीराम भी हो जाता है।

'हलफनामे' उपन्यास में पत्रकार पी. साईनाथ की विदर्भ क्षेत्र की खोज रिपोर्टस् के निष्कर्षों को आधार बनाया गया है और एक पात्र में पी. साईनाथ को भी दिखाया गया है। स्वामीराम और सुदर्शन[‡] (पी. साईनाथ) दोनों ही अपने स्तर पर प्रयास करते नजर आते हैं। पी. साईनाथ ने अपनी पुस्तक 'एवरीबडी लव्ज ए गुड़

[‡] 'हलफनामे' उपन्यास में सुदर्शन पी. साईनाथ का प्रतिनिधित्व करता है

ड्राउट' में विदर्भ, कालाहांडी और तमिलनाडू के सूखे क्षेत्रों में की गई अपनी रिपोर्टों में ऐसी ही अनेक घटनाओं का उल्लेख किया है कि कैसे पानी पर कुछ लोग अधिकार कर लेते हैं। 'रामनाड के जल सम्राट' नामक रिपोर्ट में पी. साईनाथ ने तमिलनाडू के सायल गुड्डी में जल सम्राटों द्वारा पानी के स्रोतों पर कब्जा कर लेने और छोटे किसानों की स्थिति को दिखाया है। उसी रिपोर्ट का एक हिस्सा देखिए - "यहाँ (सायलगुड्डी) के जल सम्राटों ने दावा की कि सायलगुड्डी में जो सार्वजनिक तालाब हैं उनमें बने कुओं के वे मालिक हैं। उनका कहना है कि तालाब की तलहट्टी में बने तेरह निजी कुओं पर मुथचेलन, अरूणाचलम और शिवलिंगिम का स्वामित्व है। इस धाँधली के खिलाफ संघर्ष कर रहे तमिलनाडू किसान सभा के एक नेता आर. करूणानिधि ने मुझे बताया कि पानी बेचने का धन्धा यहाँ बहुत बड़े पैमाने पर चल रहा है। एक घडा पानी का ये लोग तीस पैसे लेते हैं और प्रतिदिन एक कुएँ का 500 घड़ा पानी बिकता है। इस प्रकार ये तीनों प्रतिमाह 60 हजार रूपये की कमाई कर रहे होते हैं। पानी के धंधे में लगे लोग प्राय: ऐसे लोग हैं जिनके राजनीतिक सम्बन्ध भी हैं। आगे चलकर इनका बाजार वे गाँव होने वाले हैं जो अभी दिखाई नहीं दे रहे हैं; लेकिन आने वाले दिनों में जिनके सामने पानी का भिस्शन संकट पैदा होगा।"[18] यह संभावित आसन्न संकट 'हलफनामे' में सामने आता है। 'सवेरा' गाँव जो कि डार्क जॉन घोषित हो चुका है जहाँ बोरिंग करना अपराध है वहाँ धड़ाधड़ बोरिंग हो रहे है और इस संकट का खेल स्वामीराम को समझ आ रहा है - "डार्क जोन एरिया मतलब अँधा इलाका, पानी से मरहूम, बोरिंग डालना अपराध है। पर सरकारी महकमें में लाल की अच्छी मिलीभगत थी। उसकी छत्रछाया में खोदाखादी का काम चलता रहा। बोरिंग के धंधे में उसका सर्वाधिकार था। दक्षिण भारत से सैंकड़ों ट्रक पाइप लेकर पहुँच रहे थे। देखते ही देखते लाला मालामाल हो गया था और छोटे किसान तमाम कर्ज में डूब गए थे। फसल का कोई ठिकाना नहीं था, एक पैदावार अच्छी हुई तो दूसरी बिगड़ गई।"[19] यही लाला फिर स्वामीराम जैसे लोगों को कर्ज देते हैं और किसान की जमीन गिरवी रख ली जाती है

और अंत होता है जब स्वामीराम जहर गटक लेता है। पानी की कमी की भीषणता उपन्यास में गहरे दर्द के साथ प्रकट हुई है क्योंकि स्वामीराम पानी के लिए मौत को गले लाग लेता है। स्वामीराम जानता है कि जब धरती में जल जाएगा ही नहीं तो निकलेगा कैसे? अगर जल नहीं जाने दिया तो स्वामीराम की तरह ही सवेरा गाँव के कितने की किसान इस सूखे और लालाओं की मिलीभगत के चलते आत्महत्या करने को मजबूर हो जाएँगे।

स्वामीराम की पत्नी उसकी मृत्यु के पश्चात जिस गहरे शोक में चली जाती है उसका वर्णन मकईराम के मुँह से हुआ है - "अम्मा ने जल से भरा कलश उठाया था और सारा पानी जमीन को सुपर्द कर दिया था।...अम्मा ने ऐसा कई बार किया...तब अम्मा ने बताया कि वह बापू की इच्छा पूरी कर रही है। आखिर दिनों में बापू जल से भरा कुछ भी सहन नहीं कर पाता था। उस पर सनक स्वार हो गई थी, वह घर का हर बर्तन उलटा देता। बापू सनक में कहता था - ये धरती बहुत प्यासी है, इसे जल दें, मकई की माँ...एक दिन वह तलैया की तरफ गया और वहाँ लोटे से पानी भरता और किनारे की जमीन पर उलटा देता। उसकी सनक थी कि सारी धरती को जल चाहिए, सिर्फ तलैया तालाब को नहीं। उसने एक दिन कहा कि बर्तन पानी से भरा हुआ रहा तो लाला कैसे मानेगा बोरिंग फेल है, पटवारी विश्वास नहीं करेगा, सूखा पड़ा है। मकई की माँ, धरती के उपर जो पानी है, उसे सुपर्द करोगी, तभी धरती के गर्भ से जल फूटेगा।"[20] स्वामीराम की पत्नी आत्महत्या नहीं करती है; लेकिन स्वामीराम की पीड़ा को उसके चले जाने के बाद भी निरंतर झेलती रहती है। उपन्यास में लेखक किसान आत्महत्या का एक और पहलू सामने रखते हैं - हत्या। जितने किसान आत्महत्या करते हैं वे सब के सब फसल खराब होने या किसानी जिंदगी से तंग आकर नहीं करते। कभी - कभार उनकी हत्या भी हो जाती है क्योंकि वे किसानी के बर्बाद होने की साजिशों के खिलाफ संघर्ष करने की कोशिश करते हैं। उदारीकरण के बाद किसानी के बर्बाद होते चले जाने

के कारण अधिकतर कृत्रिम हैं जो जों मुनाफाखौर मल्टीनेशनल कम्पनियों ने सरकारी तंत्र और नेताओं की मिलीभगत से पैदा हुए हैं।

'हलफनामे' उपन्यास का स्वामीराम जहर खाकर आत्महत्या करता है। वह गाँव के जोहड़ में पड़ा मिलता है रात के समय और जिन तीन लोगों ने उसे सबसे पहले देखा, वे थे - लाला के तीन घरेलू मजदूर। वे स्वामीराम की लाश के साथ एक जहर की शीशी भी साथ लाए थे और उन्होंने ही सबको बताया कि स्वामीराम ने जहर खा लिया। दरअसल स्वामीराम ने गाँव में बौरवेल खुदवाने के खिलाफ आवाज उठायी थी क्योंकि उससे किसी को कोई फायदा नहीं होने वाला था। उसने पंचायत में भी बौरवेल के खिलाफ माहौल बनाया था। लाला बौरवेल खोदने का धंधा करता था इसलिए वह स्वामीराम की आँखों में गढ़ता जा रहा था। जो लड़ाई पानी के प्राकृतिक स्रोतों को पुन:र्जीवित करने की बननी चाहिए थी वह स्वामीराम की मौत के बाद पुत्र मकईराम द्वारा हलफनामों के पेश करने की बनकर रह गई।

'तेरा कोई संगी नहीं' उपन्यास किसान आत्महत्याओं को गाँवों के मुख्यधारा से न जोड़ने और किसानी को सरकारी योजनाओं में सबसे पीछे रखे जाने जैसे कारणों से जोड़ता है। उदारीकरण के बाद भारत के गाँवों में शिक्षा का जोर बढ़ता है और सबको शिक्षित करने जैसी योजनाएँ चल निकलती है; लेकिन सरकार और सत्ताएँ यह जानने में विफल रही हैं कि पढ़े लिखे लोग एक समय में जाकर बेरोजगार हो जाएँगे या फिर गाँवों से पलायन करके शहरों में ही मजदूरों की भीड़ बढ़ जाएगी। खेती में बाजारवादी ताकतों के घुस जाने के बाद छोटे किसान धीरे - धीर बर्बादी की कगार पर पहुँच गए और दूसरी तरफ अंतिम दो दशकों में पैदा हुई पीढ़ियाँ खेती से मुँह मोड़कर शहरो की ओर आकर्षित होने लगी। एक तरफ पुरानी पीढ़ी की अपने खेतों और किसानी को बचा लेने की जिद तो दूसरी तरफ नई पीढ़ी की सुख सुविधापूर्व जिंदगी की खींचे चले जाने

के कारण दोनों तरफ तनाव का माहौल बनता गया। यह स्थति निरंतर आगे बढती जा रही है।

'तेरा कोई संगी नहीं' उपन्यास में बलेसर और उसके पुत्रों के बीच जमीन बेचकर शहर में घर बना लेने के लिए तनाव बढ़ता जाता है और एक समय ऐसा आता है कि बलेसर अपने 'बतीस बिघहवा' खेत को छोड़ नहीं पाता और उसी खेत में अपने प्राण त्याग देता है। वह अपने अंतिम दिनों में पागलपन की अवस्था तक पहुँच जता है और उसे नींद नहीं आती, आते हैं तो केवल बुरे सपने जिसमें वह अपने बचन के दिनों से लेकर अब तक की अपनी खेती की यात्रा को महसूस करता है। लेखक इस स्मरण द्वारा उसका अपनी खेती से कैसा लगाव रहा होगा, कि स्थिति को दिखाने का प्रयास करता है। उसके बाद वह अपने खेत बेटों के कहने पर बेच देता है और शहर में एक 3 मंजिला फ्लैट बनवा लेता है जहाँ तीनों बेटे अपनी जिंदगी में मस्त है; लेकिन वह और उसकी पत्नी उस छोटे से फ्लैट में अकेले पड़ते चले जाते हैं। बलेसर की जिद है कि कैसे भी करके अपने खेतों को बचा ले; लेकिन वह अपने पुत्रों को यह बात नहीं समझा पा रहा है कि किसानी में स्वाभिमान और इज्जत है। मेहनत करें तो रहन पर रखे खेत वापस भी छुड़ा लेंगे। दूसरी तरफ उसके पुत्रों के लिए खेती घाटे का सौदा है क्योंकि कितनी ही मेहनत कर लो नकद पैसा खेती में कुछ भी नहीं बचता और न ही शहर जैसी जिंदगी जी जा सकती है। मरने से पूर्व बलेसर की मानसिक स्थिति बेहद ही दयनीय हो जाती है। उसे लगता है वह खेत पर नजर गढ़ाए सब लोगों को भगा दें और अपने 'बतीस बिघहवा' को बचा लें। बलेसर सपनों में शहर के फ्लैट वाली जिंदगी जी रहा है - "इस तन्हाई और जीवन की एकरसता से ऊबकर बलेसर घर से बाहर निकलते तो सामने रंग बिरंगी सवारियों का रेला पाते। पैदल चलने वालों की यहाँ कोई जगह नहीं। बलेसर के लिए सारे चेहरे अपरिचित। सारे स्थान नए और अजनबीयत से भरे हुए। इस स्थति में एक दिन उनके मन ने बगावत कर दिया। वे नहीं रहेंगे इस कैद, अजनबीयत और दमघोंटू माहौल में। अभी लौट जाएँगे अपने गाँव की ओर। लेकिन यह

क्या? घर पहुँचकर उन्होंने देखा, घर पर तो एक बड़ा सा ताला लटक रहा है। अब वे 'बतीस बिघहवा' की तरफ भागे। लेकिन वहाँ पहुँचे तो आश्चर्य से उनके रोंगटे खड़े हो गए। 'बतीस बिघहवा' की जगह तो एक 'राइस मिल' खड़ी थी। बोरिंग की उनकी कोठरी, जामुन का पेड़ और वहाँ का उनका चबूतरा सब कुछ गायब था। वहाँ तो राइस मिल के भूसे का ढेर लगा था, पहाड़ की तरह भूसे का ढेर। अब वे अपने को रोक नहीं सके। पागलों की तरह चिल्ला उठे– 'कहाँ गया मेरा 'बतीस बिघहवा?' उसके स्थान पर यह राइस मिल कैसे आ गया? मैं यहाँ किसी राइस मिल को नहीं रहने दूँगा। हटाओं इस राइस मिल को...। खाली करो मेरी जमीन! हटाओ! अभी हटाओ...!"[21] पागलपन की यह स्थिति बलेसर को मौत के मुँह में धकेल देती है। यह चाहे आत्महत्या न हो; लेकिन खेत और किसानी के लिए प्राण देता किसान आत्महत्या करता-सा ही नजर आता है।

निष्कर्षत: उपन्यासों में किसान आत्महत्या केवल आर्थिक दबावों में किया जाने वाला आत्मिक पाप न रहकर उदारीकरण के कारण किसान समाज की संरचना में आए बदलावों और सरकारी असहायता की भी अभिव्यक्ति है। एक तरफ पूँजीबाजार का अपार धनबल तो दूसरी तरफ वर्षों से आर्थिक रूप से विपन्न किसान – दोनों के बीच जिंदगी और मौत का खेल यह उपन्यास दिखाते हैं, जिसमें धन पशुओं को अपने धन संचयन की गति बढानी है तो किसानों को जिजीविषा बनाए रखने की जद्दोजहद करनी दिखाई पड़ती देती है।

3.2 नयी पीढ़ी का पलायन और संघर्ष

किसानी समाज में पलायन मध्यमवर्गीय समाज के पलायन से अलग है। मध्यमवर्गीय समाज के साहित्य में पलायन वह मानसिक अवस्था है जहाँ मनुष्य उदासी और नैराश्यपूर्ण जीवन की ओर गमन कर जाता है। हिंदी साहित्य में आजादी के बाद के दिनों से ही मध्यमवर्गीय पलायन दिखाई देने लगता है; लेकिन किसान

समाज का पलायन भौतिक स्थिति है जिसका मुख्य कारण आर्थिक उदारीकरण के दबाव में किसानी का शक्ति व्यवस्थाओं द्वारा मुख्यधारा से अलग किए जाने और नौकरियों से उत्पन्न होने वाली भौतिक सुविधा सम्पन्न जिंदगी है। दोनों परिस्थितियाँ जब एक ही साथ निर्मित होने लगी तो एक तरफ किसानी घाटे का सौदा बनकर रह गई तो दूसरी और नौकरियों (सरकारी या निजी) ने वर्षों से अभाव झेल रहे किसान समाज के हाथ में नकद पैसे का लालच दिया। यह नकद पैसे का लालच और पूँजीवादी सरकारों और बाजारों द्वारा खेती की उन्नति और अवनति को एक तरफ खिसका कर मुनाफे को ही सर्वोपरि मान लेने के कारण वर्षों से किसानी पर निर्भर आधिकांश जनसँख्या का इससे मोह भंग होने लगा और जनसंख्या शहरों की ओर जाने को बाध्य होने लगी।

ऐसा नहीं है कि यह स्थिति को अचानक से आ गई। हरित क्रांति के समय से ही किसानी भयंकर दबाव को झेल रही थी। जब उन्नत तकनीक, नए बीज और बाजार का खेत में प्रवेश हुआ तो कमजोर भारतीय किसान उस दबाव को झेल नहीं पाया। आरम्भ में नए प्रयोग अच्छे लगे और एक बारगी उत्पादन में भी वृद्धि दिखती है; लेकिन यह स्थितियाँ ज्यादा दिन नहीं बनी रह सकती थी क्योंकि भारतीय किसान न तो महँगे खाद और बीज का खर्चा वहन कर सकता था और साथ ही अत्यधिक जहरीले रसायनों के कारण खेतों की उर्वरता घटती गई। दूसरी तरफ भारतीय किसान समाज (मुख्यत:) की संरचना परिवार और समाज के मध्य इतनी उलझी हुई है कि थोड़ा-सा भी असंतुलन होते ही सब कुछ डगमगाने लगता है। ऐसे में किसानो का पलायन दो रूपों में हमारे सामने आता है - एक तो वह पीढ़ी जो एक बार खेती से विमुख हुई तो वापस लौटकर कभी नहीं आई और हमेशा के लिए शहर की ही होकर रहा गई। ऐसे लोगों की संख्या बेहद कम है। दूसरी वह जनसंख्या जो अच्छे और सूखी जीवन की तलाश में खेती को छोड़कर शहर की ओर भागी; लेकिन शहर की भागदौड़ भरी जिंदगी में उससे पैर नहीं टिक पाए तो वह शहरी मजदूर बनकर रह गई या फिर पुन: लौटकर गाँवों में

ही किसानी में फिर से हाथ आजमाने लगी। शिक्षा की वजह से पलायन हुआ तो संघर्ष करने की प्रेरणा भी मिली। दरअसल लोकतान्त्रिक मूल्यों की चेतना के विस्तार के कारण वर्षों से जड़ पकड़े किसान समाज में एक नयी चेतना जन्मी जिसके कारण बंधुआ मजदूरी और खेतीहर मजदूरों की दशा में बदलाव भी देखने को आया। यह संघर्ष हर क्षेत्र में अलग-अलग प्रकार से दिखाई देता है। मुख्यत: विदर्भ, बिहार, मालवा और पंजाब के क्षेत्रों में संघर्ष की यह स्थितियाँ भिन्न–भिन्न रूपों में प्रकट होती है।

हिंदी उपन्यासों में पलायन और संघर्ष की कहानियाँ उतने विस्तार से नहीं आ सकीं; लेकिन फिर भी पिछले 30 से 35 वर्षों के पलायन का मोटा-मोटा अनुमान हमें हो जाता है। 'कालीचाट' उपन्यास में हेमराज नामक पात्र के माध्यम से सुनील चतुर्वेदी ने शहरी जीवन की चमक-धमक और उससे पैदा होने वाली समस्याओं पर प्रकाश डाला है। वह दिखावे की जिंदगी हेमराज को कहीं का नहीं छोड़ती। न वह गाँव का ही बाशिंदा बना रह सकता है और न ही शहर ने उसे अपनाया है। वह केवल मजदूरी करने जाता है; लेकिन जिस लालच और ऐशो आराम का सोचकर जाता है, वह केवल बाहरी दिखावा मात्र होता है। शहर उसे अपनाता है केवल एक मजदूर के माफिक! हेमराज जब 3 साल बाद गाँव लौटता है तो वह गाँव के अन्य लड़कों के सामने अपनी धौंस जमाने के लिए वहाँ का वर्णन करता है। आज के जमाने में यह स्थितियाँ थोड़ी अजीब लगे कि ऐसा कैसे संभव है; लेकिन आज के 10 साल पहले तक भी भारतीय गाँवों की स्थिति ऐसी ही थी और आज भी बहुत से गाँव शहर को अजूबा ही समझते हैं। शहरी जिंदगी का आकर्षण उनको अपनी जमीन से उखाड़ देता है।

हेमराज अपने हमउम्र साथियों को शहर के बारे में बताता है - "गाँव में क्या धरा है? जिंदगी तो शहर की है। ये...ह चौड़ी – चौड़ी सड़कें! उन पर दौड़ती है मोटर गाड़ियाँ। मोटर गाड़ियाँ भी ऐसी-ऐसी जो तुमने बाप जमारे नहीं देखी होगी और घर!

घर तो ऐसे बने हैं कि देखते ही रह जाओ। ओने खाते गाँव, कन्नोद, हरदा सब फेल हैं इंदौर के आगे। यहाँ बोहत से बोहत दो मंजिला मकान होंगे। वो भी गिनती के। इंदौर में तो लाइन से एक के ऊपर एक थप्पी बंद दस–बारह मंजिल के घर बनते हैं और वो भी इत्ते कि गिनते–गिनते पूरी जिंदगी खत्म हो जाए पर मकान खत्म नी होय!...इंदौर कोई गामडों गाम थोड़ी है। सिटी है सिटी। सब जगह ऊपर नीचे आने जाने के लिए बिजली के झूले लगे हैं। झूले भी कैसे हैं? अपने यहाँ जात्रा में जाते हैं वैसे न समझना। चमचमाते स्टील से बने कोठे जैसे। लगता ही नहीं कि झूले में बैठे हो।खटका दबाते ही पलक न झपके उसके पहले तो बाहरवीं मंजिल और खटका दबा नहीं कि सटाक से जमीन पर। मन पड़े उत्ती बार ऊपर - नीचे आओ जाओ।”[22] पूँजीवाद सपनों के हवामहल में निवास करवाता है।

हेमराज के लिए यह शहर का आकर्षण कोई जिज्ञासा वश नहीं है और न वह किसी भ्रम में जी रहा है; लेकिन किसानी उसकी ऐसी नहीं है कि वह अपने परिवार को पाल सके। अब वह शहर में जाकर मजदूर तो बन गया है और दिखावे और सम्पन्न होने की ठसक उसको इतनी बढ़ चढ़कर बाते करने को मजबूर कर रही है। वो बड़ी–बड़ी बिल्डिंग और स्वचालित रैंप और लिफ्ट उसके किसी काम की नहीं है। उसे वही गंदगी से बजबजाती नालियों के आसपास झुग्गियों में रहना पड़ता है और दिन भर फेक्ट्री में काम करना पड़ता है। किसान के सामने रहने और खाने का संकट ही नहीं है कुछ अधूरी जिज्ञासाएँ जिनको वह केवल कल्पना में जी सकता है। वही सब हेमराज के मुँह से लेखक कहलवा रहा है। एक किसान का सपना होता है कि स्वयं का पक्का मकान हो और बारिश में उसके कपड़े लत्ते गीले होने से बच जाएँ।

हेमराज जानता है कि किसान के लिए पानी और बिजली का क्या महत्त्व है इसलिए वह अपने ही साथियों को शहर के सपनों की सैर करवाता है - “सिटी की तो बात ही अलग है। फिर इंदौर कोई छोटी मोटी-सिटी थोड़ी है। बहुत बड़ी सिटी है। और

कई है के वहाँ की जगाह सब माइंडेड लोग रे है। अपना जैसा लोग थोड़ी है। गाम में तीन–तीन दिन लाईट नी रे। ओवरसियर के कहने जाऊं कि भईया हमारी लाईट बंद है खेत में गेहूँ सूख रहे हैं तो ऊ भी अपने ललकार के भगा दें। सिटी में एक मिनट भी लाईट चल जाय तो लोग मुख्यमंत्री के फोन घनघना दें और उत्ती घड़ी मुख्यमंत्री ने खड़का दें। इसे ही तो शहर आगे हैं और गाँव पीछे।"[23] ये सपने कोई एक दिन में परिवर्तित नहीं हुए हैं; बल्कि एक लंबी जद्दोहद और धीरे-धीरे गाँवों की आर्थिक प्रक्रिया का न केवल धीमा होना अपितु कमजोर होना भी है। जहाँ जीवन शैली का निचला स्तर आ जाता है।

पूँजी का एकत्रीकरण होना पहले पहल गाँवों से ही हुआ। कर्जे के कारण खेत बिके और किसान खेतीहर मजदूर बन गया। जब खेत की चिंता ही न रही तो मजदूरी तो वह कहीं भी रहकर कर सकता है। उसी गाँव का नारायण खेती छोड़कर सिलाई का कार्य आरम्भ करता है; लेकिन उसमें इतनी बरकत नहीं है क्योंकि गाँव का जीवन खेती पर ही निर्भर रहता है। किसान सम्पन्न है तो सहायक धंधे चल सकते हैं। हेमराज को देखकर सिलाई करने वाला नारायण भी गाँव को छोड़ने की सोचता है। नारायण और हेमराज दोनों का पलायन मजबूरी वश होता है। हम कह सकते हैं कि लोग कपड़े पहनना तो छोड़ नहीं देंगे; लेकिन बात इतनी सी ही नहीं है। इसका मूल कारण पूँजीवादी प्रक्रिया में है।

हेमराज इंदौर के जिन बड़े-बड़े माल की बात करता है और साधन सपन्नता से प्रभावित है, वही वजह है कि गाँव में सिलाई करने वाले की कद्र नहीं रह गई है। लेखक नारायण की हालत और चिन्तन प्रक्रिया को दिखाते हुए लिखता है -"इन दिनों उसकी हालत खस्ता थी। वह पिछले कई दिनों से अपने काम धंधे को लेकर परेशान था। उसकी परेशानी का कारण था हाट बाजार में लगने वाली रेडिमेंट कपड़ों की दुकानें। नई उम्र के लड़के रंग-बिरंगे रेडीमेड पेंट शर्त पहिनने लगे थे। उसकी उम्र के

लोग अब भी कुर्ता पायजामा पहनते थे; लेकिन लडको की देखा-देखी उन्होंने भी कपड़ा लेकर सिलवाने के बजाय सिले-सिलाए खरीदना शुरू कर दिया था। औरतों का पहनावा भी अब पहले जैसा नहीं रहा था। चोली की जगह ब्लाउज, ओढनी की जगह साड़ी और घाघरे की जगह पेटीकोट ने ले ली थी। इस कारण उसका धंधा दिन प्रतिदिन कम होता जा रहा था। भूले-भटके कोई पाजामा या बंडी सिलाने आ जाता पर इतने भर से परिवार का पेट पालना मुश्किल हो रहा था। बाकी जरूरतों के तो पूरे होने का प्रश्न ही नही था। कपडे लत्ते, सगाई ब्याह, रिश्तेदारी में आना-जाना हेत-व्यवहार, मिलनी-मामेरा, घाटा-मोसर, दवा-दारू और भी कितने जरूरी खर्चे हैं रोटी के अलावा। अब सिर्फ इसलिए तो बाबाजी नहीं हुआ जा सकता कि इन जिम्मेदारियों के लिए जेब में पैसे नहीं हैं। कुछ न कुछ तो करना ही पड़ेगा।"[24] यही कुछ न कुछ करने के लिए हजारों नारायण और हेमराज गाँव और खेत छोड़कर शहरों की ओर निकल चुके हैं। यह प्रक्रिया अब और भी तीव्र हो चुकी है। और इस प्रक्रिया में गाँव तो उजड़ ही रहे हैं साथ ही जिन लोगों ने गाँव छोड़ा उनका जीवन स्तर और भी ज्यादा गिर गया है।

गाँव में जो सुख की रोटी थी, जिसमें कम होने पर भी एक संतुष्टि थी वह शहर के मजदूर बनने के बाद जिंदगी की भागमभाग में छूटती जा रही है। हेमराज जैसे लोग इस बात की सच्चाई को जानते हैं और नारायण जैसे लोगों को सचेत भी कर रहे होते हैं; लेकिन समय के चक्र को पकड़ने की कोशिश में जीवन से पीछे छूटते जा रहे हैं। इस पलायन से क्या मिलता है और उसकी हकीकत क्या है? हेमराज अपने मामा नारायण को समझाता है जब वह उसे कहता है कि तुम अपने बीवी बच्चों को भी साथ ले जाओ। विषाद और पीड़ा से भरा हेमराज का स्वर कहीं गहरे से गूँजता हुआ नजर आता है – "यहाँ खेत में काम करती है। शहर में क्या काम मिलेगा। घर-घर जाकर बर्तन माँजने का काम। नहीं दादा नहीं...इससे तो गाँव ही अच्छे हैं। मैं लडकों से झूठ नहीं कह रहा था दादा। शहर की वो भी सच्चाई है पर वो हमारे लिए नहीं है। हमारा काम तो बस

इतना है कि मेहनत मजदूरी करके पैसे वालों के लिए स्वर्ग तैयार करना। हम उस स्वर्ग में घुस नहीं सकते। वो लोग हमें एक मिनिट बर्दास्त नहीं कर सकते। काम होते ही हड़का कर भगा देते हैं। जैसे हम मनख नहीं कुत्ता बिल्ली हों। हमारी किस्मत तो बस इतनी है कि मेहनत से पैसे वालों के लिए स्वर्ग तैयार करना और खुद उनके बनाये नर्क में सड़ना।"[25] किसान की स्थिति हमेशा से कुछ ऐसी रही है।

'डाउन टू अर्थ' की एक रिपोर्ट के अनुसार अब स्थितियाँ और भी खराब हुई है और वे इस स्तर तक जा पहुँची है कि "लोग वर्षों पहले गाँव – खेत से पलायन करके शहर आकर बस गए थे अब वे एक शहर से दूसरे शहर की ओर भी पलायन कर रहे हैं।"[26] इसका मतलब यह है कि समय बीतने के साथ गाँव और किसानी की बर्बादी बढ़ ही रही है और शहर से दुखी आदमी वापस गाँव लौट कर जाने के बजाय दूसरे शहर में ही जाना पसंद कर रहा है। हालाँकि हिंदी उपन्यासों में अभी इस स्थिति पर लेखन नहीं हुआ है। हिंदी का उपन्यास लेखन इसके उलट वापस शहर से गाँव में आकर पुन: गाँव को ही अपना घर बना लेने की प्रेरणा की ओर ध्यान खिंचता है।

'यह गाँव बिकाऊ है' उपन्यास में एम. एम. चंद्रा यह दिखाने का प्रयास करते हैं कि पढ़ा लिखा नौजवान अगर चाहे तो वह गाँवों और किसानी की दशा बदल सकता है; लेकिन उपन्यास मार्क्सवादी दृष्टि से लिखा होने के कारण थोडा अविश्वसनीय सा लगने लगता है। चूँकि गाँवों और किसानी को उजाड़ने में सरकारों और बाजार का मिला जुला हाथ है और उसमें किसान और गाँव स्वयं जाने-अनजाने सहयोगी बन रहे हैं। उपन्यास का मुख्य पात्र अघोघ अपने पिता की फेक्ट्री की नौकरी चले जाने के बाद मजबूरी वश गाँव में लौटता है और गाँव की समस्याओं और खेती किसानी से रूबरू होने के बाद उनसे निजात पाने के लिए संघर्ष करता है। उपन्यासकार एक मिशाल के तौर पर सिद्धांतत: क्रांति और पुन:निर्माण के नारे को बुलंद करना चाहता है; लेकिन अघोघ नामक पात्र वैश्विक पूँजीवादी शक्तियों से लड़ने

में सक्षम नहीं है। वह वैचारिक लड़ाई मात्र नजर आती है। समाज का सामूहिक चरित्र ऐसा हो कि वह स्वयं की अर्थव्यवस्था में किसानी और गाँवों को बचा सकने की पहल करें तब अघोघ जैसे पात्र वास्तविक लगने लगेंगे। कालीचाट उपन्यास भी इसी प्रकार की संभावनाओं पर ध्यान दिलाने की कोशिश करता है - "वर्तमान समय में बाजार ने परिधि पर नहीं बल्कि हमारे केंद्र पर चोट की है। हमारी सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक अस्मिता पर प्रहार किया है। असल में जमीनों का बिकना और गाँव के लोगों का शहर की ओर पलायन महज रोजी रोटी के साधन के बदलाव के रूप में नहीं देखा जा सकता। यह हमारे सामाजिक ढाँचे का टूटकर बिखरना है। समाज में विलगाव का सूत्रपात है। ऐसे में लोग अकेले होते जा रहे हैं। अपना संबल खो रहे हैं। निराशा के इस दौर में अकेला आदमी क्या कर सकता है ? विरोध करें या इस व्यवस्था को स्वीकार कर लें जिसका अर्थ उसकी मौत है।"[27] यह अलगाव आने वाले समय में में किसान समाज के लिए त्रासदी की तरह आने की संभावना है।

यह अलगाव और बिखराब 'तेरा संगी कोई नहीं' उपन्यास में बलेसर किसान के तीन पुत्रों के जीवन में दिखता है। वे केवल किसानी से नहीं भाग रहे हैं बल्कि जड़ों से ही उखड़ कर हमेशा के लिए पलायन कर रहे हैं। उसके बलेसर के तीनों पुत्र नौकरी कर रहे हैं और वे चाहते हैं कि खेतों को बेच दिया जाए और उस पैसे से शहर में जमीन खरीदकर अपार्टमेन्ट बना लिया जाए। दरअसल बलेसर के पास 32 बीघा खेत हैं; लेकिन पैदावार इतनी नहीं है कि जीवन के सारे शौक पूरे किए जा सकें; लेकिन फिर भी स्वाभिमान और शांत जिंदगी बलेसर जी रहा है। तीनों बेटे सरकारी नौकरी करते हैं फिर भी उनकी आमदनी इतनी नहीं है कि उसी से शहर में मकान ले सकें। तो अब वे अपने पिता की जमीन बेचकर शहर में ही बस जान चाहते हैं। सम्पूर्ण उपन्यास में इसी बात को लेकर बलेसर और पुत्रों के बीच तनाव दिखाया गया है।

बलेसर के लिए खेती स्वाभिमान और पुरखों की वसीयत का प्रतीक है और फिर उसके पास इतनी कम जमीन भी नहीं है कि भूखे मरने की नौबत आ सकें; लेकिन पुत्र जो शहर में रहने के ही आदी हो चुके हैं उनको शहर की जिंदगी के साथ दौड़ने और जीवन शैली को स्तरीय बनाने का यही उपाय नजर आता है कि खेत को बेच दिया जाए। इसके लिए वे कारण ढूँढ़ते हैं और बलेसर को तैयार करने की कोशिश भी करते हैं – "खेती अब घाटे का सौदा हो गई है पिताजी। खेती से जुड़े रहने में अब कोई लाभ नहीं। खेती में जितना श्रम, संघर्ष और खर्च है, उसकी तुलना में उपार्जन नगण्य, उलटे खेती की परेशानियों से जीवन का सुख चैन भी गायब, निरंतर असुरक्षा और आतंक के महौल में रहना। हमें समय रहते खेतों को बेचकर अपनी पूँजी शहर में स्थानांतरित कर लेनी चाहिए। अभी खेतों के खरीददार हैं भी। समय तेजी से बदल रहा है कि आगे के दिनों में खेतों के खरीददार भी नहीं मिलेंगे।"[28] समय की इसी चाल से किसान पीछे रह गया। बहुत कम समय में परिस्थितियाँ इतनी बदल गई कि अगली ही पीढ़ी के लिए जमीन अनुपयोगी हो गई और उससे पहली पीढ़ी उसको छोड़ना अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझती है। नई पीढ़ी का यह पलायन शिक्षा के कारण ज्यादा आया है क्योंकि शिक्षा से प्राप्त रोजगार सुविधाओं की कमी नहीं रहने देता और जो व्यक्ति जीवन के आरंभिक 15 साल शारीरिक श्रम से दूर रहा हो उसको श्रम वाली जिंदगी पसंद नहीं हो सकती। चूँकि हमारी समाज व्यवस्था ने शिक्षा का मूल्य इतना बढ़ा चढ़ाकर प्रचारित किया कि किसानी का मूल्य ही खत्म हो गया। एक तरह से देखा जाए तो नौकरी एक तरह से गुलामी ही है; लेकिन फिर भी किसानी समाज में उसकी प्रतिष्ठा खूब है। दो पीढ़ियों के बीच यह असंतुलन ही पलायन को और भी तीव्र कर रहा है। बलेसर के लिए खेत जीवन शैली है और नौकरी में एक समय के बाद आदमी सेवानिवृत हो जाता है। उसके पश्चात वह कहीं का नहीं रहता। समाज से कटकर अंत में अकेलेपन का जीवन जीता है। दूसरा किसान के खेती आजीविका से ज्यादा प्रतिष्ठा का विषय होती है, चाहे वह उसको बर्बाद ही क्यों न कर दे वह उसको छोड़ नहीं

सकता। किसानी मूल्यों की दृष्टि से यह एक हद तक न्यायसंगत भी ठहरती है; लेकिन उदारीकरण के बाद का समय तेज गति से सब बातों को पीछे छोड़कर पूँजी संचयन और मूल्यों के पिछड़ेपन का ढिंढोरा ऐसे पीटता आया है कि प्रतिष्ठा का कोई सवाल ही नहीं रह गया है इसलिए ही बलेसर की यह बात कोई मायने नहीं रखती कि “ऐसी नौकरी में जाकर क्या करोगे? यह तुम्हारी प्रतिष्ठा के अनुकूल नहीं है। तुम्हें क्लर्क की नौकरी शोभा नहीं देगी। तुम्हारे ऊपर का हर अधिकारी तुम्हें आदेश देगा। यहाँ के तुम अच्छे खेतीहर हो। तुम्हारे पुरखों द्वारा कायम यह सदाबहार खेती है। इस खेती से ही हम खा-पी रहे हैं और मन लायक जीवन जी रहे हैं। यहाँ सबसे बड़ी बात यह है कि अपनी इस खेती में हम स्वतंत्र हैं, किसी के गुलाम नहीं। लेकिन चाकरी तो गुलामी ही है वहाँ अधिकारियों के आदेश पर तुम्हारा जीवन परतंत्र बना रहेगा।”[29] जिन पुराने किसानों के पास जीवनयापन जितनी ज़मीन है उसका यही मानना है।

‘कालीचाट’ उपन्यास के एक उद्धरण में हम यह बात कर चुके हैं कि बाजार ने हमारी सामजिक संरचना को ही बदल दिया है। सांस्कृतिक मूल्यों में विश्वास नयी पीढ़ी के लिए कोई मायने नहीं रखता। इस प्रकार विवाह संस्था भी टूटी है। मिथिलेश्वर बलेसर के पुत्रों के माध्यम से यही दिखाना चाह रहे हैं कि यह पलायन केवल खेती किसानी से पलायन नहीं है अपितु किसानी समाज के बिखरने और खत्म होते जाने की अंतिम प्रक्रिया चल रही है। बलेसर का पुत्र अपनी मर्जी से प्रेम विवाह करता है जिस पर बलेसर का कोई अधिकार नहीं है। वह न उसके लिए लडकी देखते हैं और न ही अपने हिसाब से विवाह ही कर सकते हैं। जैसे ही शादी होती है वे शहर की ओर निकल जाते हैं और अपने माता-पिता को भी सलाह देते हैं कि वे भी साथ चले; लेकिन उनके जाने के बाद बलेसर अपनी पत्नी को आने वाली वास्तविक स्थितियों से परिचय करवाते हैं तो उनकी पलायन की पीड़ा और जड़ों से उखड़ जाने का डर विचलित करने लगता है – “ऐसा मत सोचो कुलराखन की माँ। अपने साथ रखने के लिए वे हमें बर्बाद कर देंगे। कहेंगे कि गाँव का खेत बधार, घर द्वार सब बेचकर उनके साथ शहर

चलें।...लेकिन यह हमारे लिए कभी उचित नहीं हो सकता। अब इस बुढ़ापे में शहर जाकर नया घर बनाना और नयी दुनिया बसाना हमारे लिए संभव भी नहीं है। वहाँ उनका पराश्रित होकर ही हमें जीना और रहना पड़ेगा। यहाँ अकेलेपन के बावजूद रहने और जीने के लिए स्वतन्त्र हैं। यहाँ के हम स्वामी हैं। इस स्थिति में वहाँ की स्थितियाँ हमारे लिए कष्टदायक और यातनापूर्ण होगी। गाँव की जगह जमीन बेच बेटों के साथ रहने वाले दो तीन लोगों को मैं अच्छी तरह जानता हूँ। जब कभी शहर से गाँव आते हैं तो अपना दुखड़ा बयान करते नहीं थकते। उनका कष्ट सुनोगी तो कहोगी कि ऐसे वंश से निरवंशी होकर जीना भला।...अब हमारा भला यही अपनी जमीन पर कायम रहने में ही होगा कुलराखन की माँ। जिस बेटे का संस्कार जब जगेगा और प्रेरित करेगा तब वह हमसे मिल जाया करेगा। लेकिन हमारा संबल पहले की तरह हमारा बतीस बिघहवा ही बना रहेगा। हमें उसी के भरोसे जीना और रहना है। बेटे बहुओं को सब कुछ देकर भी हम उनके ऊपर बोझ ही बने रहेंगे। लेकिन यहाँ जिस जरूरतमंद को जो कुछ देंगे, वह हमारे लिए कुछ भी नहीं उठा रखेगा। फिर अपने पुश्तैनी घर, चिर-परिचित समाज और अपनी जगह जमीन का स्वामी बनकर रहने की बात ही कुछ और है। हमारे लिए इससे अच्छी जगह और हो ही नहीं सकती।”[30] बलेसर खुद चाहे अपने खेत और किसानी के स्वाभिमान को नहीं छोड़ पाया; लेकिन उसके बाद उसके खेत हमेशा के लिए किसानी गतिविधियों से वंचित रह जाएँगे।

‘अकाल में उत्सव’ उपन्यास में किसान रामप्रसाद के आत्महत्या करने की कहानी मूल रूप से उसके छोटे भाई भगीरथ के शहर जाकर बस जाने से ही होती है। भगीरथ को पढ़ाने और शादी के लिए रामप्रसाद ने खेत गिरवी रखे थे और जब वह नौकरी लग गया तो हमेशा के लिए शहर का ही होकर रह गया। किसानी साझा परिवार के साथ ही होती रही है। चूँकि किसानी व्यापार नहीं है और वहाँ कार्य करने वाले सब बराबर होते हैं इसलिए किसानी को जीवन शैली कहते हैं। अगर उस किसानी के कार्य में लगने वाले सब लोगों के श्रम का मूल्य नकद में मापा जाए तो खेती

घाटे का सौदा पहले भी थी; लेकिन एक संयुक्त परिवार फिर भी अपना जीवन आराम से चला लेता था। इसका कारण यह था कि खेती के सह उत्पाद जिनके लिए किसान को न तो अलग से अतिरिक्त श्रम करना पड़ता था और न ही किसी मूल्य का भुगतना ही करना होता था। शहर में रहने वाला व्यक्ति अनाज, सब्जियाँ, दूध इत्यादि का मूल्य चुकाता है; लेकिन किसान परिवार अपनी खेती के सहारे ही इन सबकी भरपाई कर लेता है। पशु पालन से उसको न केवल दूध, घी इत्यादि दैनिक जीवन की उपयोगी वस्तुएँ प्राप्त होती है बल्कि वह खेत के लिए गोबर के खाद का भी उपयोग कर लेता है।

पंकज सुबीर का रामप्रसाद इसी संयुक्त परिवार के टूट जाने के बाद अकेला पड़ जाता है। भागीरथ के पढने और विवाह का खर्चा अगर वो चुकाता तो शायद रामप्रसाद इस स्थिति में नहीं पहुँचता और उसके खेत बचे रहते लेकिन "भगीरथ पढने शहर गया तो, वहाँ से वापस नहीं आया। वहीं नौकरी करने लगा। उसकी पढ़ाई और गोने में दो एकड़ जमीन बिक गई थी, बाकी बची हुई दो एकड़ में उसका हिस्सा बरकरार था। उसका हिस्सा जो अक्सर पैसों की शक्ल में होता था, रामप्रसाद दोनों फसलों के आने पर शहर पहुँचा आता था। भगीरथ वैसे शहर गया तो था पढ़ाई को पूरी करने लेकिन, कहते हैं न कि जो गाँव से शहर गया वह फिर वापस नहीं आता। शहर एक अंधी सुरंग है, जिसमें घुस कर वापस लौटने का रास्ता नहीं है।"[31] 'हलफनामे' उपन्यास का मकईराम प्रसाद गाँव से पलायन के करने के बाद भी अपने पिता स्वामी प्रसाद की आत्महत्या के कारण सामाजिक विडंबनाओं का शिकार होता है। मकई राम प्रसाद न चाहते हुए भी पिता की मौत का जिम्मेदार बन जाता है और लेखक उसको एक ऐसे अप्रत्याशित मोड़ पर छोड़ देता है कि वह ग्लानि और पश्च्याताप के गहरे सागर में डूब जाता है। अगर वह शहरी जीवन की व्यस्तताओं में इतना न खोता तो शायद अपने पिता के कर्ज और पीड़ाओं को हर सकता था क्योंकि उसके पास पैसे की कमी नहीं थी; लेकिन उस पलायन ने उसे इतना पराया कर दिया

कि न तो स्वामीप्रसाद ही उसको अपने दुःख कह पाया और न ही उसे कभी तसल्ली से बैठकर बात करने की फुर्सत ही मिली।

'यह गाँव बिकाऊ है' उपन्यास में किसान और मजदूर समाज की उन वास्तविक स्थितियों का वर्णन है जो उदारीकरण व्यवस्था की असफलता के परिणामस्वरूप उपजी है। समाज बिखरता है, पलायन होता है और फिर से बनने की कोशिश करता है। आलोचक उमाशंकर सिंह परमार ने लिखा है कि 'यह गाँव बिकाऊ है' उपन्यास एक ऐसे ग्रामीण समाज की कथा व्यथा है "जो पूर्णत: उदारीकृत, भूमंडलीकृत व लम्पटीकृत गाँव है। गाँव बस्ता है, उजड़ता है। गाँव शहर को पलायन करता है। मजदूरी करता है। मंदी की मार से उत्पादन इकाई टूटती है। गाँव बेरोजगार होता है। वह फिर लौटता है। वह पाता है, यहाँ से वह विस्थापित है। नये सत्ता समीकरण बन गए, नए सामजिक समीकरण बन गए। विकास के छद्म नारे तन्त्र में काबिज कुछ लोगों के हाथ मजबूत कर रहे हैं। गाँव जूझता है। संगठित होकर लड़ता है।"[32]

निष्कर्षत: किसानी जीवन से पलायन की यह पीड़ा दो रूपों में हमारे सामने आती है जिसमें पहला रूप है नयी पीढ़ी द्वारा खेती को घाटे का सौदा मानकर हमेशा के लिए शहरों की ओर गमन कर जाना और दूसरा रूप जिसमें किसान मजदूर बनकर मजबूरी में शहर की ओर भागा। कई उपन्यासकारों ने प्रगतिशील दृष्टि अपनाते हुए वापस लौटकर किसानी को पुन: आबाद करवाने की कोशिश की है जो कि यथार्थ स्थितियों से काफी दूर है।

3.3 किसान समाज का मूल्यगत ढाँचा और वैचारिक चेतना

किसान समाज पिछले तीन दशकों में अपनी पुरानी जमीन छोड़कर आर्थिक और सामाजिक स्तर पर बेहद ही तेज गति से नए जमाने के साथ बढने की कोशिश कर रहा है। पुराने व नए मूल्यों का संघर्ष और संक्रमण, बाजारवादी ताकतों के साये के

कारण किसानी जीवन पद्धति में बदलाव, लोकतान्त्रिक मूल्यों के प्रति आस्था-अनास्था का मिला-जुला प्रभाव तथा खेती के स्वरूप में परिवर्तन के कारण किसानी जीवन के रीति सिद्धांतों में तेज गति से बदलाव हो रहा है। इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों की मूल्य विषय-वस्तु किसान आत्महत्या और आर्थिक परिवर्तनों के आसपास ही मुख्यत: घूमती रही है; लेकिन इन्हीं जरूरी संदर्भों के तहत किसान समाज के ढाँचे और उसके परिवर्तन पर भी उपन्यासकारों की दृष्टि गई है। सामाजिक परम्पराएँ जिनमें जन्म से लेकर मरण तक के संस्कार, किसान कभी उत्सव की तरह तो कभी पीड़ा की तरह भुगतता चलता है। उसके लिए सामाजिक कार्य दायित्व की तरह आते हैं कि अगर नहीं निभाया गया तो प्रतिष्ठा को बट्टा लग जाएगा या समाज में बदनामी होगी; लेकिन इस सदी में जो नयी किसान पीढ़ी शिक्षा के दरवाजें दस्तक देकर नए रास्ते तलाशने लगी है। वह उन परम्पराओं को खंडित कर आगे भी बढ़ रही है तो कभी कभार उन परम्पराओं को तोड़ने के चक्कर में समाज का ह्रास भी दिखाई देता है। मूलत: संक्रमण का ही यह काल है किसान समाज के लिए।

'अकाल में उत्सव' उपन्यास में रामप्रसाद जैसे लोग अपनी बहन की सासु के मरने के बाद उसके क्रियाकर्म करने के चक्कर में बर्बाद हो रहे हैं तो वही 'फाँस' उपन्यास की किसानिन शकुन मराठा हिन्दू धर्म का त्याग करके बौद्ध बनने जा रही है ताकि बेकार के शादी ब्याह के खर्चों से बचा जा सके। 'हलफनामे' का मकईराम अपने पिता स्वामीप्रसाद की आत्महत्या के बाद समाज के कहे अनुसार क्रियाकर्म करते चला जाता है फिर वही समाज मुआवजे के नाम पर मकईराम को भला बुरा कहने लगता है। दूसरी तरफ 'बहुत लंबी राह' का विभूति गाँव के पोखर पर प्रधान के आधिपत्य के खिलाफ आवाज उठाता दिखाई देता है। 'आखिरी छलांग' का पहलवान बेटी के ब्याह में दहेज माँगे जाने पर सामने वाले को खरी खोटी सुनाने से नहीं चूकता तो वही 'तेरा कोई संगी नहीं' का बलेसर अपने बेटों को जमीन का महत्त्व बतलाने की हिम्मत तो जुटा लेता है; लेकिन स्वयं को नहीं बचा पाता क्योंकि पुत्रों के सोचने-विचारने के ढंग

में स्वयं को ढाल नहीं पाता। समय बदलने के साथ समाज के मूल्य भी बदल जाते हैं। इन पात्रों की लड़ाई उन्हीं मूल्यों की लड़ाई है जिनसे वर्तमान समाज अपनी चाल से धीरे-धीरे चल रहा है। समय बदलता है और मूल्य बदल जाते हैं। समय और मूल्यों के पीछे रह जाता है सुख-दुःख की पीडाओं का अम्बार लिए किसान। उपन्यासों में इन मूल्यों का विस्तार से वर्णन नहीं हुआ है; लेकिन कुछ पात्रों की मानसिकता और कथनों के माध्यम से हम इनको समझने का प्रयास करेंगे।

पंकज सुबीर ने रामप्रसाद के चरित्र को प्रेमचन्द के होरी के निकट पहुँचाने का प्रयास किया है; लेकिन वह कथानक कहीं बीच में ही अटक कर रह जाता। रामप्रसाद का परिवार मध्यम किसानी वाला है जिसके पास अतिरिक्त कुछ भी नहीं, हाँ! कम हमेशा से ही रहा है। रामप्रसाद की यह उदारता केवल कोई चरित्र विशेष का गुण मात्र नहीं है अपितु सामान्यत: किसान ऐसे ही होते हैं। बीमार होती है रामप्रसाद की बहन की सास की। वह उसके इलाज का खर्चा वहन करता है और जब वह नहीं बच पाती तो उसके मृत्युभोज का प्रबंध भी करता है अपनी पत्नी की तोड़ी बेचकर। यह उदारता जानलेवा है। दोनों पति-पत्नी के बीच मृत्युभोज में होने वाले खर्चे की बात होती है। जिनका दायित्व है वे करें या न करें; लेकिन रामप्रसाद की बहन है इसलिए उसको बुरा नहीं लगना चाहिए कि उसके भाई ने कुछ नहीं किया वरना लोग कहेंगे कि कैसा भाई है इक ही तो बहन है और उसके लिए भी अपना हाथ नहीं खोलता। उपन्यास में रामप्रसाद के मुँह से लेखक ने एक कहावत का प्रयोग करवाया है- “किसान का पैसा तो आते का दीपक होय है, घर में रखो तो उंदरा खा जाए और जो बाहर जाके रखो तो, कव्वा खा जाए।”[33] यहाँ तो रामप्रसाद के पास पैसा है ही कहाँ जो वह अंदर बहार रखें। जैसे ही आता है हाथ से ही गायब हो जाता है। रामप्रसाद की पत्नी कहती है कि मेरी तोड़ी को बेच देना और जितना हो सकें कर आना। “नी ले जाओगा तो लोग–दुनिया नाम धरेगी कि बेन–बेटी के दरवाजें पे भी कंजूसी कर गया भाई। इत्तों तो

कारणों ही पडेगो। अब कैसे भी करो।"[34] पत्नी का यही मानना है कि कल को गाँव की दस महिलाएँ कहेगी कि इतनी भी क्या कमी पड़ रही थी। "सुनीता बाई को दस बात सुननी पड़ेगी, जो आएगा वो भी बोलेगा कि बाई का मायका से कंई न आयों? एमे तो तमारी बात भी मानूँ, इत्तों सामन तो ले के जानो ही है। भूत होय तो जमाई का भाई होन को टुआल के बदले छोटा रूमाल दे दो। पर जमाई और सुनीता बाई के तो कपड़ा करना ही पड़ेगा। चूड़ी तो म्हारे पास पड़ी है एक सेट, पिछला जतरा की।"[35] इन रीति-रिवाजों की भीतरी थें इतनी सदी हुई है कि जो भी विपन्न किसान आज भी इनके निकट जाता है तो उसी में साँसे घुट जाती है। किसान समाज का एक बदरंग चेहरा है ऐसे रीति रिवाज जिनके कारण वह सम्पूर्ण जिंदगी अभावों में ही काट देता है; लेकिन दाम्पत्य जीवन के रंग फिर भी कभी कभार खिल उठते हैं।

रामप्रसाद अपनी पत्नी की उदारता देखकर कहता है कि तू बड़ी पटलन (पटेल) बन रही है जो हाथ खोलकर खर्च कर रही है। पत्नी लाड़ में आकर कहने लगती है कि जब तक मेरा सुहाग सही सलामत है तब तक मैं पटलन ही हूँ। "किसान दम्पति के जीवन में बस बहुत छोटी-छोटी यही बातें होती है ठिठौली की, वरना तो किस्मत खुद ही उनके साथ ऐसी-ऐसी ठिठौली करती है कि उनको खुद कोई ठिठौली करने का मौका ही नहीं मिलता। आज भी यह दोनों चौके में बैठकर अपने आप की ही ठिठौली कर रहे हैं। समस्या सिर पर खड़ी है तलवार लेकर और तलवार की धार के नीचे बैठकर यह दोनों समय का कोई अंश शायद फिर से जीने की कोशिश कर रहे हैं। समय का वह अंश जब कमला इस घर में ब्याह कर आई थी, मेहँदी की महक और महावर की चमक से गमकती, छम-छम करती पूरे घर में डेढ़ हाथ का घूँघट निकाले ढोला करती थी। और उस डेढ़ हाथ के घूँघट में से एक झलक पा जाना किसी भी तौर पर रामप्रसाद के लिए संभव नहीं था। दिन में दस बार सूरज के चलने की रफ्तार देखता था वह कि सूरज के ढलने और रात होने में अब कितना समय बचा रह गया है। और अब तो पता ही नहीं चलता कि सूरज कब निकलता है और कब जाकर डूब जाता

है।"[36] रामप्रसाद का सूर्य जीवन के अंत तक नहीं निकलता। उसकी धीमी-धीमी मौत का सिलसिला भाई भगीरथ के पढ़ाने के खर्चे से शुरू हुआ था और वह बहन की लाज बचाने तक जाकर खत्म हुआ।

'फाँस' उपन्यास में वैवाहिक रीति रिवाजों और दहेज की माँगों से तंग आकर किसान शिबू की पत्नी शकुन धर्म ही परिवर्तित कर लेती है। भारत में कितने किसानों ने गरीबी और सामाजिक परम्पराओं से तंग आकर कितने किसानों ने धर्म परिवर्तित किया, उसका कोई सार्वजनिक आँकड़ा उपलब्ध नहीं है। न तो सरकार ने ही ऐसा कोई सर्वे करवाया है और न ही स्वतंत्र रूप से ऐसा शोध कहीं हुआ है; लेकिन संजीव अपने उपन्यास में ऐसे अनेक उदाहरण देते हैं जिनमें गरीब और कम जोत वाले विदर्भ के किसान धर्म परिवर्तित कर रहे हैं। धर्म परिवर्तन के मूल में संजीव अभावों और सामाजिक परम्पराओं की जकड़ को मानते हैं। शिबू लडके देखने जाता है तो लडके वाले एक हीरो हौंडा और एक लाख नकद की माँग की जाती है जबकि शिबू की दोनों लडकियाँ पढ़ी लिखी हैं और स्वयं कमाने में सक्षम हैं। अगर उनको आगे पढने दिया जाए तो वे अपने परिवार को समृद्धि की ओर ही ले जाएगी। परम्पराओं में इस पिछ्ड़ेपन का कारण जाति व्यवस्था भी है क्योंकि निचली जातियों में अभी इतनी समझ नहीं आ पायी है कि वे पूर्ण तरीके से इन सम्बन्धों और पाबंदियों का बहिष्कार कर सकें।

गाँवों की सामाजिक व्यवस्था जटिल होती है जिसमें सामूहिक जीवन से ही अस्तित्व बचा रहता है। शहर की तरह अकेला होकर इन्सान जी नहीं सकता क्योंकि सब एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं। "शिबू ने अपनी मुलगियो के लिए किसी सुंदर सुकुमार रईसजादे, राजकुमार या किसी फ़िल्मी हीरों के सपने नहीं संजोए कभी, लेकिन कुछ भी कायदे का तो होता। कायदा सिर्फ एक था - वे सब हिन्दू थे। मुलगे तो थे - एक से बढ़कर एक थे, मगर वे ऊँची जाति और ऊँची हैसियत के थे, उन तक उसकी पहुँच नहीं और जिन तक पहुँच थी वे किसी काम के नहीं। काश! यह जाति

व्यवस्था होती तो यह समाधान इतना मुश्किल नहीं होता। वह कौन सी गाँठ है जो उपर से दिखती नहीं मगर अंदर ही अंदर बनी रहती है, गलती नहीं कभी। मुलगियो को ऐसी नजर से देखेंगे कि पा जाए तो खा जाए। लेकिन बहु स्वीकारते हुए नानी मरती है स्सालों की।”[37] जो यह भीतर न दिखने वाली गाँठ है वही एक दिन शिबू को आत्महत्या करने को राजी कर लेती है और फिर शकुन एक दिन उस गाँठ को खोल ही देती है। बौद्ध बन जाती है और जहाँ लडकियों की शादी करती है वे परिवार भी हिन्दू मराठे से बौद्ध धर्म में बदल चुके थे। शुकन ने न केवल धर्म बदलकर धर्मभीरुता के बंधन से स्वयं को आजाद किया; बल्कि उसके बाद उपन्यास के अंत में जाकर वह किसान आत्महत्या के कारणों को खोजने के लिए सम्पूर्ण विदर्भ में भटकती है और महिलाओं को संगठित भी करती है। शुकन के प्रयास अच्छे दिखाई देते हैं; लेकिन सामाजिक स्तर पर यथार्थ स्थितियों में वे ज्यादा कारगर नहीं हो पाते।

राजू शर्मा ने गाँव को वर्षों पहले छोड़ चुके मकईराम के मानसिक संघर्ष को ‘हलफनामे’ में उकेरा है। वह अपने पिता की मौत के बाद वापस गाँव लौटता है तो गाँव और किसान समाज के रीति रिवाजों से उसका पाला पड़ता है। उपन्यासकार उसके द्वंद्व के माध्यम से यह दिखाना चाह रहा है कि मकईराम की पीढ़ी अंतिम होगी जो न केवल किसानी से दूर चली जाएगी; बल्कि वह किसान समाज की रूढ़ियों को भी अगली पीढ़ी में छोड़ देगी। मकईराम एक तरफ अपने पिता की मौत या आत्महत्या की मानसिक पीड़ा भोगता है तो दूसरी तरफ वह इन अनावश्यक कर्मों की उपयोगिता पर भी विचार करता है। आज उसे अपने पिता के नाम पर न जाने कितना खर्चा करना पड़ रहा है; लेकिन यही खर्चा वह पिता के रहते कर देता तो कर्ज चुकता हो जाता और स्वामी प्रसाद को आत्महत्या न करनी पड़ती। यह मूल्यों का संक्रमण है जो गाँव छोड़कर शहर में बस चुके किसान के भीतर होता हुआ नजर आता है। अगली पीढ़ी के लिए यह सब अप्रासंगिक हो जाएगा। पिता के चौदह दिनों में उसकी भाव संवेदनाएँ अलग-अलग रूप लेती नजर आती है - “अगले चौदह दिनों में मकईराम ने सीखा कि

समय का यह टुकड़ा मृत्यु को स्वीकारने, उससे पार पाने का सदियों पुराना यत्न है, एक विपन्न, समवेत कर्म-विधान। उस पर यह कृपा थी कि शास्त्रीय रीतियों के निर्वाह ने उसके यह दिन छीन लिए थे, खुद का संकल्प भाव स्थगित करा दिया था। उसे लगा एक प्राचीन रिवाजगी (पंडित के शब्दों में यथोचित प्रचलन) ने उनके घर पर छाया डाल दी है - अज्ञात हाथ उसका हाथ बँटा रहे हैं, अनजान कंधे उसके कंधे से जुड़ गए हैं और फर्क यह है कि न इसका कर्ज है न उपकार।"[38] इस परम्परा का यह एक उज्ज्वल पक्ष है कि दुःख में सब लोग संवेदनशील हो उठते हैं।

सम्पूर्ण ग्रामीण समाज की यही रीति है कि मुत्यु पर किसी को अकेला नहीं छोड़ा जाता; लेकिन यह रीति-नीति धीरे-धीरे भार बनने लगती है क्योंकि दूसरा मनुष्य हृदय के साथ हमेशा ही हो सकता है; लेकिन वह भौतिक जगत में केवल शब्दों का सहारा देता है। मकईराम जैसे व्यक्ति के पास पैसे की कमी नहीं है; लेकिन सवाल यह है कि बाप कर्जे में मरा और उसी के लिए यह सब हो रहा है - "घर में हितैषी, रिश्तेदारों की संख्या का कोई हिसाब नहीं, हर तरफ कोहराम और उलट पलट का आलम, हर कोई मुखिया और सेवक, कभी मालिक-नौकर, कभी नौकर–मालिक, पंडित की एकाएक आवाज आती -यजमान को बुलाओ, फिर कई आवाजें एक दूसरे को आजमाती हुई - अरे मकईराम, ओ रे मकई, अरे बेटा कहाँ चला गया, चाचा देखा मकई भैया को...मकई यंत्रवत आसन पर जा बैठता, कोई बुजर्ग सही तरह की पालथी बताता, एक बूढी सिर पर हल्का वस्त्र डाल देती और मकई पंडित के अस्पष्ट और संदेहास्पद उच्चारण के बीच उसकी अनेक हिदायतों का पालन करने में मशगूल हो जाता। दरवाजे के बाहर बगल की खाली जगह में दो भट्टियाँ लगातार जल रही थीं और मकई के छोटे चाचा मुढ़ा डालकर सुबह से शाम तक यही बैठे रहते थे। पूरी सब्जी कितनी बने, कैसे उनका तेल छानें, इस पर छोटे चाचा लगातार बहस में लगे रहते।"[39] इस प्रकार उपन्यासकार समस्त क्रियाकर्म में मकईराम की मनोस्थिति का वर्णन करते जाता है। जो मकईराम प्रसाद सुदर्शन अजिसे विचारक के पास बैठकर घंटों किसानों

और किसान समाज की अवस्था पर चर्चा किया करता है वह बिना किसी विरोध के सारे कार्य करता चला जता है। मकईराम चाहे बहुत पहले गाँव छोड़ चुका हो लेकिन उसमें अब भी 'फाँस' की शकुन की तरह हिम्मत नहीं आ पायी है। मकईराम ने उस बर्बादी की अंतिम अवस्था का सामना नहीं किया। उस स्थिति तक तो केवल उसका पिता स्वामीप्रसाद ही पहुँच पाया था।

'बहुत लंबी राह' के विभूति में लेखक ने न केवल प्रतिरोध के लिए संघर्ष दिखाया है; बल्कि मानसिक चेतना के विकसित होने के राजनीतिक कारणों की भी पड़ताल की है। विभूति का पिता महादेव महतों जो कि खेतीहर मजदूर है, अपने मालिक के हर अत्याचार सहता है; लेकिन कभी चूँ भी नहीं करता। उपन्यासकार कर्मेंदु शिशिर ने जिस कलात्मक बुनावट के साथ इसे लिखा है वह भाषागत परेशानियों के होते हुए भी महादेव महतों के चरित्र को होरी के चरित्र तक की ऊँचाई तक उठा देता है। इसमें भी अपनी परिस्थियों और मरजाद को देखकर चलने वाला महादेव महतो है तो दूसरी तरफ मार्क्सवादी राजनीतिक पार्टी से प्रभावित विभूति है जो गोबर से एक कदम आगे निकल कर हिंसा को भी अपने प्रतिरोध का हिस्सा बना लेता है। हालाँकि यह हिंसा और प्रतिरोध स्वाधीनता आन्दोलन के समय खूब प्रयुक्त की जा चुकी है; लेकिन कर्मेंदु शिशिर विभूति की लंबे समय में जाकर बदली हुई चेतना का उत्कर्ष दिखाते हैं। अपने पिता का एकदम उल्टा चरित्र है विभूति का। यह वैचारिक संक्रमण से आगे बढ़कर राजनीतिक चेतना के द्वारा शक्ति अर्जित करने तक की यात्रा की ओर अग्रसर है।

आजादी के बाद भी जब महादेव महतो खेतीहर मजदूर बनकर भूख में ही दिन काट रहा है तो यह बात विभूति को बर्दास्त नहीं होती। वह बचपन से केवल अपने पिता की बात मानकर ही चुप रहा; लेकिन जब उसके धैर्य के बाँध टूट गए तो पिता का भी विरोध करने पर उतर आता है - "पोखर तो गैरमजूरुआ आम है। मिसिर की

कोई खानदानी मिलकियत नहीं। बलाक में ले देकर गंगा मलाह के नाम पर बंदोबस्ती करा, अपने कब्जे में कर लिया। कहता है - अब उसी का हक है। किसी को पोखर के भीटे पर भी चढने नहीं देता। क्या मजाल कि कोई एक मछली भी मार ले। यही बात विभूति को बड़ी खलती थी।"[40] विभूति में जो अधिकार भावना पैदा हुई है वह उसके माता-पिता और परिवार समाज के फलस्वरूप नहीं हुई; अपितु गाँव के एक मार्क्सवादी चेतना के राजनीतिक के कारण हुई है। इन दोनों पीढ़ियों का यह संघर्ष मात्र तीस सालों के भीतर ही प्रकट होता हुआ दिखाई देता है।

'आखिरी छलांग' उपन्यास में भारतीय किसान समाज के ढाँचे में पनपी दहेज की बुराई की दुष्परिणामों और उसे अभावों में जी रहे किसान परिवारों की समस्या को मजबूती से उठाया गया है। बच्चों को ऊँच शिक्षा तो दिलाना ही है साथ ही दहेज के लिए भी प्रबंध करना पड़ता है। पहलवान अपनी बेटी के लिए रिश्ता देखने के लिए जाता है तो लड़के वालों की की लालची मानसिकता दिखाई पड़ती है। लोग दहेज़ माँगने में शर्म तक नहीं करते। लोग मुँह खोलकर अपनी माँगे मनवाने में लगे हुए हैं – "क्या है इनके पास जो बाबूजी इस तरह लट्टू हुए जा रहे हैं। न कोई कोटा न कोई परमिट न कोई कालेज भट्टा, न कोई तर्क ट्रेक्टर न कोई ठेका पट्टा। कहाँ से संभालेंगे हमारे हजार लोगों की बारात? शादी का बजट कितना है? कौनसी गाड़ी देंगे? साफ़-साफ़ बात होनी चाहिए।"[41] उपन्यासकार अंत में किसान जीवन को हारता हुआ न दिखाकर एक बार फिर से जोश और उल्लास के साथ पहलवान के जीवन को आखरी छलांग के लिए प्रयासरत दिखाता है।

निष्कर्षत: 21 वीं सदी के हिंदी उपन्यास किसान जीवन की परम्पराओं और रूढ़ियों के अप्रासंगिक होते जाने और उसके बदलें में नए जीवन मूल्य अपनाए जाने की प्रवृति को रेखांकित तो करते हैं; लेकिन उदारीकरण और भूमंडलीकरण के वास्तविक प्रभाव आने अभी बाकी हैं। उपन्यासों में जो परम्परा और मूल्य संक्रमण दिखाया गया

है वह केवल लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था तथा शिक्षा व्यवस्था के कारणों की ही व्याख्या करते हुए दिखाई देते हैं। वैश्विक पूँजीवाद ने जिस रूप से किसानी समाज में संरचनागत बदलाव किए हैं वह हिंदी उपन्यासों में आना अभी बाकी है।

निष्कर्ष

उपन्यासों में किसान आत्महत्या केवल आर्थिक दबावों में किया जाने वाला आत्मिक पाप न रहकर उदारीकरण के कारण किसान समाज की संरचना में आए बदलावों और सरकारी असहायता की भी अभिव्यक्ति है। एक तरफ पूँजी बाजार का अपार धनबल तो दूसरी तरफ वर्षों से आर्थिक रूप से विपन्न किसान-दोनों के बीच जिंदगी और मौत का खेल यह उपन्यास दिखाते हैं, जिसमें धन पशुओं को अपने धन संचयन की गति बढानी है तो किसानों को जिजीविषा बनाए रखने की जद्दोजहद करनी पड़ती दिखाई देती है। किसान जीवन से पलायन की पीड़ा दो रूपों में हमारे सामने आती है जिसमें पहला रूप है नयी पीढ़ी द्वारा खेती को घाटे का सौदा मानकर हमेशा के लिए शहरों की ओर गमन कर जाना और दूसरा रूप जिसमें किसान मजदूर बनकर मजबूरी में शहर की ओर भागता है। कई उपन्यासकारों ने प्रगतिशील दृष्टि अपनाते हुए वापस लौटकर किसानी को पुन: आबाद करवाने की कोशिश की है जो कि यथार्थ स्थितियों से काफी दूर है। 21 वीं सदी के हिंदी उपन्यास किसान जीवन की परम्पराओं और रुढियों के अप्रासंगिक होते जाने और उसके बदलें में नए जीवन मूल्य अपनाए जाने की प्रवृति को रेखांकित तो करते हैं; लेकिन उदारीकरण और भूमंडलीकरण के वास्तविक प्रभाव आने अभी बाकी हैं। उपन्यासों में जो परम्परा और मूल्य संक्रमण दिखाया गया है वह केवल लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था तथा शिक्षा व्यवस्था के कारणों की ही व्याख्या करते हुए दिखाई देते हैं। वैश्विक पूँजीवाद ने जिस रूप से किसानी समाज में संरचनागत बदलाव किए हैं, वह हिंदी उपन्यासों में आना अभी बाकी है।

संदर्भ सूची

---

[1] प्रेमचन्द, कर्मभूमि, डायमंड पाकेट बुक्स, दिल्ली, पृ. 243

[2] घनश्याम कुशवाहा, भारतीय समाज और अर्थव्यवस्था में उपेक्षित किसान, अपनी माटी (किसान विशेषांक), सितंबर, 2017, पृ. 14

[3] https://www.thelallantop.com/india/post/maharashtra-767-farmers-died-by-suicide-in-just-three-months-of-2025

[4] मीनाक्षी चौधरी, भूमंडलीकृत भारत का किसान और संजीव का कथा साहित्य, अपनी माटी (किसान विशेषांक), सितंबर, 2017, पृ. 52

[5] संजीव, फाँस, वाणी प्रकाशन दिल्ली, 2015, पृ. 42-3

[6] वही, पृ. 102

[7] वही, पृ. 108

[8] वही, पृ. 72

[9] वही

[10] वही, पृ. 110

[11] वही, पृ. 118

[12] सुभाष पंत, कालीचाट, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, 2015, फ्लैप से उद्धृत

[13] https://m.punjab.punjabkesari.in/punjab/news/farmers-suicide-case-797475

[14] पंकज सुबीर, अकाल में उत्सव, शिवना प्रकाशन, सीहोर, 2016, पृ. 159

[15] वही, पृ. 209

[16] वही, पृ. 241

[17] https://www.bhadas4media.com/akal-mei-utsav/

[18] पी. साईनाथ, तीसरी फसल : भारत के निर्धनतम जिलों की दास्तान, (हिंदी अनुवाद : आनंद स्वरूप वर्मा), तीसरी दुनिया, नोएडा, 2003, पृ. 315-6

[19] राजू शर्मा, हलफनामे, सेतु प्रकाशन, नोएड़ा, 2025, पृ. 186

[20] वही, पृ. 80

[21] मिथलेश्वर, तेरा कोई संगी नहीं, लोकभारती प्रकाशन, इलाह्बाद, 2018, पृ. 173

[22] सुनील चतुर्वेदी, कालीचाट, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, 2015, पृ. 72

[23] वही, पृ. 73

[24] वही, पृ. 76

[25] वही, पृ. 81

[26] https://hindi.downtoearth.org.in/development/special-report-part-1-changing-character-of-migration-in-india-migrants-moving-from-city-to-village-70750

[27] सुनील चतुर्वेदी, कालीचाट, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, 2015, पृ. 145

[28] मिथिलेश्वर, तेरा संगी कोई नहीं, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2018, पृ. 13

[29] वही, पृ. 15

[30] वही, पृ. 79

[31] वही, पृ.10

[32] e-abhivykti.com

[33] पंकज सुबीर, अकाल में उत्सव, शिवना प्रकाशन, सीहोर, 2016, पृ. 102

[34] वही, पृ. 103

[35] वही

[36] वही, पृ. 104

[37] संजीव, फाँस, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015, पृ. 94

[38] राजू शर्मा, हलफनामे, सेतु प्रकाशन, नोएड़ा, 2025, पृ. 46

[39] वही पृ. 47

[40] कर्मेंदु शिशिर, बहुत लंबी राह, यश पब्लिकेशन,दिल्ली, 2015, पृ. 26

[41] शिवमूर्ति, आखरी छलांग, नया ज्ञानोदय, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, जनवरी, 2008, पृ. 84

अध्याय चतुर्थ

इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में किसान जीवन का आर्थिक परिदृश्य

प्रस्तावना

4.1 पारम्परिक आर्थिक स्वरूप का बिगड़ता हुआ गणित

4.2 औद्योगीकरण, भूमंडलीकरण एवं बाजारवाद का प्रभाव

4.3 सीमित आय एवं प्रकृति की मार

4.4 ऋण की समस्या

निष्कर्ष

प्रस्तावना

उदारीकरण के आगमन के साथ ही कृषि क्षेत्र में अचानक से बड़े बदलाव आए। जिससे कृषि क्षेत्र में उन्नत तकनीकों का आविष्कार हुआ एवं कृषि क्षेत्र में निवेश भी बढ़ा; परन्तु एक छोटे और सीमांत किसान के लिए यही सब अस्तित्व के लिए खतरा बन गया। एक मध्यमवर्गीय या छोटे किसान के पास बहुत ही कम जमीन होती थी। उस जमीन पर फसल उगाकर लाभ कमाना मुश्किल होता था। किसान कर्ज के दुष्चक्र में फँस जाता है और एक बंधुआ मजदूर बन कर रह जाता है। फिर भी किसान हमेशा प्रयासरत रहे हैं कि मौसम की मार हो या साहूकार की कुटिल चाल, वह हर मुसीबत का डटकर सामना करे। एक किसान तब और अधिक हताश हो जाता है जब उसको कर्ज के इस चक्र से बहार आने का कोई रास्ता नहीं दिखता। सरकारी नीतियों में भी जब उसे वह आश्वासन नहीं मिलता तो उसका निराश होना स्वाभाविक है। जिन नीतियों को इस प्रकार प्रचलन में लाया जाए की वे किसानों के लिए हितकारी होंगी; किन्तु उनका उल्टा ही प्रभाव होता, तो किसान अपने नसीब के आगे घुटने टेकने को मजबूर हो जाता गया। नई सदी के हिंदी उपन्यासों में किसान जीवन आर्थिक पहलुओं को यथार्थवादी दृष्टि के साथ उजागर किया गया हैं। जहाँ एक और किसान के पारम्परिक खेती के तरीको के स्थान पर माँग आधारित खेती ने ले लिया वहीँ दूसरी और जैविक खाद की जगह रासायनिक खाद ने ले ली। जिससे किसान की कृषि लागत बढ़ी है और दिन प्रतिदिन बढती जा रही है।

4.1 पारम्परिक आर्थिक स्वरूप का बिगड़ता हुआ गणित

मानव सभ्यता के विकास के समानान्तर कृषि और उसकी तकनीकों ने सभ्यता का अनुगमन किया है। धर्म, इतिहास और साहित्य से सम्बंधित ग्रन्थ इस विकास प्रक्रिया की प्रमाणिकता को सिद्ध करते हैं। मानव खेती का कार्य वैदिक काल से ही करता रहा है। प्रागैतिहासिक काल में मनुष्यों की जीवन-शैली आज के मनुष्यों से भिन्न थी। प्रागैतिहासिक काल में मनुष्य यायावर जीवन व्यतीत करता

था। वह भोजन के लिए पशुओं का माँस या यदा-कदा पृथ्वी से स्वतः उत्पन्न अन्न पर ही निर्भर करता था। मानव की बौद्धिक क्षमता और कृषि का विकास सामानांतर हुआ होगा। भारतीय समाज में प्राचीन काल से होती आ रही इस प्रकार की खेती कों परंपरागत खेती कहा जाता है। कृषि तकनीकी के विकास से पूर्व खेत जोतने से लेकर सिंचाई तक मानव श्रम ही किसानी में सबसे बड़ा कार्य माना जाता था। परंपरागत खेती में रासायनिक उर्वरकों की अपेक्षा जैविक खादों का प्रयोग किया जाता है। रासायनिक खाद की अपेक्षा जैविक खाद फसलों के लिए श्रेष्ठ होती है और ज़मीन की उत्पादकता बनाए रखती है। आज जैविक खाद की परिभाषा भी बदल गई है। अनेक कृषि क्रांतियों के प्रभाव से कृषि उत्पादन में वृद्धि हेतु रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग किया जाने लगा जिसके परिणामसवरूप उत्पादन में तो वृद्धि हुई; लेकिन अत्यधिक उर्वरकों और कीटनाशकों के प्रयोग ने धरती की नैसर्गिक उर्वरा शक्ति को नष्ट कर दिया। साथ ही धरती में प्राकृतिक रूप से पाए जाने वाले जैविक कीटों के खत्म होने के कारण धरती की प्रतिरोधक क्षमता भी कम हो गई। खेती की लागतों में वृद्धि भी इसका एक नुकसान ही है।

वर्तमान दौर में 'जैविक खेती' को रासायनिक उर्वरकों वाली खेती के विकल्प के तौर पर देखा जा रहा है। ऐसा नहीं है कि भारत में जैविक खेती का चलन आज के आधुनिक समय के साथ आया है। "भारतवर्ष में लगभग एक हजार ई० पूर्व तक पौधे उगाने, पशु पालने और कृषि प्रारंभ करने के साक्ष्य मिले है।"[1] जैविक खाद से खेती करने की परंपरा का चलन तो शुरू से ही रहा है। समय के साथ बस इसकी परिभाषा परिष्कृत होती जाती है। पूर्णरूप से जैविक खादों पर आधारित फसल उत्पादन करना 'जैविक खेती' कहलाता है। पशुओं का गोबर, फसलें काटने के बाद बचा हुआ भूसा और चूना जैसे पदार्थों का प्रयोग किया जाता रहा है। कुदरती खेती के लिए कोई अन्य प्रकार के विशिष्ट रसायनों की आवश्यकता नहीं होती इसी कारण से न तो किसान को क़र्ज़ लेना पड़ता है और न ही जहरीले उर्वरक मिट्टी में मिलाने होते हैं।

कृषि ही भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ है। वैसे तो भारत में कृषि प्राचीन काल के दौर से की जा रही है; किन्तु आजादी के बाद किसानों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए कुछ सुदृढ़ कदम उठाये गए। परंपरागत कृषि के अंतर्गत वह किसान जो आजादी से पूर्व से ही खेतों में उत्पादन का कार्य करते थे, वे रासायनिक उर्वरको के प्रयोग से अनभिज्ञ थे। खेतों में बीज बोना हो, फसल में खाद डालनी हो या फिर फसल को कीट-पतंगों से बचाना हो, वे सभी समस्याओ के लिए देशी दवाओं का ही प्रयोग करते थे। जब भूमि को जैविक खाद की अपेक्षा रसायन से युक्त जहरीली खाद डाली जाती है तो भूमि बंजर होती चली जाती है। इस चुनौती के विकल्प के रूप में प्राकृतिक खेती ही है जो काफी हद तक किसानों की समस्याओं को दूर कर सकती है।

कुदरती खेती को अपनाने का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि हरित क्रांति से पहले के तरीकों को, अपने पूर्वजों के तरीकों को आँख बंद करके अपनाया जाए। इन पारम्परिक तरीकों को अपनाने के साथ-साथ हमें यह सुनिश्चित कर लेना आवश्यक है कि पिछले 40-50 वर्षों में हमने जो ज्ञान और अनुभव हासिल किया है उसका भी प्रयोग करना है। यह ज्ञान और अनुभव वैज्ञानिक सोच से आए हैं और इसका आज के आधुनिक युग में अपना अलग महत्व है।

प्राकृतिक खेती अपनाने का उद्देश्य यह है कि किसान को सम्मानजनक और सुनिश्चित आमदनी मिले। उसे पैसो के लिए रासायनिक खेती पर निर्भर न होना पड़े। जब हमारे किसानों को जैविक खेती में ही अच्छी आमदनी मिलेगी तो वे क्यों ही रसायनों का प्रयोग करेंगे। हालाँकि भारतीय परिस्थितियों में यह इतना आसान नहीं है; लेकिन फिर भी यह बेहतर विकल्प है जैसा कि चलती चाकी में वर्णित है "बातचीत से यह भी पता चला कि रासायनिक खादों के बजाय गोबर की खाद का इस्तेमाल किया जाए तो न सिर्फ खेतों की ऊर्वरा शक्ति बढ़ेगी, उनमें जो फसल उगेगी, वह सेहत की दृष्टि से ज्यादा अनुकूल होगी। जैविक खेती का पूरी दुनिया में चलन बढ़ रहा है। हालांकि अभी हमारे देश में जैविक खेती एक कठिन काम है।

ऐसी फसलों का बाजार अभी विकसित नहीं हो पाया है। जो लोग इस क्षेत्र में काम कर रहे हैं, वे बहुत साधन संपन्न और पहुंच वाले लोग हैं। देश के बाहर का बाजार भी वे जानते हैं। देश की राजधानी में जगह-जगह बिक्री केंद्र खोल रखे हैं। वहां संपन्न लोग पहुंचते और उनका उत्पाद खरीदते हैं। फिर जैविक खेती का प्रमाणपत्र लेना काफी खर्चीला और जटिल काम है, इसलिए भी हमारे देश के किसान इसकी तरफ आकर्षित नहीं हो पा रहे। यों भी हमारे देश के किसान इतने जागरूक, इतने पढ़े-लिखे नहीं हैं कि बाजार के रुझान के अनुरूप खेती करें। इसलिए भी मुश्किलें आती हैं।"[2] इससे किसानों में यह विश्वास बढेगा की छोटी जोत की खेती भी सम्मानजनक रोजगार और जीवन दे सकती है। हर इंसान को स्वास्थ्यवर्धक और पर्याप्त भोजन मिलेगा। पर्यावरण संतुलन में भी कुदरती खेती की महत्त्वपूर्ण भूमिका है और यह हमारे सतत विकास लक्ष्यों को शीघ्र प्राप्त करने में सहयोग देगा।

एम. एम. चंद्रा ने अपने उपन्यास 'यह गाँव बिकाऊ है' में इस स्थिति का उल्लेख किया है। उसमें बताया गया है कि बल्ली नामक एक बड़ा एवं संपन्न किसान है। वह खेती को अपने तरीके से करना पसंद करता है और इसी में वह अपना खुशहाली का जीवन जी रहा है; लेकिन सरकार के हठ के सामने किसान की सुकून की जिंदगी का क्या मोल? सर्वप्रथम तो सरकार ने विदेशी बीजों को भारत के बाज़ार में प्रचलित करवाया और इसे आर्थिक सुधार नीति का नाम दे दिया। इसके प्रभाव से परम्परागत बीज बाजार से गायब होने लगे। संकर बीजों को खरीदने और प्रयोग में लाने के अलावा किसानों के पास और कोई उपाय न रहा। बल्ली उन किसानों में से है जिसे अपनी शर्तों पर खेती करना पसंद है।

सरकार द्वारा उपलब्ध करवाए जाने की वजह से बाज़ार में न संकर बीजों की अधिकता होती है। इसके बावजूद बल्ली अपने परंपरागत कॉटन के बीज से ही खेती करता है। परिणामस्वरूप जब उसकी फसल तैयार होती है तो और वह के

बाजार में उसे बेचने ले जाता है तो उसकी फसल नहीं बिकती। हाइब्रिड बीजों की फसलों के बाज़ार में उसे उसकी फसल के लिए एक भी ग्राहक नहीं मिलता। संकर बीजों एवं परंपरागत बीजों की दौड़ में अक्सर बल्ली जैसे किसान बहुत पीछे रह जाते है। यही हाल बल्ली और उसके जैसे अनेक किसानों का भी होता है- "बल्ली ही नहीं, न जाने कितने किसानों ने कर्ज लेकर कपास की आधुनिक खेती शुरू की थी। बल्ली ने अगली फसल के लिए बड़ी मल्टीनेशनल कंपनी से बढ़िया बीज खरीदा ताकि इस बार फसल और अधिक अच्छी हो और पुराना कर्ज उतर सके। बल्ली ने ऐसा ही किया। लेकिन बल्ली को नहीं पता था कि बढ़िया बीज के साथ, उस कंपनी का महंगी कीमत पर खाद और कीटनाशक भी खरीदना पड़ेगा, क्योंकि अन्य खाद और कीटनाशक का कोई प्रभाव आधुनिक खेती पर नहीं पड़ता। बीज, खाद और कीटनाशक एक ही कंपनी से खरीदना बल्ली की जरूरत नहीं, मजबूरी थी।"[3] बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ अपने झूठे दावों और छलावों के सहारे बाज़ार में अपनी पैठ जमाना चाह रही है। जिस सरकार को अपने देश के किसानों के हित में बहुराष्ट्रीय कंपनियों पर लगाम लगानी चाहिए थी, वहीं सरकार इन विदेशी कंपनियों को खुली छूट देती है और वे अपने पैर यहाँ जमा लेती है। किसानों को जब उनके परंपरागत बीज उपलब्ध ही नहीं होंगे तो वे मजबूरन नए संकर बीजों से खेती करेंगे।

किसान श्रमशील और परिश्रमी होता है। वह कभी मेहनत करने से नहीं कतराता है। वह अपनी आशा और श्रम का भरपूर प्रयोग खेतों की जुताई- बुआई तथा खेतों के काम-काज में ही लगाया करता है। पहले के समय एक अच्छे अभ्यास के रूप में देखा जाता था कि कभी किसान श्रम का सामूहिक योगदान किया करते थे। अपने गाँव की आवश्यकतानुसार गाँव के सभी किसान मिलकर कार्य किया करते थे जैसे- कुआँ तैयार करना, खेतों में बीजों का रोपण करना, नेकी और बदी के समय एक दूसरे के कामों में सहायता करना आदि। भारत में कृषि उत्पादन बढ़ाने

हेतु और किसानों की स्थिति में सुधार के लिए 'हरित क्रांति' जैसी कई क्रांतियाँ हुई। इन क्रांतियो से उत्पादन में तो वृद्धि हुई पर कृषकों की आर्थिक स्थिति में कोई खास सुधार नहीं दिखाई दिया।

बल्ली जैसे तमाम किसान जिनके लिए खेती मात्र उनकी आजीविका का माध्यम ही नहीं; बल्कि उनके जीवन में खुशहाली का भी स्रोत है, खेती की नई तकनीकों और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के बढ़ते प्रभाव के कारण अपनी परंपरागत शैली को त्यागने के लिए विवश है। इस परिवर्तन ने उनके जीवन व कृषि को तबाह कर दिया है। इससे पूर्व वह पूरे मनोयोग से खेती करता था। उसके हिसाब में भी पारदर्शिता थी। एक निश्चित वर्ष की खेती की लागत और लाभ के बारे में वह सबके सामने बताता है। छोटे एवं नए किसानों को बल्ली के इस प्रयास से सहायता मिलती और वे सीख लेते की किस प्रकार खेती करनी चाहिए। हाल ही के इन वर्षो में कृषि में किए जा रहे नए विदेशी प्रयोगों ने जबरन अपनी तकनीक को किसानों पर थोपा है। बल्ली जैसे किसान जों उभरते हुए किसानों के लिए प्रेरणा हो सकते थे, उन्ही के खेतो में नए बीज से एक पौधा भी नहीं निकला।

बल्ली ने समय के साथ कदम मिलकर चलना चाहा था। उसने हायब्रिड बीजों से अच्छी पैदावार के लिए आवश्यक संपूर्ण कार्यपद्धति का पालन किया। नए प्रकार के सारे बीज, खाद और कीटनाशक लगाने के बावजूद भी उसके खेत परती जैसे रह गए। अपनी वर्ष भर की मेहनत को यूँ व्यर्थ होता देख उसका मन बहुत खिन्न हो गया। मरता क्या नहीं करता इसलिए वह इस बात की शिकायत लेकर कृषि के सरकारी दफ्तरों के चक्कर काटता रहा। एक दफ्तर से दूसरे दफ्तर के चक्कर काटते-काटते वह हताश हो गया; लेकिन कहीं कोई सुनवाई नहीं हुई। जब किसी भी जगह से उससे आशा न दिखी तो वह थक-हारकर बैठ गया। बल्ली जैसे सीधे-सादे किसान को क्या ही पता की जिस सरकार के पास वो गुहार लगाने जा रहा है उसी सरकार की नीतियों के कारण उसकी ये हालत हुई है। सरकार ही तो अपने फायदे के लिए इन बहुराष्ट्रीय कंपनियों को ऐसे बीज तैयार करके किसानों तक

पहुँचाने का माध्यम बनी हुई है। यदि वही सरकार ही किसानों की हिदायत करने लगी तो कंपनियों को कैसे फायदा होगा। एक समय में जों बल्ली गाँव का सबसे संपन्न और खुशहाल किसान था, वही आज कर्ज के बोझ तले दब गया है – "बल्ली एक बार बैंकों का कर्जा तो चुका भी देता, क्योंकि उसको तो सरकार ने समय दिया हुआ था; लेकिन उन सूदखोरों का पैसा कहाँ से लौटाता, जिनसे यह कहकर कर्ज लिया था, फसल के बिकने पर कर्जा उत्तार दूँगा। उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा दाव पर लग चुकी थी। उसे कोई भी रास्ता नजर नहीं आ रहा था।"[4] इससे यह बात स्पष्ट होती है कि पूँजीवाद सिर्फ और सिर्फ बड़े उद्योगपतियों का भला करता है। अमीर बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ और अमीर बनती जाती है। इससे किसान के आर्थिक जीवन का पारम्परिक गणित बिगड़ता है।

कृषि जैसे उपक्रम को जिसमें भारत के गरीब मजबूर किसान जुड़े हैं, जब पूँजीवादियों के ढर्रे पर लाया गया तो संपन्न किसान भी रास्ते पे लाकर खड़ा कर दिया गया। कृषि में मुख्यतः गाँव के निम्न आय वर्ग के लोग जुड़े है। ऐसे किसान पहले से ही अपनी निजी समस्यायों से जूझ रहे होते हैं। अब उन्हें विदेशी कम्पनियों से टक्कर लेनी है। गाँव के सबसे बड़े किसान का नाम भी आज बैंक के सबसे बड़े कर्जदार की श्रेणी में आने लगा है। वह जानता है कि वह सरकार और बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हाथों से ठगा गया है। फिर भी वह इस आस में अपने जैसे अन्य किसानों को लेकर एक बैंक से दूसरे बैंक, एक दफ्तर से दूसरे दफ्तर और एक नेता से दूसरे नेता के यहाँ चक्कर काट रहा है कि उसे कही तो न्याय मिलेगा। अपने साथ और भी किसानों को लेकर कभी बैंक तो कभी नेताओं के दफ्तर में चक्कर काट रहा है। हर तरफ से निराश अब बल्ली पूरी तरह से लाचार हो चुका है। उसके सामने कोई रास्ता नहीं बचा।

भारतीय किसानों ने अधिक उत्पादन की लालच में पारंपरिक खेती व्यवस्था को त्याग दिया है। वे अब खेती में नए-नए प्रयोग करने लगे है; लेकिन उन्हें तनिक भी इस सत्य का अनुमान न था कि उनका खेती में नया प्रयोग लाभ देने की अपेक्षा उन्हें उल्टा हानि ही पहुँचाएगा। इन प्रयोगों के पश्चात मिट्टी की

उत्पादन क्षमता नष्ट होती जा रही है। हर सिक्के के दो पहलू होते है। आधुनिक प्रक्रिया के संशोधित बीज और रासायनिक खादों को कृषि में इसलिए लाया गया था कि वे किसान की फसल के उत्पादन और गुणवत्ता को बढ़ाएगी। इसके विपरीत इसने किसानों की जमीन की उत्पादन क्षमता को नुकसान पहुँचाया है। अगर किसान की फसल अच्छी होती है तो व्यापारी दाम गिराकर उसकी खरीद करते हैं। किसानों को इससे फायदा की जगह नुकसान ही होता है।

बल्ली जिस भ्रम में आकर, किसानों को नए ढंग की कृषि अपनाने के लिए प्रेरित करता रहता था आज उन्ही किसानों के सामने जाने में भी उसे शर्म महसूस हो रही है। वह गाँव के लोगों के सामने जाने से कतराता है। वह हमेशा लोगो से छिपने की कोशिश करता कि कहीं कोई उसे देख न ले। वह ऐसे रास्ते से अपने खेत की तरफ जाता कि उस पर किसी की निगाह ही न पड़े। एक समय में गाँव का संपन्न किसान बल्ली कभी शान से चलता था, आज उसकी यह दशा हो गयी है कि वह लोगों से आँखे चुराता फिरता है। हरे-भरे खेत से बंजर जमीन में तब्दील हुए बल्ली के खेत, हमारे देश की खस्ताहाल कृषि नीतियों का जीता जागता उदाहरण है - "बल्ली ने सबसे पहले अपने खेतों की तरफ देखा, जहाँ उसके खेत लहलहाते थे। बल्ली को अब वे खेत सूखे बंजर दिखाई दे रहे थे। उसने अपने उन खेतों की तरफ भी देखा, जिसमें परम्परागतरूप से खेती हो रही थी। लेकिन उन खेतों को देखकर उसे ज्यादा सुकून नहीं मिला। उसने अपने खेत की मिट्टी को माथे से लगाया और फिर धीरे-धीरे खेत की मिट्टी को अपने पूरे शरीर में मलने लगा। जब वह अपनी खेत की मिट्टी से पूरी तरह भूत बन गया, तब वह अपने ही खेत में थोड़ी देर के लिए औंधा लेट गया।"[5] उसका इस प्रकार अपनी मिट्टी के साथ बिलखना भारतीय किसान के आर्थिक रूप से पूरी तरह बर्बाद होने और निराशा के चरम पर पहुँच जाने का प्रमाण है।

शहरीकरण ने सभी जगह अपने पैर पसार लिए है, चाहे वह गाँव हो या कस्बों के गली-मुहल्ले। सभी का शहरीकरण हो रहा है। यही कारण है कि ग्रामीण सभ्यता और संस्कृति में भी अभूतपूर्व बदलाव दृष्टिगोचर है। सदियों से ही किसान

मात्र कृषि कार्य ही नहीं करते; परन्तु उसके सामानांतर ही अन्य कार्य भी किया करते हैं। डेयरी और पशु पालन इसमें शामिल है। पशु हमेशा से किसान का सहयोगी रहे हैं; परन्तु अब ऐसा चलन देखा गया है कि किसानों में पशु पालने की प्रवृत्ति समाप्त होती जा रही है। कृषि के साथ ही पशु पालन किसानों के लिए बहुत हितकारी था। मुख्य बात यह है कि ये पशु या जानवर किसानों के कृषि कार्यों में बहुत सहायता करते थे। वे किसान जो एक ट्रेक्टर नही खरीद पाते थे, उनके लिए बैल खेत जोतने में मदद करते थे। इसके अतिरिक्त फसल कटने के बाद जब तैयार हो जाती खलिहान से अन्न और भूषा ढोने में भी आसानी होती थी। इसके साथ ही ये पशु किसानों के खाने पीने में भी सहायक हुआ करते थे। गाँवो में दूध, दही और घी पशुओं से प्राप्त किया जाता था।

कृषि की संपूर्ण प्रक्रिया जैसे की फसलों की सिंचाई से लेकर कीटनाशक दवाओं तथा आधुनिक कृषि उपकरणों के प्रयोग से किसानों के लिए आज के दौर में कृषि करना बहुत ही महँगा होता है। इन अत्यधिक खर्चों का सामना किसानों को करना पड़ता है। प्राचीन काल और मध्यकाल में यह चलन नहीं था। उस समय किसान उत्पादित फसलों में से ही बीज के रूप में अपने घरों में सुरक्षित रखता था और समय आने पर अगले सीजन में उससे खेतों में बुआई करते थे। किसान गेहूँ, धान और अनाज की फसल तैयार होने के पश्चात् उसमें से मोटे और अच्छे अनाज को छांट कर अलग रख लिया करते थे। पहले के समय में इन बीजों को सुरक्षित रखने के लिए आज की तरह कोल्डस्टोरेज की सुविधा नहीं थी। इन बीजों को सुरक्षित रखने के लिए प्रत्येक किसान के घर में जमीन के अन्दर गोलानुमा आकार बनाकर रखा जाता था। कीड़े मकोड़ों से बचाने के लिए नीम की पत्तियों को अनाज के साथ डाला जाता था।

आधुनिक खेती को रासायनिक खेती का पर्याय मान लिया गया है। इसके नाम पर रासायनिक खाद्य का जमकर उपयोग पिछले कुछ वर्षों में तेजी से होने लगा है। किसान सिर्फ उत्पादन में मात्रा को ध्यान में रख रहे है, गुणवत्ता को नहीं।

अधिक उत्पादन की चाह में बेधड़क रासायनिक खाद का इस्तेमाल न केवल धान, मक्का आदि अनाजो के लिए होने लगा है; बल्कि सब्जियों के लिए भी अब ये प्रचलित हैं। प्रकृति पर रासायनिक खाद के उपयोग से होने वाले प्रभावों को नज़रंदाज़ किया जा रहा है। मानव शरीर पर भी इसका हानिकारक प्रभाव पड़ने लगा है। कैंसर जैसी जानलेवा बीमारियाँ इन कीटनाशको के प्रयोग के कारण ही बढ़ने लगी है। जब भी मनुष्य अपनी विवेकहीनता के कारण प्रकृति के साथ खिलवाड़ करता है तो कभी न कभी उसका दुष्प्रभाव मनुष्य पर आना भी तय है। हम सभी आपस में जुड़े हुए हैं। हम हर तरह से प्रकृति पर ही निर्भर है। खाद की आदत लगाने के लिए किसानों को शुरूआती दौर में मुक्त रासायनिक खाद देने की योजना भी कम्पनियों की रही है; लेकिन बाद में किसान उन पर ही निर्भर हो जाते हैं।

भारत का दुनिया में कृषि रसायनों के उत्पादन में चौथा स्थान है। हमारे यहाँ उत्पादित कृषि रसायनों का हम स्वयं ही उपयोग करते हैं। अन्य देश इनके दुष्प्रभावो से परिचित है और इनका उत्पादन करके निर्यात कर देते है। इनके दुष्प्रभावों से मनुष्य ही नही वरन् पशु-पक्षी, पानी और पर्यावरणीय जीवन अस्त-व्यस्त हो रहा है। पारिस्थितिक तंत्र के हर पहलू को इसने प्रभावित किया है। प्रथम दृष्टया ये कीटनाशक खेती के लिए तो फायदेमंद है, पर जीव-जंतुओ के जीवन पर भी इसका विपरीत प्रभाव हो रहा है। किसानों का मित्र कहे जाने वाला जन्तु केंचुआ पहले बहुत अधिक पाया जाता था, अब खेतों में बहुत कम दिखाई देते हैं। मानव स्वास्थ्य पर भी इसका बुरा असर पड़ रहा है। नित नई बीमारियाँ सामने आने लगी है। ऐसी बिमारियाँ जिनका नाम तक भी चिकित्सकों ने नहीं सुना। पौधे और शाक-सब्जियों में इन कीटनाशक दवाओं का छिड़काव होने लगा। इस कारण से वे खाने योग्य नहीं रहीं। फिर भी लोग इन खाद्य सामग्री के रूप में जहर खाने को विवश है। अब ऐसा नहीं है कि जनता या किसान इस बात से अनजान है, इन रसायनों का प्रयोग घातक है; परन्तु अब स्थिति इस प्रकार है कि कृषि इन सब पर

निर्भर हो गयी है। जब किसान इन दवाओं का छिड़काव खेत में करता है तो उस खेत की खरपतवार तो नष्ट होती ही है और साथ ही पशुओं के खाने योग्य घास भी जहरीली हो जाती है। ऐसी जहरीली घास के सेवन से पशुओं के स्वस्थ्य को भी हानि पहुँचती है। आजकल ऐसा देखने में आया है कि जानवरों में भी अनेक नई प्रकार की बीमारीयां उत्पन्न हो रही है। पिछले कुछ वर्षों से पक्षियों पर भी इसके बहुत दुष्प्रभाव दिखाई देने लगे हैं। मनुष्य की इस गलती का भुगतान सभी जीव-जंतु कर रहे हैं। नयी प्रकट होने वाली बीमारियाँ काफी समय तक पहचान में नहीं आती और जब वह चिकित्सको की नज़र में आती है तब तक बहुत देर हो चुकी होती है। ऐसी बीमारियों के लिए बचाव ही उपाय है।

बहुत सारी पक्षियों की प्रजाति विलुप्त ही हो गई है। मृत जानवरों के माँस खाने वाले पक्षी जैसे गिद्ध और चील अब यदा-कदा ही दिखाई देते हैं। यह पक्षी हमारे पारिस्थितिक तंत्र के संतुलन के लिए अंत्यंत अहम् भूमिका निभाते हैं। ऐसे पक्षियों की प्रजातियाँ अब विलुप्त हो गई हैं। इस सबंध में संजीव लिखते हैं कि "धुएँ के कहर के अलावा खेती के प्रयोग में आने वाले कीटनाशक, मोबाईल टावर के रेडिएशन भी मधुमक्खियों और मित्र पक्षियों के संहारक हैं।"[6] इस प्रकार संजीव ने 'फाँस' उपन्यास में विदर्भ क्षेत्र में रासायनिक उर्वरकों और जहरीले रसायनों के छिडकाव से प्राकृतिक कीटों के मरने और दुर्लभ प्रजातियों के लुप्त होते जाने की समस्या को दिखाने का प्रयास किया है।

भारतीय किसान अब धीरे-धीरे पारंपरिक बीजों के प्रयोग से विमुख हो रहे हैं। बाजारवाद के प्रभाव से किसानों की बाजार पर निर्भरता बढ़ गयी है। जिस देश के किसानों को हमे आत्मनिर्भर बनाने के लिए बाज़ार को खोला था, उसी बाज़ार ने स्वयं उन्हें अपना गुलाम बना लिया। शाक सब्जियों से लेकर फल-फूल तक सभी बीज आसानी से बाज़ार में उपलब्ध है, जैसे की गेहूँ, बाजरा, चना, मटर, आलू और टमाटर आदि। हालाँकि ऐसा नहीं है कि इन बीजों के प्रयोग से फसलों के उत्पादन में बढ़ोत्तरी नहीं हुई, निसंदेह पहले की अपेक्षा बढ़त ही हुई है; परन्तु इसका एक

बड़ा भारी नुकसान यह भी दिखाई दिया कि जब इन बीजों की खेतों में एक बार बुआई कर दी जाती है, उसके बाद उसे दुबारा यानी अगले सीजन में प्रयोग नहीं कर सकते क्योंकि दुबारा उनका उत्पादन ही उतना होता है और कम्पनियाँ उस बीज की पेटेंटधारी होती है, तो वे किसानों पर केस भी कर सकती है। अब स्थिति यह हो गयी है कि किसान खेतों में बीज बोने के लिए नए-नए हाइब्रिड बीजों को बाजार से महंगे भाव में खरीद कर लाते तो हैं; परन्तु इन बीजों की उपयोगिता सीमित है।

21वीं सदी के उपन्यासों में पारंपरिक खेती के उदाहरण तो उस रूप में नहीं मिलते; लेकिन किसान के बिगड़ते आर्थिक गणित का चित्रण जरूर मिलता है। जहाँ नए बीजों ने, अधिक उत्पादन के लालच में और कम्पनियों के भ्रामक प्रचार ने उसे ना तो अपने परम्परागत आर्थिक स्वरूप में रखा और न ही आज के आर्थिक जगत में कोई स्थान दिया। इन उपन्यासों में रासायनिक खेती को लेकर विस्तृत चर्चा की गई है। इस सत्य को हमे स्वीकार करना होगा कि यदि किसान रासायनिक खेती करना नहीं बंद करेंगे तो आने वाले दिनों में बहुत ही भयावह परिणाम भी सामने आयेंगे। हम किसानों को अचानक से रसायनों की उपयोग के लिए मना नहीं कर सकते। पहले हमे स्वयं कृषि वैज्ञानिकों के साथ मिलकर कुछ ठोस विकल्प उनके सामने रखने होंगे। हालांकि सरकार अब 'ग्रीन अर्थ' जैसी योजनाओं का प्रचार कर रही है। इसके माध्यम से जैविक खेती पर जोर दिया जा रहा है। किसानों को जागरूक करना भी इसका भाग है। इस योजना के कुछ सुखद परिणाम भी आने लगे है। किसान अब रासायनिक खेती की बजाय जैविक खेती के महत्त्व को समझने लगे हैं।

4.2 औद्योगीकरण, भूमंडलीकरण एवं बाजारवाद का प्रभाव

जब से भारत ने उदारीकरण के दौर में प्रवेश किया है यह निश्चित था कि बाज़ार में परिवर्तन आएगा; परन्तु यह परिवर्तन कृषि में भी इतना अधिक और शीघ्र दृष्टिगोचर होगा यह कल्पना नहीं की गयी थी। भारत में उदारीकरण,

निजीकरण और भूमंडलीकरण के आने के बाद कृषि में भी बदलाव देखे गए। नए-नए उपकरणों और तकनीकों के प्रयोग से खेती होने लगी।

विजय गुप्त के शब्दों में- "आज हम मूल बीजों की जगह संकर बीजों की खेती करने को मजबूर कर दिए हैं। हाइब्रिड बीजों से खेती करना गुलामी करने जैसा है। हाइब्रिड बीज कंपनियों के मालिकों की सख्त नियमावली और शर्तें हैं। बिना उनकी अनुमति से हम बीजों का दुबारा इस्तेमाल नहीं कर सकते। एक बार फसल लेने के बाद अमूमन हाइब्रिड बीज बंजर हो जाते हैं। हाइब्रिड फसलें वैसे भी गरीब और साधनहीन किसानों के लिए कहीं से भी बेहतर नहीं हैं। 90 से 140 दिनों की हाइब्रिड फसलों को बहुत पानी और देख-रेख चाहिए, जो मामूली और छोटी जोतवाले किसानों के लिए संभव नहीं।"[7] जैसा की देखने में आया है कि हाइब्रिड बीज से हमारे किसानों को खेती की लागत में अतिरिक्त बोझ पड़ता है। हाइब्रिड बीज साधारण बीजों की अपेक्षा में महँगे होते हैं। बाज़ार में परंपरागत बीजों के अभाव में सरकार ने किसान की विवशता का लाभ उठाया।

विकसित देशों की यह प्रवृत्ति रही है कि अन्य विकासशील देशों में ऐसी तकनीक व पदार्थों का निस्तारण किया जाए जों बाकि सभी देशों ने नकार दी हो। अमरीका ने यही प्रयोग भारत के कृषि क्षेत्र पर किया। अमेरिका के ये प्रयास मात्र खेती से जुडी तकनीकों तक सीमित नहीं है। 'फाँस' उपन्यास में संजीव विदर्भ क्षेत्र में इन स्थितियों को दिखाते हैं। हमारी सरकारें भी उदारीकरण की नीतियों के नाम पे अमेरिका जैसे विकसित देशों के आगे नतमस्तक होकर उनको यहाँ कंपनियां लगाने में भरपूर सहयोग करती हैं। सरकार का मानना है कि इससे हमारे देश में विदेशी निवेश बढ़ता है। इसका परिणाम यह निकला है कि हमारे देश के किसान कर्ज लेने और चुकाने के दुष्चक्र में फँस गए हैं। यह सब बहुराष्ट्रीय कंपनियों के प्रचार प्रसार का ही नतीजा है। महंगे हाइब्रिड बीज, खाद और सिंचाई के उपकरणों की जरुरत के कारण कृषि की लागत बढ़ जाती है और मजबूरन किसान को क़र्ज़ लेना पड़ता है। विजय गुप्त के अनुसार "पाँचवे-छठे दशक में अमरीकी

बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने विकास के झूठे सपने को दिखाकर ग्वाटेमाला की बेहद-उर्वर जमीनों को हथियाना था। उनकी अमूल्य फसलों पर बलात् कब्जा कर उस खेतिहर गरीब देश को बर्बाद कर दिया था। बर्बादी का यह पूरा हिसाब- किताब इतिहास के खाता-बही में दर्ज है।"[8] अगर हरित क्रांति के बाद के समय को देखें तो उस समय किए गए प्रयोगों का नतीजा पंजाब, हरियाणा, कालाहांडी और विदर्भ क्षेत्र में देखने को मिलेगा।

भारत में कॉरपोरेट खेती का रुझान बढ़ गया है। इसके होने से किसानों के श्रम के योगदान की सामूहिकता और महत्वत्ता धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही है। कृषि क्षेत्र में नई-नई तकनीकी का प्रयोग होने से मजदूर किसान या गरीब किसान पूरी तरह बेकार हो गए हैं। किसान के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न लग गया है।

जब से पूँजीवाद, निजीकरण और बाजारवाद का वर्चस्व भारतीय समाज पर स्थापित होने से किसान जो भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ है, वही आज शोषित वर्ग का हिस्सा है। वह रीढ़ ही आज खेती-बाड़ी छोड़कर शहरों की ओर रोजी-रोटी के लिए पलायन को विवश हैं। दिन-ब-दिन बढ़ती महँगाई से खेती करने में इतनी लागत बढ़ गयी है कि फायदे की तो बात छोड़िए, अगर किसान को उसकी लागत अनुसार उतना ही वापस मिल जाए वह भी बहुत है। इन सभी खर्चों के बीच उसे अपने अन्य महत्पूर्ण खर्चो से समझौता करना पड़ता है। बीज बोने से लेकर फसलों की सुरक्षा के लिए महेंगे हायब्रिड कीटनाशकों का छिड़काव का खर्च और सिंचाई का खर्च इतना बढ़ गया है कि वह अपने परिवार को सही से परवरिश नहीं कर पा रहा है। इसी कारण से किसान अवसाद में है।

राष्ट्रीय सर्वेक्षण विभाग की रिपोर्ट के अनुसार देश के लगभग आधे किसान खेती छोड़ देना चाहते हैं। इसी ऊहापोह का चित्रण 'फाँस' उपन्यास में संजीव इस प्रकार करते हैं- "तुम ही नहीं, इस देश के सौ में से चालीस शेतकारी आज ही खेती छोड़ दें अगर उनके पास कोई दूसरा चारा हो, 80 लाख ने तो किसानी छोड़ भी

दी।"[9] रोजगार की कमी के कारण किसानों के पास खेती- किसानी के अलावा कोई दूसरा विकल्प नजर नहीं आ रहा है।

पिछले कुछ दशकों ऐसा देखा गया है कि किसानों के खेती छोड़ने का पहला कारण यह है कि सरकारी योजनाओं का सही तरीके से क्रियान्वयन न होना। जब सभी बहुराष्ट्रीय कंपनियां किसानों का शोषण कर अपना मुनाफा भुनाने में लगी है तो कम से कम हमारे देश की सरकार को तो किसानों के हित में फैसले और योजनाओ को लागू करना चाहिए था। चुनाव के समय तो किसानों के हित में योजनाओं की घोषणा बहुत होती है परन्तु वह सिर्फ बातूनी ही होती है। चुनाव पूरा होते है ऐसे वादे को भुला दिया जाता है। सरकार के इस उदासीन रवैये का भुगतान किसान को करना होता है। किसानों के पलायन करने का दूसरा कारण है - कर्ज की अदायगी न कर पाना। यह क़र्ज़ किसी भी प्रकार का हो सकता था है। चाहे जमींदार से, साहूकार से या फिर सरकारी बैंकों से ही क्यों न लिया गया हो, क़र्ज़ सदैव से ही किसानों को पीड़ा देता है। एक स्वाभिमानी किसान कभी भी क़र्ज़ के बोझ तले दबकर नहीं रह पायेगा। अच्छे और बेहतर जीवन की तलाश में वह पलायन करके शहर जाने को मजबूर है। क़र्ज़ लेने की विवशता का भी मूल कारण है पर्यावरण के बदलते मिजाज। बिन मौसम हो रही बरसात हो या भूमि की घटती उर्वरा शक्ति, इन सबके कारण किसान को क़र्ज़ लेना पड़ता है। फसलों की बढ़ोत्तरी के लिए किसानों द्वारा रासायनिक उर्वरकों और कीटनाशकों का भी प्रयोग किया जाना भी इसका कारण है। रासायनिक उर्वरक क्या है? इनका प्रयोग क्यों किया जाता है? कृषि पर इनका क्या प्रभाव पड़ता है? भारतीय किसान रासायनिक उर्वरकों का प्रयोग क्यों करने लगा है? इसकी जाँच-पड़ताल करना अनिवार्य है।

धीरेन्द्र झा 'खेत मजदूर : हाशिए का बढ़ता हस्तक्षेप' शीर्षक नामक अपने लेख में लिखते हैं कि "ग्रामांचलों के इसी सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिदृश्य के बीच गाँव के गरीबों- खेत मजदूरों पर वैश्वीकरण, उदारीकरण के हमले

तेज हुए हैं। विश्व व्यापार नियंत्रित भारतीय कृषि नीति ने जिस कृषि संकट को पैदा किया है। उसकी सबसे ज्यादा मार गाँव के खेत-मजदूरों पर पड़ रही है। कृषि क्षेत्र में रोजगार के अवसरों में बेतहाशा कमी आई है। रोजगार के लिए मजदूरों का पलायन बड़े पैमाने पर हो रहा है। विकसित कृषि इलाकों तथा गैर कृषि क्षेत्रों में अमानवीय जीवन स्थितियों में उन्हें रोजगार तो मिल रहा है, लेकिन मजदूरी के दर में लगातार गिरावट आ रही है। आलम यह है कि कृषि के क्षेत्र में पिछड़ा इलाका, बाढ़-सुखाढ़ प्रभावित क्षेत्र सस्ते श्रम के सप्लाई जोन के रूप में विकसित हो रहे हैं।"[10] खाद्यान्न सुरक्षा को हरित क्रांति का लक्ष्य बना दिया गया। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए तत्कालीन सरकार हर प्रयास किये। इन प्रयासों को अपनाते हुए यह नही देखा गया कि कहीं वे उल्टा हमारे ही देश की मिटटी का नुकसान तो नहीं कर देंगे।

इस प्रकार का नया प्रयोग करते समय एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण अनिवार्य था जिसमे हर पहलू की जाँच हों। इस दौरान रासायनिक उर्वरकों का अंधाधुंध इस्तेमाल किया गया। किसानों को भी रसायनों के उपयोग हेतु प्रेरित किया जाता था। रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग के साथ-साथ रासायनिक कीटनाशकों का भी भारी मात्रा में प्रयोग किया गया। शीघ्र ही किसानों के बीच में यह चलन बन गया और रासायनिक कीटनाशको और उर्वरको से युक्त फल-सब्जियाँ बाज़ार में बिकने लगी। हालाँकि अत्यधिक मात्रा में रासायनिक उर्वरकों तथा कीटनाशकों के प्रयोग से खाद्यान्नों की पैदावार में तो बढ़ोत्तरी हुई परंतु भूमि की उर्वरा शक्ति पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। जमीन की पैदावार शक्ति घटने लगी। मृदा अपनी नैसर्गिक प्रवृति से रहित हो गई और उसकी संरचना में भी अनेक ऋणात्मक दुष्प्रभाव दिखाई देने लगे। निश्चित ही मिटटी की उर्वरता और संरचना को लम्बे समय तक बचाये रखना आज हमारे लिए एक चुनौती बन गया है।

बी.टी. बीज यानि 'बेसिलस थिरुन्जिनेसिस/थ्युरेनजिनेसिस' से अनुवांशिक रूप संशोधित कपास की एक किस्म है। इस विशेष किस्म के कपास में कीटों से

लड़ने की क्षमता है। वैज्ञानिक तकनीकी द्वारा शोध करके तैयार किया गया है। यह एक ऐसा बीज है जिसे बोने के बाद किसी भी प्रकार की दवा की छिड़काव की जरूरत नहीं होती है। अधिक उत्पादन और फसलों पर कीटों का प्रभाव न पड़ने के उद्देश्य से किसान ने इन बीजों का प्रयोग करना शुरू किया। बी.टी. बीज बनाने वाली कंपनी के अनुसार बैंगन, आलू या कपास की फसल को कीटों से बचाने के लिए इनका अविष्कार किया गया है। अब उन्हें ऊपर से कीटनाशकों का छिड़काव करने की आवश्यकता नहीं होती है क्योंकि इन समस्याओं से बचने के लिये कंपनी ने बीज में ही कीटनाशक प्रवेश करा दिये हैं। प्रचार के ठीक विपरीत हुआ ये कि फसलें कीटों को आकर्षित करने वाली, किसानों को कर्ज के संकट में डालने वाली और बदहाली की प्रतीक बन चुकी है। बी.टी. के नाम पर किसानों को बहुत गुमराह किया जाता है। मॉन्सेंटो जैसी बड़ी कंपनियाँ कीटनाशक और रासायनिक उर्वरकों के रूप में किसानों को लूटकर अपनी तिजोरियाँ भरने का कार्य कर रही हैं। उनका उद्देश्य बिलकुल भी किसानों का भला करना नहीं था। इन बहुराष्ट्रीय कंपनियों का मात्र एक ही मकसद है केवल अपने बीजों को बेचकर पैसा कमाना है। भारत में बी.टी. बीजों का प्रयोग 2002 से प्रारंभ हुआ है। देश की किसानों ने बैगन और कपास के इन बीजों से अपनी किस्मत आजमाना शुरू किया। पंजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र और आंध्रप्रदेश जैसे राज्यों के किसानों में इसके प्रति बहुत उत्साह देखा गया। उन्होंने इन बीजों की बुआई की। मॉन्सेंटो कंपनियों के बीजों के वादे खोखले निकले। विगत दिनों में भी पंजाब में सफेद मक्खी के कारण कपास की दो-तिहाई फसल बर्बाद हो गई। पंजाब के इस उपजाऊ क्षेत्र में इससे पूर्व सफेद मक्खी द्वारा ऐसा भयंकर प्रकोप कभी नहीं देखा गया। भारत में उदारवाद के दौर में पूँजीपतियों का पोषण किया है। पूँजीपतियों का सभी क्षेत्रों में वर्चस्व दिखाई दे रहा है। भारत में बहुराष्ट्रीय कंपनियों का यह प्रभाव हुआ की इनके आने से यहाँ की छोटी-छोटी कंपनियों बंद हो गईं। इन कंपनियों में कार्य करने वाले करोड़ों श्रमिक

बेरोजगार हो गए। अब स्थिति इतनी विकट हो गई है कि बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने जल, जंगल और जमीन पर कब्जा कर लिया है।

देश में आजादी के बाद जब उदारवाद का दौर आया इस प्रश्न ने बहुराष्ट्रीय कंपनियों को आने की पनाह दी कि कैसे भारतीय लोगों की उदर पूर्ती की जाए? इस समस्या के समाधान के लिए भारत ने 'विश्व व्यापर संगठन' से समझौता किया। डॉ. कृष्णस्वरूप आनन्दी अपने लेख में बताते हैं- "विश्व व्यापार संगठन ने जो 'कृषि पर समझौता' तैयार किया है उसके पीछे अमेरिकी बहुराष्ट्रीय कंपनी 'कारगिल' का शातिर दिमाग है। उसके पूर्व उपाध्यक्ष डॉन एम्सटुज ने समझौते का प्रारूप लिखा था। बहुराष्ट्रीय देशी-विदेशी औद्योगिक या कारोबारी घरानों व समूहों का सपना है- 'किसानों द्वारा खेती' के स्थान पर 'कोर्पोरेट फार्मिंग' हो वे यह तय करना चाहते हैं कि कहाँ- कहाँ किन-किन खाद्यान्नों और भोज्य पदार्थों का उत्पादन हो और इसके साथ ही खाद्य पदार्थों के उत्पादन, वितरण, कारोबार या व्यापर पर कॉरपोरेट माफिया का पूर्ण नियंत्रण हो। आखिर अमेरिका में यही तो हुआ।"[11] बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ अपने फायदे के अनुकूल किसान को किसी विशेष प्रकार की फसल उगाने के लिए बाध्य कर सकती हैं। ठेके पर खेती में ठेकेदार को सिर्फ अंतिम फसल और उसके दाम से मतलब है। वह यह चिंता कभी नहीं करेगा कि आने वाले दिनों में भूमि की उर्वरा शक्ति का क्या परिणाम होगा? किसानों को उनकी मेहनत का उचित दाम मिल रहा है या नहीं? परंपरागत बीजों को किसानों से छीना जा रहा है और डंकल बीजों पर निर्भर बनाया जा रहा है। यह निश्चित रूप से किसानों को गुलाम बनाने की नीति है। आने वाले वर्षो में यह कोई आश्चर्य की बात नहीं की एक दिन कॉरपोरेट फार्मिंग के बहाने किसानों की जमीनें तक भी उनसे ले ली जाएँगी। उन्हें अपने ही खेतों में मजदूर बन जाने के अलावा और कोई विकल्प नहीं दिया जाएगा।

किसान का आर्थिक जीवन कुछ हद तक सरकार के रवैये पर भी निर्भर करता है। जहाँ उसे युरिया के लिए, बिजली के लिए, बीजों के लिए सरकार पर निर्भर होना पड़ता है। इसका यथार्थ चित्रण 'अकाल में उत्सव' उपन्यास में पंकज सुबीर भली प्रकार करते हैं- “ऐसा लग रहा है कि सरकार खुद ही किसानों को खेती करने से रोकना चाह रही है, मल्टीनेशनल के इशारों पर। कभी यूरिया का संकट, कभी बिजली का संकट, कभी बीज का संकट, सारे संकट किसान के सामने ही क्यों पैदा किए जा रहे हैं? ताकि वह घबराकर अपने खेत बेच दे मल्टीनेशनल्स को। यह बहुत बड़ा षड्यंत्र है, बड़ी कांसपिरेसी है। यह सारी परेशानियाँ प्राकृतिक नहीं हैं, यह तो पैदा की जा रही हैं किसान के सामने।”[12] यह चौतरफा आर्थिक संकट से घिरे किसान की मसिकता को दर्शाता है। जहाँ उसे लग रहा था की सरकार कोई ठोस कदम उठाएगी किसानों को उनकी स्थिति से बाहर लाने का; परन्तु इसके विपरीत सब कुछ बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हवाले कर दिया। इस व्यवस्था के होने से किसानों के वजूद, उनकी संस्कृति और सभ्यता को धीरे-धीरे खत्म हो रही है।

बीजों के माध्यम से बहुराष्ट्रीय कंपनियों को कृषि क्षेत्र में प्रवेश का एक अवसर दिखा। वे अब बहुत तीव्र गति से बीजों के बाज़ार हावी होकर कब्ज़ा करना चाहती है। जिसका उल्लेख कृष्णस्वरूप आनन्दी ने इस प्रकार किया है- "बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ बीजों पर अपना एकाधिकार स्थापित करना चाहती हैं। सैकड़ों साल से पारंपरिक रूप में उगाये जा रहे और हमारे खेतों की प्राकृतिक व देशज प्रयोगशालाओं में किसान की कड़ी मेहनत व साधना के सुलभ से सहज से सहज रूप में विकसित हो रहे देशी बीजों की चोरी करना और उसे अपनी मौलिक खोज या निजी बौद्धिक सम्पदा घोषित करना बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का पुराना गन्दा खेल है। भारत बासमती चावल का सबसे बड़ा उत्पादक और निर्यातक देश रहा है। लेकिन टेक्सास स्थित अमेरिकी कंपनी राइसटेक ने बासमती और जसमती नाम के कई ब्रांड पेटेंट करा रखे हैं। चीन के बाद भारत दुनिया का दूसरा सबसे बड़ा गेहूँ

उत्पादक देश है, लेकिन अमेरिकी कंपनी मोसेंटों ने गेहूं की हमारी स्थानीय प्रजाति 'नाप हल' को पेटेंट करने की जुर्रत की थी। सिजेंटा पूरे चावल पर ही अपना दावा ठोंक रहा है। देशज या परंपरागत जैव पदार्थों पर डाका डालने में बहुराष्ट्रीय कंपनियों का कोई सानी नहीं।"[13] इन कम्पनियों के पास तकनीक है, स्टोरेज है, अथाह पैसा है और ऊपर से उदारिकरण के बाद तो सरकारी साथ भी। अतः इनसे पार पाना किसान के बस का नहीं है।

सरकारी योजनाओ के पीछे कॉरपोरेट नीतियाँ ही अन्ततः खेती की लागत बढ़ा रहीं हैं। जब कृषि ठेके पर चली जाती है तो उसकी समस्त जिम्मेदारी और जवाबदेही किसान की होती है। वह यह ध्यान रखता है कि निश्चित समय और गुणवत्ता के साथ संबंधित उत्पाद एक पूर्व निश्चित कीमत पर उसके द्वारा उपलब्ध करा दिया जायेगा। मौसम की खराबी, कीड़ों की मार या किसी अन्य कारण से यदि फसल खराब हो जाये तो उसकी गुणवत्ता पर असर पड़ता है। ऐसे में कंपनी उसे मुआवजा देने के बजाय वह माल खरीदने से इंकार कर देती है। उस स्थिति में सारे नुकसान की भरपाई किसान को करनी होती है। इसका स्पष्ट उदहारण देख जा सकता है पंजाब से लेकर आंध्र प्रदेश तक में टमाटर, मटर व कपास की ठेका खेती करने वाले हजारों किसानों के रूप में। ऐसे कई मामले सामने आए हैं जिसमें पेप्सिको से लेकर छोटी-बड़ी दर्जनों देशी-विदेशी कंपनियों ने कोई न कोई बहान लगाकर किसानों के साथ किए गए करार को मानने से इंकार कर दिया है। यह किसानों के साथ धोखाधडी नहीं तो और क्या है? कॉरपोरेट खेती में श्रम का कोई मूल्य नहीं होता। वहाँ सिर्फ पूँजी पर महत्त्व दिया जाता है। एक साधारण किसान के पास पूँजी नहीं होती बल्कि उसका श्रम ही सर्वेसर्वा होता है। सरकार की सहमति से देशी और विदेश पूँजीपतियों द्वारा किसानों की जमीनों को अपार्टमेन्ट में बदला जा रहा है। जिस भूमि पर फसलें लहराना चाहिए थी उसी पर ऊँची-ऊँची इमारतें बनाकर गाँव का भी शहरीकरण किया जा रहा है। गैर-सरकारी संगठन भी इस शोषण की दौड़ में पीछे नहीं रहे हैं।

इससे छोटे-मोटे शिल्पकार ही नहीं लघु व कुटीर उद्योगों का भी सफाया लगभग हो ही गया है। जितनी भी सार्वजनिक संपत्तियाँ थी उनका निजीकरण होने लगा। कहानीकार और सम्पादक गौरीनाथ 'हम किस दिन के इंतजार में हैं' लेख में लिखते हैं कि "इस हाल में भी पूरी तरह उसकी गिरफ्त में आने से अगर कोई थोड़ा बचा हुआ था, तो वह किसान ही था। इसलिए अब जो नेस्तनाबूत करने का अभियान चल रहा है, उसकी जड़ में किसान और कृषि क्षेत्र से जुड़े लोग हैं। फलतः आज कोई भी किसान साबूत नहीं बचा है, उसे बीज विहीन करने का खेल चरम पर है। रासायनिक उर्वरकों के माध्यम से जमीन को बंजर बनाने के साथ ही जल स्रोतों पर भी आक्रमण तेज है। कृषि क्षेत्र में मजदूरों का पलायन उन्हें जड़ विहीन करने में बाजारवादी हमले का अंग है।"[14] जब उद्योगों की स्थापना शहरो में होने लगी तो गाँवों से बेरोजगार युवक नौकरी और काम की तलाश में शहरों की ओर पलायन करने लगे। मिलो और फैक्टरियों में काम करने के लिए बहुत भारी संख्या में लोग गाँवों छोड़कर शहरों की तरफ आने लगे। इस पलायन ने भी समाज को कई स्तर तक प्रभावित किया।

सदियों से चली आ रही भारतीय समाज की संयुक्त परिवार की व्यवस्था चरमरा गई। सदियों से जों परिवार एक ही गाँव में बसे थे अब वे शहरों की ओर भागने को विवश है। इसके फलस्वरूप व्यक्ति तमाम तरह की परेशानियों से घिरने लगा। जब तक गाँव और शहर के मध्य यह संतुलन बना रहता है तो समाज में बहुत सी अनियमितताएँ पैदा होने से रुकी रहती है। इस परिवर्तन से समाज के मूल नैतिक स्वरुप पर प्रहार होता है। कुछ उदाहारण के रूप में संयुक्त परिवार की जगह एकल परिवार की व्यवस्था, संबंधों में नीरसता, महंगी जीवन-शैली, बेरोजगार युवको अधिकता, बुजुर्गों के प्रति उदासीन रवैय्या और सम्मान के साथ जीवन व्यतीत करने वाले किसानों का मजबूरी में मजदूर बन जाना। आज देश के अधिकांश गाँवों में युवाओ की कमी है।

युवा विहीन होते हुए गाँवों की यह विडंबना है कि वर्तमान का युवा किसी भी प्रकार के रोजगार को शहर में बसने के लिए स्वीकार कर लेगा। मेहनत मजदूरी, चौकीदारी आदि कोई भी छोटा-मोटा काम कर करने को वे तैयार है; परन्तु हर परिस्थिति में उन्हें शहर में ही रहने है। दूसरे राज्य में जाकर मजदूरी करने को राज़ी है, ईंटे बना लेंगे, कारखानों में 12-12 घंटा काम कर लेंगे परन्तु अपने स्वाभिमान की निशानी खेती-किसानी करना नहीं चाहते। नौकरी करने से कम से कम उसे आत्महत्या करने की नौबत तो नहीं आएगी। मेहनत मजदूरी से भले ही शहर में वह दो पैसे कम कमाए, उसे ज्यादा मुनाफा न मिले पर कम से कम खेती से होनेवाली नुकसान का भार तो उसे उठाना नहीं पड़ता। कृषि से अधिक उसे नौकरी चाकरी करना सरल प्रतीत होता है। नुकसान का कोई खतरा नहीं और निश्चित आय हर महीने मिल जाती है। किसानी करके उसने स्वयं को क़र्ज़ के चक्र में ही पाया है। आज बहुत संख्या में किसान खेतीबाड़ी का त्याग कर चुके हैं। वह खेती अब मुख्य आजीविका के तौर पर नही बल्कि सहायक आमदनी के लिए करते हैं। वह भी बहुत कम मात्रा में रह गयी है। जिनके पास कोई दूसरा काम नहीं मिल रहा है या जो बड़े किसान हैं वही लोग पूर्णतः खेती से जुड़े हुए हैं।

'फाँस' उपन्यास में शिबू नामक पात्र जब किसानी छोड़कर शहर में जाके मेहनत मजदूरी करने की बात करता है तो उसकी छोटी बेटी कलाबती अपने पिता से कहती है "तुम ही नहीं, इस देश के सौ में से चालीस शेतकरी आज हीं खेती छोड़ दें अगर उनके पास कोई दूसरा चारा हो।"[15] 80 लाख लोगों ने तो किसानी छोड़ दी। मगर शिबू की अपनी विवशता है। वह अपनी दो बेटियों और पत्नी को अकेले छोड़ कर शहर भी नहीं जा सकता क्योंकि यह सत्य है कि जिस घर में पुरुष न हो उस परिवार को हमारा समाज ढंग से जीने ही नहीं देता। यह यथार्थ है कि वर्तमान में मात्र किसानी पर निर्भर रहकर परिवार का भरण पोषण करना अत्यंत कठिन कार्य है। यही कारण है कि गाँव में रोजगार न मिलने पर लोग शहर के तरफ पलायन कर रहे हैं।

उदारीकरण नीति कहने को तो सबके भले की है, परन्तु इसके चलते किसान पूरी तरह से कारपोरेट घराने का दास हो चुका है। कारपोरेट कह ले या बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ इनका एक मात्र उद्देश्य होता है लाभ कमाना। यह देश में पूँजी लगाती है तो ऐसे प्रतीत होता है कि इनके निवेश से रोज़गार का सृजन होगा परन्तु यथार्थ में अंतिम लाभ इन्ही कंपनियों को मिलता है। उनका काम ही होता है कैसे भी करके अधिक से अधिक ग्राहक को आकर्षित किया जाये। कार्पोरेट सामाजिक उत्तरदायित्व (सीएसआर) के तहत सरकार इन्हें बाध्य करती है कि ये अपनी आमदनी में से समाज और पर्यावरण के प्रति जिम्मेदारी निभाते हुए कुछ भाग निवेश करे। लेकिन किसी चीज़ की कीमत चुका कर ये हर उस चीज़ को बिका हुआ मान लेते है। इन्हें किसानों की जमीन, जमीन की गुणवत्ता, सिंचाई के संसाधन एवं पैदावार से कोई मतलब नहीं होता है। जो किसानों की असली समस्या है वों तो समाधान रहित रह जाती है। अन्ततः खेती में लागत तो बढ़ती जाती है किन्तु पैदावार दिन-प्रतिदिन घटती रहती है। हमारे देश में पहली हरित क्रांति के बाद, दूसरी हरित क्रांति भी आई लेकिन उससे भी किसान की आर्थिक स्थिति में कुछ विशेष बदलाव नहीं हुआ। किसान आज भी कर्ज के दलदल में फंसते जा रहे हैं।

जब एक मजदूर या किसान जब विस्थापित होता है तो उसकी समस्याएँ एक सरकारी कर्मचारी के विस्थापन से कहीं अधिक बड़ी होती है। नई नौकरी में उनका मालिक किसान मजदूरों का बहुत शोषण करता है। उनको उनके काम के अनुसार पैसे कम दिए जाते है और दिन-रात काम बढ़-चढ़कर करवाता है। ऐसी नौकरी में तीज-त्यौहार पर भी छुट्टी नहीं मिलती। जिस परिवार के लिए वह यह सब कर रहा है, उसी परिवार से कट जाता है। जों पैसा मजदूरी के हिसाब से कम मिलता है उसे भी समय पर नहीं दिया जाता। एक किसान अपना घर परिवार व गाँव छोड़कर शहर आता है तो उसके कन्धों पर परिवार की जिम्मेदारियों का बोझ होता है। वह सिर्फ इस आस और सपने के सहारे आता है कि उसका भविष्य बेहतर

होगा; परन्तु समस्याओं का सिलसिला समाप्त ही नहीं होता और अवसाद उसे घेर लेता है।

'चलती चाकी' उपन्यास में इस परिस्थिति का वर्णन है। एक किसान पात्र जो होशंगाबाद शहर में चौकीदारी का काम करता है, एक दिन उसके गाँव से खबर आती है कि उसके चाचा की मौत हो गई है और वह जल्दी लौट आए। इस पर अपनी लाचारी और दुःख व्यक्त करते हुए वह व्यक्ति कहता है कि "नहीं जाएंगे सर, अभी डेढ़े महीना हुआ है ज्वाईन किए। तनखाहो नहीं मिला है। जाएँगे तो फिर नौकरी चली जाएगी। बहुत करजा है बाबूजी की ऊपर। यहीं कपार छिलवा लेंगे। वहाँ तो खेत-बारी बन्की रखके उनका काम किरिया लोग करिए देंगे। मुलकात तो होइए नहीं पाया। अब जा के भी का करेंगे।"[16] कर्ज तो ऐसी पीड़ा है कि मनुष्य के आत्मा पर बोझ की तरह रहती है। जीते जी तो वह चिंता का विषय बन ही जाता है परन्तु व्यक्ति के मरने के बाद भी वो पीछा नहीं छोड़ता। यही रीत है कि पिता का कर्ज स्वतः ही बेटे के सर पर आ जाता है।

किसानों की समस्या पर लिखा गया उपन्यास 'अकाल में उत्सव' में पंकज सुबीर इतिहासबोध के आइने में जाकर किसानों की पीड़ा को व्यक्त करते हैं- "जवाहर लाल नेहरू ने एक बार कहा था कि अगर देश को विकास की तरफ बढ़ते देखना है तो गरीबों और किसानों को ही सैक्रिफाइज (त्याग) करना पड़ेगा। आजादी को आज सत्तर साल होने को है, लेकिन सैक्रिफाइज किसान ही कर रहा है। बाकी किसी को सैक्रिफाइज नहीं करना पड़ा। सबकी तनख्वाहें बढ़ी, सब चीजों के भाव बढ़े लेकिन इस हिसाब से किसान को जो समर्थन मूल्य मिलता है। उसमें बढ़ोत्तरी नहीं हुई है। 1975 में सोना 540 रुपये प्रति 10 ग्राम आता था जो अब 2015 में 30 हजार के आस-पास झूल रहा है, कुछ कम ज्यादा होता रहता है। 1975 में किसान को गेहूँ का समर्थन मूल्य सरकार की ओर से तय था लगभग सौ रुपये और 2015 में मिल रहा है लगभग 1500। यदि सोने को ही मुद्रा मानें, तो

1975 में किसान पाँच क्विंटल गेहूँ बेचकर दस ग्राम सोना खरीद सकता था। आज उसे दस ग्राम सोना खरीदने के लिए 20 क्विंटल गेहूँ बेचना पड़ेगा।"[17] जब विकास की भागम-भाग अनियंत्रित और विवेकहीन हो जाती है तो सबसे अधिक दुर्गति हाशिये पर पड़े किसानों और मजदूरों की ही होती है। इस दौड़ में जैसे-जैसे शहर गाँवों की तरफ बढ़ रहे हैं, वैसे-वैसे किसानों की कृषि भूमि घटती जा रही है।

शहर तो एक क्रंकीट रुपी जंगल है। परन्तु यही शहर गाँवों की ओर बढ़कर कृषि भूमि को ही नहीं, हरे-भरे जंगलों को भी नष्ट करते जा रहे है। गाँवो की इस पीड़ा को कौन ही समझे। इसकी परवाह न तो राजनेताओं को है , न ही नीति निर्धारकों को और न ही आज की फास्ट फूड पर चलने वाली पीढ़ी को है। आज परिस्थितियाँ बहुत बदल गई हैं- "अगर संयोग से कभी कोई बड़ा अकाल पड़ा तो कंक्रीट के नगरों महानगरों में क्या होगा, जहाँ जन्मी एक पूरी पीढ़ी को यह भी अच्छी तरह पता नहीं है कि गेहूँ या धान के बीज या आलू पौधे में कहाँ लगते हैं।"[18] ये सभी कार्पोरेट घरानों द्वारा संचालित बाज़ार की कठपुतलियाँ बन चुके है। शहरीकरण के अप्रत्यक्ष प्रभावों से अनजान यह पीढ़ी सिर्फ आज के अपने आराम के बारे में सोच रही है। वह यह नही जानती की जो कृषि भूमि हजारों साल से हमें भोजन देती आ रही है, वहाँ अगर केवल ईंट-पत्थर के घर-मकान, बाजार हो जायेंगे तो हमारी आने वाली पीढियों को कौन रोटी देगा। शहरों का गाँव की तरफ कदम बढ़ना, आने वाले पीढ़ी के लिए फसल और भोजन की आवक को कम करता जायेगा।

निश्चित ही नव-उदारवाद से प्रभावित सभी नीतियों का केंद्र बाजारीकरण है। बाजार का आधार है लोगों की खरीद क्षमता। यह सन् 1990 में हुआ जब संपूर्ण देश में आर्थिक सुधार की नीतियाँ लागू की गयी। इसके पश्चात् बाजार की देश के विनिर्माण में प्रभावी भूमिका हो गयी। अधिक आय और खरीद क्षमता वाले लोगों

की आय और अधिक बढ़ने लगी। लेकिन कमज़ोर आय वर्ग के लोग जो हाशिये पर पड़े थे उनकी स्थिति बदतर होती गयी। ऐसे लोगों की आय और अधिक कमजोर हो गई। अधिक खरीद क्षमता रखने वाले लोग बाजार को अपने लाभ अनुसार किसी भी तरफ मोड़ लेते हैं। किसान, मजदूर और गरीबों को बाजार कमजोर मानता है। नव-उदारवाद का मूल सिद्धान्त ही यह है कि "जिसके पास जो भी संसाधन है, उनका वह अपने निजी मुनाफे के लिए आजादी से उपयोग करे। इसके जो सिद्धांतकार-पैरोकार हैं, वे मानते हैं कि जिसके पास संसाधन है, वह उसका मुनाफे के लिए उपयोग-प्रयोग करेगा, तो इससे समाज का भी कल्याण होगा।"[19] 'फाँस' उपन्यास में संजीव ने किसानों की दुर्दशा का जिम्मेदार उदारीकरण के बाद आयी कोर्पोरेटी नीतियों को माना है। संजीव ने कारपोरेट की चालाकियों को बेनकाब किया है। भूमण्डलीकरण की देन है कि अपना छोड़ दूसरों की अपनायें। यहाँ सब कुछ विदेशी है- "विदेशी बीज, विदेशी कर्ज, विदेशी गाय, विदेशी नीति और यहाँ का सूखा किसान और सूखी धरती।"[20] बाज़ार अर्थव्यवस्था पर इतना हावी हो गया कि कृषि की अनदेखी होने लगी।

आर्थिक उदारीकरण ने सेवा क्षेत्र को तो फायदा पहुँचाया; परन्तु कृषि क्षेत्र यहाँ भी पिछड गया। इसके पश्चात् किसान और कमजोर होते गये। परिणाम यह निकला कि देश का किसान कृषि करना ही नहीं चाहते। कृषि से उनका मोहभंग हो चुका है। युवा वर्ग में भी अब कृषि के लिए अब कुछ ख़ास रूचि नहीं रही। सरकार का ध्यान गाँव से अधिक शहरी क्षेत्रों के विकास पर है। सारी सुविधाएँ शहरों में सीमित होती जा रही है और गाँव में बुनियादी सुविधाओं का घोर अभाव है। गाँव में स्कूल, अस्पताल, टेलीकॉम, सड़क, बिजली, पानी और सफाई के साधनों की भारी कमी है। शहरी लोगों को सब सुविधाओं के जरिए एक तरह की सब्सिडी मिल जाती है और गाँव के लोग वंचित रह जाते हैं। शहरों के सड़क, फ्लाइओवर, मेट्रो और हवाई अड्डे के निर्माण पर लाखों करोड़ रुपये खर्च किया जा रहा है, इस कारण गाँव के विकास के लिए पैसे की कमी हो जाती है। ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि

कार्य में जुटे युवा भी अब शहर में नौकरी करना चाहते है क्योंकि सरकार का ध्यान गाँवों की तरफ नहीं है।

आज की नई पीढ़ी कृषि कार्य के प्रति इतना झुकाव नहीं रखती है। आज की नई पीढ़ी के अपने कुछ सपने होते है, कुछ आकांक्षाएँ होती है। वे अच्छा जीवन स्तर बनाये रखना चाहते है। वे बदलते परिवेश से परिचित है कि उनके सपने कृषि से नहीं पूरी हो सकते इसलिए वे कृषि से पलायन कर रहे हैं। मिथिलेश्वर के 'तेरा संगी कोई नहीं' उपन्यास के पात्र बलेसर के पास बत्तीस बीघा खेत है किंतु उसके तीनों बेटो को कृषि कार्यो में रूचि नहीं है। उसके पुत्र नहीं चाहते की बलेसर भी कृषि कार्यो से जुदा रहे। वे बलेसर को समझाते हैं- "अब खेती से जुड़े रहना किसी भी दृष्टि से फायदेमंद नहीं। कृषि कार्य तो अब घाटे और कष्ट का सबब बन गया है। जैसा कि माँ बताती हैं और होश संभालने के बाद मैं स्वयं देखते आ रहा हूँ, इस खेती से उबरने की अपेक्षा हम अधिक परेशान ही होते हैं। खा-पीकर बच्चों को पढ़ाने-लिखाने भर कुछ बचा लेने में ही हमारा सारा उपार्जन सिमट जाता है।"[21] कुलराखन अपने पिता को समझाता है कि खेती करने में अब समस्याएँ बहुत बढ़ गयी है। लोगों का रुझान कृषि की तरफ घट रहा है और वे अपनी जमीन जायदाद बेचकर शहरो की तरफ पलायन करने को मजबूर है। किसान अब इतना सक्षम नहीं है कि किसी भी बड़े खर्च को स्वयं वहन कर सके। वे बलेसर को याद दिलाते हैं कि आपको सुरभि दीदी की शादी करने के लिए अपना खेत रेहन पर रखना पड़ा था। इतने साल बीत जाने के बाद भी आज तक हम अपने रेहन पर रखे खेत को नहीं छुड़ा पाए।

नयी तकनीकों और विज्ञान के नए आविष्कारों के युग में हम आशा करते हैं कि कृषि कार्य में सुगमता आएगी। परन्तु कठिनाइयाँ घटने के बजाय दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं। अब खेती कर रहे हर किसान को अपने उज्जवल भविष्य के लिए खेत बेचकर शहर में अपना निवास स्थान बना लेना चाहिए। 'तेरा संगी कोई नहीं' उपन्यास में किसानों की खेती से पलायन के बारे में इस प्रकार वर्णन किया गया है- "अब खेती-किसानी से बढ़कर परेशानी का कार्य कुछ और नहीं रह गया है। खेती

की बदहाली से निरंतर किसान आत्महत्याएँ करते जा रहे हैं। इस कार्य से वे त्रस्त और दुखी हैं। इसलिए अपनी खेती का कोई इंतजाम कर या उसे किसी ठिकाने लगा आप लोग अपने माँ बाप को यहाँ शहर ले आइये...गिरती उम्र में कृषि के लिए उनका गाँव पर रहना एकदम उचित नहीं।"[22] बलेसर के पुत्र चाहते हैं कि किसी भी तरह से उनके पिता उनकी बात समझ जाएँ, और खेत बेचकर शहर की तरफ पलायन कर लें।

ऐसा देखा गया है कि बाजारीकरण में विकसित नयी अर्थव्यवस्था में कमजोर लोग और पिछ्ड गये हैं। यही कारण है कि किसानों की आत्महत्याओं के आंकड़ो से अख़बार भरे पड़े है। खेती करना अब एक सस्ता आजीविका का स्रोत नहीं है, महँगी होती खेती के कारण किसान परेशान है। वैश्वीकरण के यह असर होता है की बाजार को विदेशी निवेशको के लिए खोल दिया जाता है इससे अर्थव्यवस्था में बाहर से सामान आ जाता है। जो पूँजी निवेशको द्वारा देश में लगायी जाती है वह भी बाहर निवेश कर दी जाती है। वैश्वीकरण के कारण सरकारी नीतियाँ अप्रत्यक्ष रूप से बाहरी लोगों के दबाव में बन रही हैं। इसका प्रमाण है की हर वर्ष बजट के समय राजस्व घाटे को कम करने की बात होती है।

4.3 सीमित आय एवं प्रकृति की मार

किसान का पूरा जीवन ही बहुत कष्टमय रहता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक संघर्ष ही उसके जीवन का पर्यायवाची बन जाता है। खेती करते वक़्त उसे पैसो की तंगी से उसे जूझना पड़ता है। कभी खाद, कभी बीज, पानी, बिजली आदि की समस्याएं सताती रहती हैं। जब कभी भी वह अपनी आवश्यकताओं को पूर्ति के लिए जो कर्ज लेता है, तो उसे चुकाने की चिंता उसे सताती रहती है। समय-समय पर प्राकृतिक आपदाओं की मार के आगे तो वह एकदम टूट ही जाता है। प्रकृति के आगे वों विवश है क्योंकि प्राकृतिक आपदा के सामने उसका कोई वश नहीं चलता है। किसान अपने स्तर पर पूरा प्रयास करता है कि वह जीवन की समस्याओ के

आगे घुटने न टेके और हार न माने। कितनी भी मुसीबतें आये पर वह उनसे घबराकर मौत का रास्ता नहीं अपनाता था। इस सम्बन्ध में राम किशोर महता लिखते है कि "इतिहास साक्षी है एक वर्ग के रूप में किसान की प्रवृति आत्महत्या करने की कभी नहीं रही यद्यपि सबसे अधिक प्राकृतिक आपदाओं का प्रकोप किसान झेलता रहा है। वह बहुत संतोषी, थोड़े में गुजारा करने वाला, वस्तु विनिमय के आर्थिक व्यापार में जीवित रहने वाला रहा है। उसने सूखा, अतिवर्षा, बाढ़, टिड्डी दलों का आक्रमण झेला है। वह महामारियों का शिकार हुआ है। वह जर, जोरू और जमीन के संघर्ष में मरा है। एक ऐसा समय भी था जब किसान कई कारणों से मर जाते थे। वैसे ही समय-समय पर परिवार के परिवार काल के ग्रास बन जाते थे। आत्महत्या कर जीवन संघर्ष से भगाने की आवश्यकता उसे पड़ी ही नहीं। किसानों की आत्महत्याएँ बहुत हद तक इस आधुनिक युग की देन हैं।"[23] वह इन मुसीबतों को अपनी तकदीर समझ कर इन्हीं से लगातार जूझता रहता था; परन्तु आज हमारे देश का किसान इस हद तक स्वयं को बेबस समझता है कि उसे अपनी समस्याओं का कोई हल नहीं नजर आता है।

वर्षा की दृष्टि से भी हमारा देश भाग्यशाली ही रहा है। भारत में दोहरा मानसून होने की वजह से एक ही वर्ष में दो बार फसल उगाई जा सकती है; लेकिन हमारे देश में मौसम में बहुत विविधता है। देश के पश्चिमी हिस्से के राज्य लगातार सूखे की समस्या का सामना करते हैं, तो वही दक्षिण-पूर्वी कुछ राज्य हर साल बाढ़ की समस्या से अपने फसलों को गंवा देते हैं। हमारे देश की सरकार इस बात से अनभिज्ञ नहीं है की हमारे देश का किसान पानी की समस्या से जूझ रहा है परन्तु सरकार फिर भी कुछ समाधान नहीं करती है। उत्तर भारत के कई राज्य सूखे की तरफ बढ़ रहे है क्योंकि उनका भूजल स्तर दिन-प्रतिदिन घटता जा रहा है। सरकार को चाहिए था कि वह सुनिश्चित करे कि सिचाई की उत्तम व्यव्यस्था इन राज्यों में हो किन्तु सरकार के द्वारा कोई कारगर कदम नहीं उठाए गए हैं। किसान और खेतिहर मजदूरों ने लाख कोशिशें की, कई आन्दोलन किये लेकिन सरकार के कान

में जूं तक नहीं रेंगी। जब हमारे देश के किसानों ने सरकार से गुहार लगायी तो उन्होंने किसानों को उनकी समस्याओ से जूझने के लिए अकेला छोड़ दिया। ऊपर से कर्ज की समस्या ऐसी कि महाजन का कर्ज कभी चुकता ही नहीं। 'बदहाल किसान और लोकतंत्र की नींद' लेख में विजय गुप्त ने लिखा है- "प्राकृतिक कोप तो किसानों को मारते ही हैं, रही-सही कसर ये कसाई महाजन पूरी कर देते हैं। धनी-मानी और तकनीकी सुविधाओं से लैस बड़े किसानों को छोड़ दें तो बाकी किसान पूर्ण रूप से मानसून पर निर्भर होते हैं। पानी बरसा तो ठीक नहीं तो सत्यानाश। बिजली, पानी, कीटनाशक, बीज, खाद की कोई समुचित सुविधा गांवों में उपलब्ध नहीं है।"[24] प्रकृति की इन परिवर्तनकारी घटनाओं के बीच फंसे किसान का चित्रण हिंदी कथा साहित्य में होता रहा है। इस सबके के कारण किसानों का जीवन बेहद कठिन हो गया है।

दरअसल भारतीय किसान की अधिक से अधिक निर्भरता मानसून पर रही है। वर्षा किस प्रकार होगी यह निर्धारित करता है कि उपज कैसी होगी? अगर सामान्य वर्षा हुई तो फसल की पैदावार अच्छी होगी अन्यथा घर में जो भी था वह भी चला जायेगा। ऋतुओ का असमय परिवर्तन की वजह वर्षा भी प्रभावित हो रही है। कही बिन मौसम बरसात की वजह से फसल गल जाती है तो कभी वर्षा न होने से फसलें सूख जाती है। औसत से ज्यादा गर्मी या सर्दी पड़ना भी इसी के दुष्परिणाम हैं। उपन्यासकार राजू शर्मा अपने उपन्यास 'हलफनामे' में लिखते हैं- "यह कैसे हो सकता है, यह मन बहलाने की बात है, जब सूखा और अकाल पड़ता है तो पोखर, तालाब सब सूख जाते हैं एक बूंद पानी नहीं रहता। रहेगा, कम रहे पर रहेगा। पानी की अधिकता भी अच्छी नहीं, किसान के लिए मार एक सी है, अकाल हो या पनकाल। मुझे पता है गाँव में सात तलैया हैं। एक छोटा और एक बड़ा तालाब। इस तरह नौ हुए, और कितने नए, पुराने कुँए, पता है?"[25] प्रकृति में इस परिवर्तन की कारण प्रायः यह देखने को मिलता है कि कहीं अतिवृष्टि तो कहीं

अनावृष्टि होती रहती है। इसका सबसे ज्यादा प्रभाव किसानों को झेलना पड़ रहा है। स्थिति यह होती है कि कहीं बिना पानी के सूखा पड रहा है तो कहीं बाढ़ से फसलें बर्बाद हो रही है। मध्यकाल में किसान सिंचाई के अतिरिक्त साधनों का भी प्रयोग करता था, जैसे कि झरना, कुआँ और तालाब आदि। हालाँकि गरीब किसानों को तो वर्षा पर ही निर्भर रहना पड़ता था क्योंकि वह साधन विहीन था।

इस उपन्यास के पात्र स्वामीराम की आत्महत्या का मूल कारण सूखे की समस्या है। वह अपने खेतों में पानी पहुँचाने के लिए बोरिंग करवाता है। उसकी सारी मेहनत व्यर्थ हो जाती है और एक भी बोरवेल से पानी नहीं निकलता है। खेत में बोरिंग करवाने के लिए भी कर्ज भी लेना पड़ता है। जब कर्ज चुकाने का कोई मार्ग न होने पर स्वामीराम ने आत्महत्या का रास्ता चुना – "स्वामीराम छोटा किंतु समर्थ और कुशल किसान था। वह पूरी तरह आत्मनिर्भर था। पर सूखे और अकाल की मार विनाशकारी होती है। पानी की खोज में स्वामीराम ने एक के बाद एक तीन बोरेवेल डाले और सब फेल हो गए। वह कर्ज में डूब गया।"[26] सूखे की समस्या ने किसानों को इस तरह से तोड़ दिया है कि वहाँ के किसान आत्महत्या करने को विवश है। सरकार की ओर से कई गाँवों को डार्क एरिया घोषित कर दिया गया है। किसान सूखे की समस्या से निपटने के लिए बोरिंग तो करवाते हैं किंतु पानी नहीं आता। "जमीन के नीचे पानी का स्तर लगातार गिरता जा रहा था। लाला की अगुवाई में ताबड़तोड़ बोरिंग डाले गए। एक-चौथाई में पानी मिला, उसे भी खींचने में जबरदस्त मशीन चलानी पड़ती थी। बाकी में कतरा नहीं था पानी का।"[27] बौरवेल माफिया लाला यह जानता है कि गाँव के किसानों को यह जानकारी ही नहीं है कि उनका गाँव डार्क एरिया में आता है। डार्क एरिया में बोरिंग डलवाने का कोई अर्थ नहीं है क्योंकि वहाँ से पानी निकालना नामुमकिन है। लाला किसानों को बहकाकर फिर भी कर्ज देता है और बदले में उनसे उनके खेत रेहन रखवा लेता है। जब किसान कर्ज नहीं चुका पाते हैं तो वे खेत पर लाला अपना कब्ज़ा कर लेता है - "लाला ने बोरेवेल के धन्धे से गाँव को विनाश के कगार

पर पहुँचा दिया था। अनाप-शनाप बोरिंग करवा कर लाखों कमा रहा था। उसके सम्पर्क देश भर में फैले थे। जमीन रेहन पर रखवा कर्ज भी वही देता था। काफी जमीन पर उसका कब्जा हो गया था। उसके कुकृत्यों में लेखपाल और पंचायत के सदस्यों की मिली-भगत थी।"[28] स्वामीराम के सामने कर्ज चुकाने और अपने खेत में पानी लाने की समस्या थी। इन दोनों ही समस्याओ में से एक का भी निदान उसके पास नहीं था।

किसी भी प्रकार की प्राकृतिक आपदा से लड़ने की शक्ति मानव के पास नहीं है। किसान तो क्या समाज का उच्च वर्ग और संपन्न देश भी प्रकृति के आगे हार जाते है। बेमौसम की बरसात से किसान की सारी फसल बर्बाद हो जाती है। उसे कभी बाढ़, कभी आंधी तो कभी ओलावृष्टि के संकट से उसे गुज़रना होता है। कभी फसल की बुआई के समय पानी ही नही बरसता तो कभी फसल पकने पर इतनी अधिक वर्षा हो जाती है की फसलें तक गल जाती है। अर्जुन प्रसाद सिंह ने अपने लेख 'कृषि संकट बनाम किसान मुक्ति' में लिखा है- "भारतीय खेती आज भी काफी हद तक मानसून पर निर्भर है (2016-17 के आंकड़े के अनुसार 55 फीसद) और हर साल बाढ़, सूखे और कीड़ाखोरी जैसी प्राकृतिक विपदाओं से भारी पैमाने पर किसानों की फसलों और अन्य संपत्तियों का नुकसान होता है।"[29] किसी भी प्रकार की प्राकृतिक आपदा से लड़ने की शक्ति मानव के पास नहीं है। किसान तो क्या समाज का उच्च वर्ग और संपन्न देश भी प्रकृति के आगे हार जाते है।

शिवमूर्ति के 'आखिरी छलांग' उपन्यास में किसान सूखे की समस्या से पीड़ित है। फसल पकने को तैयार है और अब उसे पानी की आवश्यकता है। अभी तक बारिश की एक बूँद नहीं गिरी और न ही कोई आसार नज़र आ रहे है। किसानों की फसल सूखने लगी है – "लगता था, इस साल कहीं धान रहने की जगह नहीं बचेगी, लेकिन उत्तरा नक्षत्र ने ऐसा धोखा दे दिया। झकझोर पुरखा बहने लगी। नीले आसमान में सफेद बगुलों की तरह बादलों के टुकड़े दिखते और गायब हो

जाते। भीषण सूखे के सारे लक्षण प्रकट हो गए। राजधानी तक हल्ला मच गया। एक चौथाई फसल सूख गयी तो करीब दस दिन बाद नहर में पानी आया।"[30] इस प्रकार जो किसान पहले से ही कर्ज में दबा था। अब प्राकृतिक संकटों ने उसके जीवन को और अधिक जटिल बना दिया।

संजीव के 'फाँस' उपन्यास में पानी के भराव के कारण फसल नष्ट हो जाने का वर्णन है। कपास की फसल तैयार होने के समय इतनी बारिश होती है कि किसानों की फसल खेत में ही सड़ गई। किसानों ने हिम्मत नहीं हारी और किसी तरह से फिर से ब्याज पर और बैंक से लोन लेकर खेतों की बुवाई की। लेकिन कुदरत की मार के आगे कौन ही टिक पाया है ,पुनः बारिश होने से किसानों की दूसरी बार की मेहनत भी खराब हो गई। मरता क्या न करता ,अब तीसरी बार उन्हें पुनः बीज बोने का इंतजाम करना पड़ा। बीज बोते समय शीबू की बेटी स्नेह और आशान्वित होकर बीजों से बातचीत करती है - "दो-दो बार धोखा हो चुका है। इस बार बहना नहीं, बिलाना नहीं, सड़ना नहीं, सुखना नहीं, दगा मत देना। बरोबर जम सिल। समझाता? बहोत मारूँगी, हाँ!"[31] खेती ऐसा कार्य है जिसमें प्रकृति पर बहुत अधिक निर्भरता है। मौसम में होने वाला हर छोटा-बड़ा बदलाव फसलों को प्रभावित करता है।

कृषि में तो मानो किसान की समस्या का अंत ही नहीं है। कभी बाढ़, कभी सूखा, कभी ओला तो कभी फसल कटने पर बारिश से फसलों का नुकसान, किसान न जाने कितनी ही समस्यओं से घिरा रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानो समस्याएँ ही किसान की नियति है। अपनी आँखों के सामने अपने हाथो से उगाई गयी फसलों को नष्ट होता देख किसान के मन को कितनी पीड़ा पहुँचती होगी। इस मनोव्यथा का अंदाज़ा सूर्यनाथ सिंह के 'चलती चाकी' उपन्यास में मंगतराम के इस कथन से लगाया जा सकता है- "आप लोग तो अन्तर्जामी पुरुष हैं महाराज, ज्यादा अच्छी तरह जानते होंगे। हम क्या कहें, लेकिन सालभर मेहनत करके, खाद-पानी दे के, सांड भंईसा-लिलगाय, चिड़िया-चुडुंग से बचा के फसल तैयार करते हैं,

काटने की बारी आती है तो इस तरह उसको चौपट होते नहीं देखा जाता। देव की मरजी मान के करेजा पर पत्थर रख लेते हैं। मंगतराम का गला भर आया था।"[32] किसानों की संपूर्ण जनसँख्या में से लघु एवं सीमांत किसान संख्या में सबसे अधिक हैं। ये किसान खेती के लिए पूरी तरह से प्रकृति पर निर्भर होते हैं। अगर मानसून साथ देता है तो ठीक-ठाक पैदावार हो जाती है, वर्ना तो सब कुछ बर्बाद। यही कारण है की इन पर कर्ज का बोझ बढ़ता जा रहा है।

पंकज सुबीर ने 'अकाल में उत्सव' उपन्यास का पात्र रामप्रसाद भी आत्महत्या कर लेता है, इस बार कारण प्राकृतिक आपदा होता है। रामप्रसाद एक छोटा किसान है और उसपर बहुत सा कर्ज है। रामप्रसाद बहुत सीधा-सादा किसान है और वह बैंक की धोखाधड़ी का शिकार होता है। बैंक के फर्जी लोन के केस में उसे फँसा दिया जाता है। रामप्रसाद और कमला के खेत की गेहूँ की फसल पक रही है; किंतु मौसम के मिजाज से वे भयभीत है कि कही एक बार फिर कही उनकी फसल न खराब हो जाए। जैसे-जैसे बादल गरज रहे हैं, बिजली चमक रही है वैसे-वैसे कमला के मन में भय उत्पन्न हो रहा है। वह ईश्वर से प्रार्थना करती जा रही है; किंतु उनकी कोई सुनने वाला नहीं है। उस रात जोर की आँधी आई, मूसलाधार बारिश हुई और ओलों से पूरी धरती ढक गई। अचानक आई बारिश और ओलों से किसान की फसलें खराब हो गई। रामप्रसाद तो इस आस में था कि गेहूँ की फसल की कटाई के बाद जो आमदनी होगी उससे वह अपना कर्ज चुका देगा। उसकी फसल के तीनों बड़े दुश्मन अपने विकराल रूप में उसके खेतों में तांडव कर रहे हैं। "ओलों की मार खाकर वह बालियाँ टूट-टूटकर जमीन पर गिर रही है, जो कुछ घंटों पहले तक अपने गर्भ में कुछ होने का अहसास लिए, हवाओं के स्पर्श पर झूल रही थीं, झूम रही थीं। ओले गेहूं के पौधे पर जहाँ जाकर टकराते है, वहीं से उसे तोड़ कर गिरा देते हैं। जो पौधे हवा के कारण जमीन पर पहले ही गिर चुके थे, अब ओलों में दबकर उनकी कब्र बन रही है। जिंदा कब्र। या शायद यह सफेद है, जो पूरे खेत पर बिछा दिया गया है। कफ़न फसल का और कब्र किसान की।"[33] अत्यधिक बारिश से किसानों की फसल नष्ट हो गई। गाँव के सारे किसान अपना दुखड़ा लेकर

कलेक्ट्रेट ऑफिस में एकत्रित हो जाते हैं, किंतु कलेक्टर को किसानों से क्या लेना-देना। किसान अपनी फसल नष्ट होने का शोक मना रहे हैं, वही दूसरी तरफ जिले में उत्सव का आयोजन चल रहा है। किसानों की भीड़ को कलेक्ट्रेट ऑफिस से हटाने के लिए उनको आश्वासन दिया गया कि उनको मुआवजा मिलेगा। लेकिन ऐसे झूठे दावो का कोई अर्थ नहीं क्योंकि ऐसा मात्र उन्हें भ्रमित करने के लिए कहा जा रहा है।

किसान अपनी फसलो को अपने खून पसीने से सींचता है, परन्तु उसे क्या पता था की उन्ही गेहूँ की बालियों को लेकर उसे दरबदर मुआवजे के लिए भटकना पड़ेगा। सरकारी तंत्र यही नही रुकता और अपनी क्रूरता की एक और मिसाल पेश करता है जब पीड़ित किसानों से उसकी फसल को मंच पर सजाने के लिए दिया जाता है। रामप्रसाद जिसने बैंक से कोई लोन नहीं लिया था, उसे भी धोखाधड़ी से बैंक का कर्जदार घोषित कर दिया जाता है। जिन किसानों की प्राकृतिक आपदा में फसल नष्ट हुई तो उनकी एक सूची बनायीं गयी परन्तु रामप्रसाद का तो उसमें नाम तक नहीं। इस बात से रामप्रसाद पूरी तरह टूट जाता है और आत्महत्या कर लेता है। अन्याय की इन्तहा तो तब हो गयी जब उसकी आत्महत्या का ज़िम्मेदार भी उसकी मानसिक स्थिति का खराब होना बताया जाता है। आज बदलते परिवेश एवं मौसम की मार से त्रस्त किसान को न्याय का आश्वासन देने के लिए भी कोई नही है। किसान की सहनशक्ति भी दिन-प्रतिदिन घट रही है। अधिकांश युवा खेती से विमुख हो रहे हैं क्योंकि अब उन्हें यह फायदे का सौदा नहीं लगता है। ऐसे में उनका रोजगार की तलाश में शहर की तरफ पलायन करना स्वाभाविक है। कृषि में सतत बनी रहने वाली समस्याएँ उनके सुधार के अभाव में दीमक की तरह हो गयी है। इन समस्याओं का जड़ से हल निकलना आवश्यक है वरना युवाओ का कृषि से मोहभंग इसी प्रकार होता रहेगा। जो भी देश युवाओ की शक्ति का सही इस्तेमाल करता है वह उन्नति और विकास के पथ पर अग्रणी रहता है। युवाओ में ही समाज की उर्जा समाहित होती है। जब तक युवाओ में हम कृषि के प्रति रूचि उजागर नहीं करते तब तक हमारा देश विकसित देशो की श्रेणी में नहीं आ सकता।

हमारे देश की कृषि को अब नए नवाचार की आवश्यकता है। अब हमारी कृषि देश के कृषि वैज्ञानिक व सरकार का ध्यान अपनी और आकर्षित करने की आवश्यकता है। अभी तक उनका कृषि और कृषको के प्रति उदासीन रवैया है। वे इस बात पर ध्यान नहीं देते कि देश के जिन इलाकों में सूखे या बाढ़ के कारण अकाल पड़ता है, वहाँ के लोग कैसे उस परिस्थिति का सामना करते है? प्रकृति के पास हमारी सभी समस्याओ का हल मौजूद है। जंगलों में उगी गैर-परंपरागत फसलों का पता चलने पर हम उनका उपयोग प्रतिकूल समय में कर पाते जो लोगों को जीने का सहारा देती।

4.4 ऋण की समस्या

भारत की आत्मा गाँवों में बसती है और उन्ही गाँवों में कृषि उपक्रम जीवनदायक श्वास के रूप में बहता है। अपने जीवन के इतने महत्वपूर्ण हिस्से को व्यक्ति अपने से अलग कैसे कर सकता है। किसान दिन-रात खेतों में अपने परिवार के साथ मिलकर मेहनत करता रहता है। समय के साथ समाज की व्यवस्थाएँ भी परिवर्तित होती है। इसी परिवर्तन का प्रभाव आज की कृषि पद्धति पर भी पड़ा है। तथ्य है कि पूँजीवादी व्यवस्था ने जहाँ भी अपने पैर पसारे हैं वहाँ कमज़ोर वर्ग का ही शोषण किया है। आज के युग में किसान की ये हालत हो गयी है कि उसे अपनी भूमि को बचाने के लिए भी संघर्ष करना पड़ता है। आधुनिक युग में भारत का किसान होना बड़ा ही जटिलता का काम है। कर्ज के दलदल में हर तरफ से फँसता चला जा रहा किसान, बहुत ही हताश और निराश है। रमेश उपाध्याय के शब्दों में- "जिस किसान जीवन को हम बहुत सीधा-सादा समझते हैं, वह वास्तव में बहुत ही जटिल, गहन और व्यापक वास्तविकताओं को अपने में छिपाए हुए है। यही कारण है कि साहित्य में इस यथार्थ का चित्रण आसान नहीं है। आज के भारतीय किसान जीवन पर लिखने के लिए इस यथार्थ का ज्ञान तो होना ही चाहिए, उसके परस्पर उलझे हुए विभिन्न आयामों वाले अंतर्विरोधों की सही पहचान भी होनी चाहिए।"[34] पूँजीवाद अमीर लोगों को और ऊँचा उठाता है और वंचित वर्ग को और

दबाता है। किसान की अपनी पूँजी उसकी भूमि ही है। वह अपनी पूँजी को अपने पास रखना चाहता है। परन्तु स्वयं की पूँजी की रक्षा के लिए भी उसे कई कठिनाइयों से गुजरना होता है।

संजीव ने अपने उपन्यास 'फाँस' में कर्ज में डूबे किसान की यथार्थ स्थिति का वर्णन किया है। भूमंडलीकरण और पूंजीवाद के बढ़ते प्रभाव किसानों के लिए दोहरी मार के समान है। किसानों को इसने हाशिए पर ढकेल दिया है। 1960 के दशक में जब हरित क्रांति भारत में लागू हुई तो समाज में छोटे एवं सीमांत किसानों के लिए खेती करना एक बहुत ही जटिल काम हो गया। पहली हरित क्रांति ने किसानों के लिए उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों को ही खत्म कर दिया। इन प्राकृतिक संसाधनों पर छोटे एवं सीमांत किसानों की निर्भरता अधिक थी। वे इसी के द्वारा अपना जीवनयापन करते थे। भारत में कृषि क्षेत्र इस तरह विभाजित है कि छोटे एवं सीमांत किसानों की संख्या सबसे अधिक है। हरित क्रांति का आना भी सबसे अधिक इन्हीं लोगों के लिए दुःखदायी साबित हुआ है। शकुन का पूरा परिवार कर्ज में डूबा हुआ है और अपने आजीविका के साधन को खो चुका है। उसके परिवार की दशा उपन्यास की इन पंक्तियों में देखने को मिलती है- "बैंक का पहले का ऋण अदा करने में ही तबाह हुआ यह परिवार।' शुभा बोली – 'पड़ोसी होने के नाते मैं जानती हूँ इस परिवार को। इसी कुएँ से सरकारी कर्ज के चलते तीन साल से इस परिवार ने त्यौहार के दिन भी कभी पूड़ी-पकवान नहीं बनते देखा। पूड़ी-पकवान तो दूर, भर पेट कभी दोनों जून जेवण भी नसीब नहीं हुआ हो, मुझे तो संदेह है।"[35] लाभ से प्रेरित हो जब ये कम्पनियाँ किसानों के संपर्क में आती है तो इन्हें किसानों की जमीन, जमीन की गुणवत्ता, उत्तम बीज, सिंचाई के संसाधन एवं पैदावार से कोई मतलब नहीं होता है। लाभ होता है तो बस इन कार्पोरेट घरानों का जो किसानों का शोषण करते रहते है। पहली हरित क्रांति के बाद हमारे देश में दूसरी हरित क्रांति भी आई लेकिन उससे किसान की दशा पर कुछ ख़ास असर नहीं पड़ा।

संजीव के 'फाँस' उपन्यास के अनुसार हर किसान की ऋण की समस्या ही है जिसके कारण वह धीरे-धीरे बर्बाद होता रहता है। महँगे खाद बीज के कारण वे कर्ज के जाल में फँसते चले जाते हैं। विदर्भ का किसान कपास के बीज के कारण कर्ज के जाल में फँसता है। "बीटी कॉटन का महाबीज दूसरी बार फिस्स हो गया। अब फिर से बीज खरीदो। फिर से खाद, कीटनाशक, फिर से मजदूरी, फिर से कर्ज यह तो सरासर धोखा है। शेतकरियों में कसमसाहट हुई। फसल में नये-नये कीड़े, नये-नये रोग और बिक्री केन्द्र पर नई-नई बेइमानियाँ।"[36] ऐसा नहीं है कि एक किसान को सिर्फ खेती के लिए ही क़र्ज़ की जरुरत होती है। कृषि के अलावा उसके पास उसका परिवार है जिसकी जिम्मेदारी उठाने में भी उसको कर्ज की आवश्यकता होती है। उनके लिए भी कर्ज लेना पड़ता है। उसके परिवार में उसके बच्चे और पत्नी भी उस पर आश्रित होते है। बच्चों की शिक्षा, बेटी की शादी और स्वास्थ्य संबंधित कार्यों के लिए भी उन्हें कर्ज की समस्या का सामना करना पड़ता है।

इसके साथ ही बीमारी गरीब और अमीर में भेदभाव नहीं करती। जब किसान के परिवार को किसी स्वास्थ्य सम्बंधित समस्या का सामना करना पड़ता है तो तब भी वह कर्ज लेने पर मजबूर हो जाता है। इन कार्यों के लिए सरकार की तरफ से उसे कोई कर्ज देने की सुविधा नहीं है। पंकज सुबीर के उपन्यास 'अकाल में उत्सव' में यह प्रसंग आया है। रामप्रसाद अपनी बढ़िया फसल होने की उम्मीद लगाए बैठा रहता है कि फसल अच्छी हुई तो ये करेंगे, फसल अच्छी हुई तो वह करेंगे। लेकिन फसल की कटाई होते ही घर में इतने कामों का बोझ आ जाता है कि निजी समस्याओं के लिए उसके पास कुछ बचता ही नहीं। अब अपनी अन्य जरूरतों के लिए उसे या तो अपनी पत्नी के जेवर गिरवी रखने होंगे या फिर कर्ज लेना होगा - "रामप्रसाद के पास तोड़ी को गिरवी रख कर मिले पैसों से बिजली का बिल भरने के बाद जो पैसे बचे थे उनके खर्च का इंतजाम भी हो गया था। राजेश भी लगभग रामप्रसाद के ही स्तर का किसान था। ऐसे में अगर रामप्रसाद आगे बढ़कर सहायता नहीं करे तो तय था कि अब उसकी बहन के पैरों में जो तोड़ी पड़ी है,

उसके बिकने की बारी है। वैसे भी राजेश की स्थिति तो रामप्रसाद की तुलना में और कमजोर है। पढ़ा लिखा तो वह है लेकिन है तो किसान ही।"[37] देश में हर छोटा एवं सीमांत किसान किसी न किसी का कर्जदार होता है, चाहे वह बैंक हो, खाद की सोसाइटी हो या बिजली विभाग या सरकार का। सारे कर्ज की वसूली किसान से इन्ही सरकारी दफ्तरों के बाबू करते है जिन्हें इन पर बिलकुल भी दया नहीं आती। कर्ज चुकता करने के अतिरिक्त इन्ही किसानों से यही पटवारी लोग रिश्वत भी लेते रहते हैं।

रामप्रसाद के परिवार के पास उसकी पत्नी की आखरी निशानी के तौर पर उसके पैरों की तोड़ी है। आज वह निशानी भी ख़त्म हो रही है। आज के बाद उसकी पीढ़ी की यह परंपरा टूट जाएगी। सदियों से चलती आ रही उनकी पारिवारिक निशानी कर्ज चुकता करने मैं चली गयी, कमला अपनी बहु को वह तोड़ी नहीं दे पाएगी जो उसकी सास ने उसे दी थी। रामप्रसाद पर बिजली के कर्ज का बोझ है जो उसे चुकाना है। बिजली विभाग का बिल समय पर नहीं चुकाने से उसपर ये कर्ज चढ़ गया। अब यह नौबत आ गयी है कि उसकी जमीन कुर्क हो सकती है। रामप्रसाद अपनी पत्नी की तोड़ी लेकर सुनार के पास जाता है। वह अपनी आँखों के सामने अपनी पीढ़ी की परंपरा को टूटते हुए देख रहा है। कर्ज में फँसे किसान का एक धातु को पिघलते हुए देखना कितना त्रासद और करूणादायक हो सकता है। लेखक रामप्रसाद के कलेजे के आरपार देखने की कोशिश करता है - "कारीगर तन्मयता से अपने काम में लगा है। तोड़ी के टुकड़े करने के। दोनों के लिए यह प्रक्रिया बहुत अलग-अलग अर्थ रखती है। अपने-अपने सापेक्ष सचों के साथ। कारीगर के लिए और रामप्रसाद के लिए। कारीगर के लिए एक पुराना जेवर टूट रहा है और रामप्रसाद के लिए यह एक पुरानी परंपरा टूट रही है। कारीगर के लिए यह प्रक्रिया कुछ शुरू होना है, कुछ फिर से नया बनना शुरू होना, जबकि रामप्रसाद के लिए यह प्रक्रिया कुछ समाप्त होना है, कुछ पुराना समाप्त होना। हमेशा के लिए। कारीगर के लिए यह विशुद्ध रूप से एक धातु है, जबकि रामप्रसाद

के लिए यह धातु न होकर विशुद्ध भावना है। धातुएँ इसी प्रकार से परेशान करती है, वह धातु न रह कर भावनाएं बन जाती हैं।"[38] किसान के घर में जब तक धातुएँ रहती हैं तब तक वह किसान को पूर्णतः मजदूर बनने से रोके रहती है। जब तक घर में ये धातुएँ होती ही किसान को आस रहती है अपने उत्थान की। एक बार ये धातुएँ परिवार से समाप्त हो गई तो फिर किसान के पास और कोई उपाय शेष नही बचता सिवाय अपनी जमीन बेचने के जिससे वो अपना कर्ज उतार पाए।

संजीव के 'फाँस' उपन्यास में ऐसी ही एक महिला किसान आशा की कहानी है। आशा भी कंपनियों के कारण कर्ज के हाथों की कठपुतली बनी हुई है। आशा एक जुझारू मेहनतकश किसान है। घर की संपूर्ण जिम्मेदारी आशा पर ही है। अपनी संघर्ष और कृषि के बल पर उसने अपने पूरे परिवार की बागडोर संभल रखी है। बाज़ार में कपास की नित नई किस्में आ रही है और उसी के अनुरूप आशा को फसल बोनी पड़ती है। आशा बुरी तरह से कर्ज के दलदल में फंसती जा रही है- "कर्ज चालीस हजार से बढ़कर 1 लाख हुआ और साल-दर-साल बढ़ता रहा बाढ़ के पानी की तरह। मुलगियाँ जवान हो रही थीं, कोई मुलगा अभी तक देखा नहीं। नवरा को तो दारू को छोड़कर कुछ दिखाई पड़े तब न। पर इन दिनों न नवरा, न मुलगी, न शादी वह निरंतर खेत और कर्ज के बारे में ही सोचती रहती थी। पेड़ की छाया अलग मर्ज थी, पानी अलग मर्ज। खरीफ तो मारी गयी। पिछले दो साल तो पानी सूखते ही कर्ज उधार लेकर रबी बो दी थी, गेहूं और चना। बहुत अच्छा तो न था, पर 'ना' से 'हाँ' भला। लेकिन इस साल थम ही गया पानी। खेत में घुसा तो निकला निकला ही नहीं। खेत की उर्वरता भी न बची। दूसरे साल उस पर दया करके अमला के साहूकार-महाजन आनन्द ने 10 हजार दिए थे। फिर बीया ! फिर कीटनाशक ! फिर खाद...! कर्ज बढ़ते-बढ़ते जा पहुँचा दो लाख के स्तर पर और अब यह तीसरा साल। इस साल भी वही किस्म। फिर से नहर का पानी डुबो गया फसल को।"[39] हर बार नयी किस्म की बुवाई से अतिरिक्त खर्च बढ़ता है और आशा कर्ज में

डूबती जा रही है। ऊपर से मौसम की मार भी तो है जिससे की फसल खेतो में ही सड़ जाती है।

हमारे देश की जमींदारी और बंधुआ मजदूरी प्रथा का चलन अब नहीं है; परन्तु यह अंत सिर्फ कागज़ी है क्योंकि आज भी किसानों को जमींदार या महाजनों के पैरो के नीचे दब कर ही रहना पड़ता है। वे किसानों को उनके हाथो की कठपुतली बनाकर रखते है और किसानों से बेगार भी करवाते रहते हैं।

सुनील चतुर्वेदी के 'कालीचाट' उपन्यास में भीमा बा गाँव का जमींदार है। भीमा बा गाँव के सब गरीब किसानों को कर्ज देता है और बदले में उनकी जमीनों को अपने पास रख लेता है। साहिबू नामक एक गरीब किसान का एक पैर भीमा बा की बेगारी करने में ही कट गया है। कायदे से तो भीमा बा को ही साहिबू का इलाज कराना चाहिए था; लेकिन इलाज तो दूर भीमा बा ने तो साहिबू के इलाज कराने के बदले उसकी दो एकड़ भूमि को अपने यहाँ बंधक के रूप में रख लिया। साहिबू और रेशमी को फिर भी भीमा बा के यहाँ बेगार करनी पड़ती है। एक तो बेगारी करते हुए साहिबू का पैर कट गया दूसरा उसके हाथ से उसकी जमीन भी छिन गयी। साहिबु अब पूरी तरह से भीमा बा का बंधुआ बन गया है। उसे भीमा बा के पैसे का ब्याज भी चुकता करना है। हर जगह से सिर्फ कर्ज ही कर्ज का दलदल और साहिबू की हालत भी ऐसी नहीं कि वह कर्ज चुकता कर पाए- "भीमा बा का कर्जा, बैंक का कर्जा... जमीन, घर सब नीलाम हो जाए तब भी कर्जा नहीं उतर सकता और जो घर जमीन बिक गयी तो दूर-दर का होना पड़ेगा। कौन सहारा देगा? सहारा देने जैसे लोग आसपास होते तो पांव के इलाज के लिए जमीन गिरवी ही क्यों रखनी पड़ती? रेशम के पीहर में भी ऐसा कौन है जो सहारा दे सके। एक भाई है उसके तो खुद ही खाने के लाले हैं ऊपर से हम तीन जने।"[40] छोटे और सीमान्त किसान कर्ज की समस्या से सबसे अधिक जूझते है क्योंकि उनके पास उनकी अपनी जमीन होती है। हालाँकि ये जमीन कुछ ज्यादा बड़ी नहीं होती; परन्तु वह फिर भी

एक किसान अपना गुज़ारा कर लेता है। वे उस जमीन को किसी भी कीमत पर छोड़ना नहीं चाहते। लेकिन ज्यादा परेशानी खेतीहर मजदूरों को झेलनी पड़ती है। खेतीहर मजदूरों के पास तो स्वयं की कोई जमीन होती ही नहीं जिसके लिए उसे कर्ज लेने की जरूरत पड़े; लेकिन उन्हें अपने अन्य कामों के लिए कभी-कभी कर्ज लेना पड़ता है। उस कर्ज को न चुका पाने की स्थिति में कभी-कभी उसको खुद को बंधक रखना पड़ता है। कोई भी मजदूर अपनी रूचि के लिए कर्ज नहीं लेता बल्कि अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लेता है।

आज के जमाने में कृषि में किसानों के लिए बढ़ती समस्याओं के कारण मजदूर जीवन को कृषक जीवन से बेहतर समझा जाता है। इस बात को 'फाँस' उपन्यास में मोहन के कथन से प्रमाणित किया जा सकता है- "मन्थर गति से आकाश में उड़ते बादल एक होते, बरसते, उसके पहले ही बिखर जाते। किसानों की आत्महत्या की खबरें आने लगी थीं। फिर तो महामारी की तरह फैलता गया वह रोग। इस सुखाड़ इलाके के इस मर्ज का कोई इलाज नहीं। जानबूझ कर बेटी विद्या का ब्याह किसान से नहीं, मजदूर परिवार में किया। चन्द्रपुर के मजदूर से। पाँच एकड़ खेत दोनों बेटों की पढ़ाई और बेटी की शादी में होम हो गए।"[41] इस प्रकार एक स्वतंत्र किसान बंधुआ मजदूर बन कर रह जाता है। यहाँ तक कि उसके द्वारा लिए गए कर्ज को उसकी आगे आने वाली कई पीढ़ियाँ चुकाती रहती हैं। किसान को अपनी जमीन पर खेती करने के लिए कर्ज की आवश्यकता होती है।

सुनील चतुर्वेदी के 'कालीचाट' उपन्यास में भी इस स्थिति का जिक्र है। युनुस एक किसान है किंतु उसकी पूरी जिन्दगी ही समस्याओं से संघर्ष करते हुए निकल गयी। वह एक संघर्षशील किसान है जिसने कभी भी अपनी समस्याओं के आगे घुटने नहीं टेके अपितु उनका जमकर मुकाबला किया। उसका जीवन कई समस्याओ से जूझते हुए ही गुज़रा है। वह सरकार की योजनाओं पर भी पालन करता है। पूरी लगन के साथ वह उनपर अमल करता है परन्तु फिर हार जाता है। अब यही उसकी नियति बन गई। खेती के साथ-साथ उसने पशुपालन, मुर्गीपालन

आदि योजनओं को भी अपनाया। उसका उद्देश्य अपनी आमदनी बढ़ाना ही था। अब उसकी ये स्थिति हो गयी है कि खेत में बोरिंग लगवाने के लिए भी उसे कर्ज की आवश्यकता पड रही है। इतनी मुश्किलों का सामना करने के बाद वह अपनी पीड़ा को सीताराम के सामने उजागिर करता है- "सीताराम, या बात तू भी समझे कि किसान इत्ती जल्दी मरने की नी सोचे। कित्ती ऊँच-नीच तो अपनी जिंदगी में सहज में ही सहन कर ले हैं। कोई के मालूम भी नी पड़ने दे। पर जब साहूकार, बैंक, अफसर, नेता सबका सब मिलके लबुरने लग जाय और सरकार भी किसान की नी सुने तो फिर उका पास मरने सिवा कई चारो है। तू ही बता आज की तारीख में सबसे सस्तो कई है... किसान की फसल।' युनुस के स्वर में गहरी निराशा थी।"[42] निश्चित रूप से युनुस की इस निराशा का कारण सरकारी नीतियाँ एवं उसका कर्ज है। इन सब परेशानियों का सामना तो वह करता भी आ रहा है किंतु बैंक की धोखाधड़ी ने उसकी कमर ही तोड़ दी। यहाँ तक की जिस बैंक से उसने कभी कर्ज लिया ही नहीं उसका भी उसे कर्जदार बना दिया जाता है। बैंक का कर्ज तो वह किसी भी हालत में नहीं चुका सकता था। इन्हीं संघर्षो ने युनुस से उसके प्राण छीन लिए।

यह हमारे देश का दुर्भाग्य है कि सरकारी नीतियों एवं योजनाओं का क्रियान्वयन सही तरीके से नहीं होने के कारण किसानों की समस्याएँ कम होने का नाम ही नहीं ले रही है। जो भी किसान सरकार पर भरोसा करके इन योजनाओं को अपनाता है उसकी हालत युनुस के जैसी ही हो जाती है। किसान इस विश्वास के साथ सरकारी नीतियों को अपनाता है कि उसके जीवन स्तर में सुधार होगा और उसे उसकी समस्याओं से छुटकारा मिलेगा लेकिन वही सरकारी नीतियाँ उसके प्राण छीनने का सबब बन जाती हैं। सरकार से किसान का भरोसा उठ जाता है। ये तो स्पष्ट है कि हमारे देश में बैंक, महाजन और सरकारी नीतियों ने हमारे किसानों की हालत बदतर होती जा रही है। किसान के पास आत्महत्या के अलावा और कोई मार्ग शेष नहीं छोड़ा है। अनिल चमड़िया के अनुसार- "आत्महत्या के कारण बहुत

साफ हैं और वह है सदियों से पीड़ित किसानों को दिखाए गए भड़कीले समृद्धि के सपने। वास्तव में उन्हें कर्ज में फँसने का यह शिकंजा है। ताकि उसके पास जो जमीन, बीजों की विरासत, खेती की परंपरागत कुशलता है, उससे भी वह हाथ धो बैठे। महाजनों की गिरफ्त वाला बाजार इन पर अपना कब्जा जमाना चाहता है। इस तरह से इन सपने के सौदागर ने किसानों के सामने दो ही रास्ते छोड़े हैं या तो गुलामी या फिर मौत। सबसे बड़ी बात कि इस तरह की साजिशों का जाल इस तरह बुना जाता है कि उसकी बारीकियों को आमतौर पर समझना भी मुश्किल होता है। जरा इस बात पर गौर करिए कि किसान तो आत्महत्या कर रहे हैं, लेकिन बीज के व्यापारी विकसित हो रहे हैं। और ऐसा तभी होता है जब सदियों से पीड़ित वर्ग अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष का रास्ता तैयार नहीं कर पाता है और उसे छलपूर्वक पूरी तरह से घेर लिया जाता है।"[43] शकुन ने तो बैंक का कर्ज चुकाने के लिए कई यत्न किये। उसने अपने गले में पड़ी हंसुली तक को बेच दिया, फिर भी कर्ज रूपी फाँस ने शिबू को निगल ही लिया। किसान हो या खेतिहर मजदूर हमारे समाज के सामने एक प्रश्न चिह्न है। कृषक जिन्हें हम अन्नदाता कहते हैं और जिनकी सामाजिक सुरक्षा सरकार का प्रथम कर्त्तव्य होनी चाहिए, वही किसान उचित सहायता के अभाव में इन्ही सरकारी नीतियों के कारण आत्महत्या करने पर मजबूर हो जाते हैं। संजीव ने 'फाँस' उपन्यास की पात्र शकुन के माध्यम से कहते हैं- "इस देश का किसान कर्ज में ही जन्म लेता है, कर्ज में ही जीता है, कर्ज में ही मर जाता है।"[44] किसान अपनी जमीन बचाने के लिए एवं खेती की अन्य कार्यो के लिए कर्ज लेता है और मजदूर अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए कर्ज लेता है। जब कर्ज चुकाने में वे असमर्थ हो जाते हैं तो आत्महत्या का मार्ग चुन लेते हैं।

4.7 निष्कर्ष

भारत ने भी अपने दरवाजे इन बहुर्राष्ट्रीय कंपनियों के लिए खोले थे, यह सोचकर की बाज़ार में स्पर्धा आने से जनता को हर चीज़ में गुणवत्ता मिलेगी।

भारत चूँकि एक समाजवादी देश के तौर पर आगे बढ़ा तो हमने संसाधनों का सामान वितरण सुनिश्चित करना चाहा। इसी लक्ष्य की पूर्ति हेतु नवउदारवाद और वैश्वीकरण को अपनाकर हमने अंतर्राष्ट्रीय कंपनियों के लिए हमारे देश का बाज़ार खोल दिया। जिस प्रकार हर सिक्के के दो पहलू होते हैं ठीक उसी प्रकार बहुराष्ट्रीय कंपनियों के भारत के बाज़ार में प्रवेश के साथ अपने फायदे-नुकसान सामने आने लगे। चिकित्सा और शिक्षा के क्षेत्र को विशेष लाभ मिला क्योंकि स्पर्धा बढ़ने से कंपनियों ने अपनी गुणवत्ता में सुधार किया और जनता को उच्च स्तर की सेवाओ का लाभ मिला। दुर्भाग्यवश ही कहे की कृषि के क्षेत्र में अनुमान अनुसार लाभ नहीं हो पाया। हमारा लक्ष्य तो था ही यह कि हम हमारे देश की गरीब जनता को आधुनिकता के साथ कदम से कदम मिलकर चलने के लिए प्रेरित करे। किसानों ने यह प्रयास भी किया परन्तु कही न कही इसमें कोई कमी रह गयी जिसके कारण से हम सही लक्ष्य प्राप्त नहीं कर पाए। बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने कृषि क्षेत्र में नयी तकनीकों का प्रयोग किया। हायब्रिड बीजों, नवीनतम रासायनिक कीटनाशको और खाद से बाज़ार अटे पड़े हैं। बाज़ार में सामान की उपलब्धता में कोई कमी नहीं है। अगर कृषि क्षेत्र के बाज़ार को वैश्वीकरण के लिए खोलने से पूर्व यदि हम कृषि वैज्ञानिकों द्वारा हमारे देश की भूमि, मृदा, पारिस्थितिक तंत्र और मौसम का उचित आंकलन करवा कर निर्णय लेते तो परिणाम कुछ भिन्न होते। रासायनिक कीटनाशको और हायब्रिड बीजों से होने वाले नुकसान हमे इनका प्रयोग करने के बाद पता चले। जिस भूमि पर इन नए बीजों की बुवाई एक बार कर दी गयी वहा फिर अगले मौसम में उसकी बुवाई पुनः नहीं कर पाए। इन बीजों को विशेष प्रकार के कीटनाशको की आवश्यकता पड़ती है। रसायनों से प्रयोगशाला में निर्मित ये कीटनाशक भी प्राकृतिक नहीं है, इसी कारण भूमि पर इनका विपरीत प्रभाव होता है। भूमि की उर्वरा शक्ति क्षीण हो गयी और मृदा की जल धारण क्षमता भी कम हो गयी है। मौसम में बदलाव की कारण अतिवृष्टि और अनावृष्टि होने साधारण बात हो गयी है। किसान क़र्ज़ की चक्र में गहरा फँसता चला गया। उसे हर बार नए बीज खरीदने पड़ते थे। यह सब हो रहा था उसकी अपनी ही भूमि की गुणवत्ता की

कीमत पर। कृषि में बढती लागत के कारण और घटती आमदनी के कारण किसान का क़र्ज़ की दुष्चक्र में पड़ना स्वभाविक था। हमारे देश के साहुकारों, जमींदारों और चरमराती सरकारी योजनाओं ने बाकि बचा हुआ कार्य कर दिया। समय के साथ किसानों की हालत बद से बदतर होती गयी। आर्थिक रूप से किसान टूट चुका था और अब उसके पास कृषि से पलायन करके अन्य पेशे को अपनाने के सिवाय कोई चारा नहीं ही। किसानों की उपन्यासों में वर्णित आर्थिक स्थिति केवल एक आईना है। धरातल पर हालत इससे भी ज्यादा खराब है।

संदर्भ सूची

---

[1] टोनी जोसेफ, आरम्भिक भारतीय, मंजुल पब्लिशिंग, दिल्ली, पृ. 57

[2] सूर्यनाथ सिंह, चलती चाकी, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2020, पृ.133

[3] एम. एम. चंद्रा, यह गाँव बिकाऊ है, डायमंड बुक्स, 2019, पृ. 48

[4] वही, पृ. 50

[5] वही, पृ. 56

[6] संजीव, फाँस, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2016, पृ. 189

[7] विजय गुप्त, किशन कालजयी (संपा.), बदहाल किसान और लोकतंत्र की नींद, सबलोग, नई दिल्ली, अगस्त, 2017, पृ. 8

[8] वही, पृ. 8

[9] संजीव, फाँस, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2016, पृ. 17

[10] हँस पत्रिका, अगस्त, 2006, पृ.124

[11] चंद्रदेव राय (संपा.), अभिनव कदम पत्रिका, अंक-27, पृ. 242

[12] पंकज सुबीर, अकाल में उत्सव, शिवना प्रकाशन, सीहोर, 2022, पृ. 199

[13] चंद्रदेव राय(संपा.), अभिनव कदम पत्रिका, अंक-27, पृ. 244

[14] हँस पत्रिका, अगस्त, 2006, पृ. 3

[15] वही, पृ. 17

[16] सूर्यनाथ सिंह, चलती चाकी, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2020, पृ. 149

[17] पंकज सुबीर, अकाल में उत्सव, शिवना प्रकाशन, सीहोर, 2022, पृ. 47

[18] हरिवंश (संपा.), प्रभात खबर(दीपावली विशेषांक), रांची, 2015, पृ. 41

[19] वही, पृ. 111

[20] संजीव, फाँस, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2016, पृ. 69

[21] मिथलेश्वर, तेरा कोई संगी नहीं, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, 2018, पृ. 25-6

[22] वही, पृ. 141

[23] रामकिशोर मेहता, भारत में किसान दुर्दशा, उभ्दावना प्रकाशन, गाजियाबाद, 2018, पृ. 46

[24] विजय गुप्त, किशन कालजयी (संपा.), बदहाल किसान और लोकतंत्र की नींद, सबलोग, नई दिल्ली, अगस्त, 2017, पृ. 07

[25] राजूशर्मा, हलफनामे, सेतु प्रकाशन, नोएड़ा, 2025, पृ. 177

[26] वही, पृ. 272

[27] वही, पृ. 185

[28] वही, पृ. 274

[29] अर्जुन प्रसाद सिंह, कृषि संकट बनाम किसान मुक्ति, फिलहाल, प्रीतिसिन्हा (संपा.), पटना, जनवरी-फरवरी 2018, पृ. 16

[30] शिवमूर्ति, आखिरी छलांग, ऑनलाइन, नॉटनुल वेबसाइट, पृ. 03

[31]संजीव, फाँस, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2016, पृ. 99

[32] सूर्यनाथ सिंह, चलती चाकी, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2020, पृ. 38

[33] पंकज सुबीर, अकाल में उत्सव, शिवना प्रकाशन, सीहोर, 2022, पृ. 209

[34] रमेश उपाध्याय, संज्ञा उपाध्याय (संपा.), किसान आत्महत्याओं पर दो उपन्यास, कथन, नई दिल्ली, जनवरी-मार्च 2019, पृ. 151

[35] संजीव, फाँस, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2016, पृ. 107

[36]वही, पृ. 38

[37] पंकज सुबीर, अकाल में उत्सव, शिवना प्रकाशन, सीहोर, 2016, पृ. 89

[38] वही, पृ. 125

[39] संजीव, फाँस, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2016, पृ. 139

[40] सुनील चतुर्वेदी, कालीचाट, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, 2015, पृ. 62

[41] संजीव, फाँस, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2016, पृ.38

[42] सुनील चतुर्वेदी, कालीचाट, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2020, पृ. 140

[43] अनिल चमडिया, राजेंद्र यादव (संपा.), नई अर्थव्यवस्था में किसानों की आत्महत्या, हंस, नई दिल्ली, अगस्त, 2006, पृ. 113

[44] संजीव, फाँस, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2016, पृ. 15

पंचम अध्याय

इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में किसान जीवन के राजनैतिक परिदृश्य

प्रस्तावना

5.1 भूमंडलीय बाजारवादी राजनीति

5.2 राजनीतिक असंवेदनशीलता और प्रशासनिक विडम्बना

5.3 किसान आन्दोलन

निष्कर्ष

प्रस्तावना

राजनीति का सम्बन्ध मुख्य रूप से संचालन करने वाली शक्तियों से होता है। समाज, व्यक्ति, भूगोल, इतिहास या फिर वह अन्य प्रयोजननीय विषय, जिनका सीधा सम्बन्ध मानव जीवन से जुड़ा है, वे सब राजनीति के दायरे में आते हैं। किसान समाज राजनीतिक गतिविधियों के प्रति लगभग समय असक्रिय सा ही नजर आता है; लेकिन इससे राजनीतिक अनिवार्यता के कलपुर्जों से उसका नाम बाहर नहीं हो जाता क्योंकि उत्पादन के संसाधन अधिकांशत: किसानों से ही जुड़े होते हैं, जिससे राजनीति संचालित होती है।

21 वीं सदी के हिंदी उपन्यासों में किसान और राजनीतिक संदर्भ दो रूपों में हमारे सामने आते हैं – पहला रूप वह है जहाँ किसान राजनैतिक पार्टियों, राजनैतिक फैसलों और प्रशासनिक ढाँचे का शिकार होता है। दूसरा रूप किसानों की राजनैतिक चेतना का है, जिसमें किसानों ने पूँजीबाजार और सत्ता केन्द्रित राजनीतिक समझ के आधार पर अपनी आन्दोलनकारी राजनीति को आगे बढाता है। इन उपन्यासों में पंचायत की राजनीति, बिचौलियों से लेकर अंतरराष्ट्रीय बाजारवादी राजनीति का स्वरूप हमारे सम्मुख आता है जिसके कारण किसान जीवन पर नकारात्मक प्रभाव अधिक हैं तथा प्रेरणादायी किसान आन्दोलन कम ही दिखाई देते हैं। चूँकि किसान 21 वीं सदी में राजनीतिक चेतना सम्पन्न तो हुआ है; किन्तु बाजारवादी ताकतों से लड़ने के लिए तैयार नहीं है क्योंकि उत्पादन बढने के बावजूद भी उसको सही मूल्य और स्थान अपने उत्पाद को बेचने के लिए नहीं मिल पाया। इन उपन्यासों में किसानों की राजनीतिक चेतना अभी थोड़ी पीछे ही चल रही है हालाँकि 21 वीं सदी के दूसरे दशक के अंत में हमारे सामने एक नई राजनैतिक चेतना से लेश किसान आन्दोलन घट

चुका है।; लेकिन उसका मूल उद्देश्य अभी स्पष्ट नहीं हो पाया है और न ही वह इन उपन्यासों की विषयवस्तु है।

5.1 भूमंडलीय बाजारवादी राजनीति

एक समय था जब गाँव केन्द्रित अर्थव्यवस्था में किसान के पास न तो बहुत ज्यादा उत्पादन था और न ही बहुत बड़ा बाजार। वह अपने उत्पादों को छोटे से व्यापारिक समाज में अदला बदली और कुछ छोटे व्यापारियों के सहारे बेचता था; लेकिन जनसंख्या बढने और सरकारों द्वारा बाजारों पर नियंत्रण आने के बाद किसानों के उत्पाद बड़े पैमाने पर राष्ट्रीय अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का हिस्सा होते गए। 20 वीं सदी के उतरार्ध तक आते-आते किसान वैश्विक समाज का हिस्सा होता गया और अब अनाज की माँग में वृद्धि के साथ-साथ नकद पैसे और बढती हुई आवश्यकताओं के कारण वह अपने आप को गाँव मात्र तक सीमित नहीं रख सका। भूमंडलीय किसान राजनीति का सीधा सा आशय यही है कि खेतों में पैदा होने वाली फसलों पर चाहे सीधा नियंत्रण किसानों का हो; लेकिन अप्रत्यक्ष रूप से दूसरे पक्ष उसमें शामिल होते हैं। भारत में हरित क्रांति के उदाहरण से इसको समझा जा सकता है। या उससे पूर्व जब गेहूँ जैसी फसलें भारत में मेक्सिको से आकर उत्तर भारत में अपना अधिकार जमा लेती है, वही से किसानों के भूमंडलीय बाजार से जुड़ने की शुरुआत हो जाती है।

भौगोलिक रूप से पश्चिमोत्तर भारत चावल जैसी फसलों के लिए अनुकूल नहीं था। वहाँ केवल मोटा अनाज ही हो सकता था; लेकिन हरित क्रांति के माध्यम से उस क्षेत्र को बड़े-बड़े बाँध बनाकर पानी की आपूर्ति की गई और चावल और गन्ने के योग्य बनाया गया और जहाँ गेहूँ का उत्पादन बहुत सीमित मात्र में हो रहा था, वह रिकार्ड तोड़ने लगा। पानी के साथ-साथ उन्नत किस्म के बीज भी किसानों को दिए गए और उन बीजों के पलने और बढने के लिए रासायनिक खादों का इस्तेमाल भी किया जाने लगा। यह कार्य बहत आसान नहीं था। इसके लिए अंतर्राष्ट्रीय समझौते किए गए।

कम्पनियों द्वारा खाद और बीजों का उत्पादन अधिक मात्रा में किया गया। उत्पादन बढ़ता है और देश में अन्न के भंडार भर जाते हैं। यह प्रक्रिया जब बहुत लंबे समय तक चलती रही तब इस पर किसानों और सरकारों का ध्यान गया क्योंकि भारत में आर्थिक उदारीकरण तक जहरीले रासायनिक खादों का प्रभाव दिखने लग गया था और सरकार ने जैसे ही खेती में विदेशी बाजार को प्रवेश दिया उसके बाद तो यह क्षेत्र बर्बादी की कगार पर पहुँच गए। अब चूँकि बाजार पर सरकार का नियंत्रण ही नहीं रहा। सरकारें बाजार के आधार पर संचालित होने लगी।

रामैया नागराज ने भूमंडलीकरण और बाजार के प्रभावों और ताकतों के मिल जाने और उससे उत्पन्न स्थितियों पर टिप्पणी की है, उससे समझ आता है कि हिंदी उपन्यासों में किसानों को बाजार से पीड़ित क्यों दिखाया है और उसके परिणामस्वरूप पूँजीवाद के खिलाफ किसान आन्दोलन क्यों खड़े हो रहे हैं। रामैया नागराज लिखते हैं – "भूमंडलीकरण को अगर अंतर्राष्ट्रीय बाजार की ताकतों के अवतार की सूरत में देखा जाए तो वह एकदम काले जादू जैसा लगता है। उसकी मुख्य करामात यह है कि उसके एजेंट और उससे प्रभावित व्यक्ति के बीच कोई सीधा सम्बन्ध नहीं दिखता। यह काला जादू खंड-खंड करने की एक प्रक्रिया चलाता है। इसके तहत बाजार की कोशिश होती है कि खुद को सभी तरह की राजनीतिक ताकतों के सामाजिक नियंत्रण से मुक्त कर लें। इसमें बाजार हमेशा ही कामयाब नहीं होता पर उसका यह प्रयास हमेशा ही चुनाव का मुद्दा नहीं बन पाता। इस पृष्ठभूमि में हाशिए पर पड़े समूहों की राजनीति में भी भूमंडलीकरण के विरोधी काले जादू के गुण पैदा हो जाते हैं। इन दो काले जादूओं का टकराव चुनाव के मंच पर होता है।"[1] यह स्थितियाँ भारत के संदर्भ में आरंभिक दिनों में थी। अब ये दोनों काले जादू चुनावों के मंच पर नहीं भिड़ते दिखते; बल्कि एक काले जादू द्वारा ही चुनाव का नियंत्रण किया जाता है और दूसरा काला जादू सरकारों से भिड़ता है। इसका सीधा सा आशय यह है कि भूमंडलीकरण का भूत सरकारों के सिर

पर बैठकर किसानों पर कोड़े बरसाता है। अब भूमंडलीकरण किसान के लिए विकास का सूत्र न रहकर विनाश का कारण बन गया है।

21 वीं सदी के आरम्भ से ही किसानों की आत्महत्याओं की बढती हुई गति के पीछे भूमंडलीय बाजार और लोकतंत्र के नाम पर संचालित राजनीतिक चालबाजियाँ रही है। "हिंदी साहित्य की प्रवृत्तियों में तात्विक परिवर्तन तब आया जब देश की राजनीतिक और आर्थिक संरचना पर वैश्विक राजनीति का अत्यधिक प्रभाव बढ़ गया। 24 जुलाई 1991 ई. को भारत की संसद में केंद्रीय बजट से 'एक ऐसे अर्थ तंत्र का आकार प्रकार बनना शुरू हुआ जो राजनीति से नियंत्रित होने के बजाय उसे नियंत्रित करने की इच्छा से लैस था। चार दशक से ज्यादा की अवधि में जिस राष्ट्रीय राजनीतिक–सामाजिक संस्कृति की रचना हुई थी एक पल में उसकी बागडोर ऐसे हाथों में चली गई जो शुद्ध रूप से भारतीय हाथ नहीं थे। यह भारत के ग्लोबलाइजेशन यानी भूमंडलीकरण की शुरुवात थी।"[2] यह एक राजनैतिक फैसला भले ही मान लिया जाए; लेकिन इससे भारतीय किसानी का स्वरूप ही बदल गया। हम आगे इस भूमंडलीय किसान संकट को उपन्यासों के माध्यम से समझेंगे।

'फाँस' विदर्भ क्षेत्र के उन गाँवों की बर्बादी की कहानी है जिनको उन्नत किस्मों के बीज, खाद और पशु तक दिए गए जिनके कारण विदर्भ क्षेत्र राख बन गया। इस राजनीति के शिकार विदर्भ को कवि रामाज्ञा शशिधर की नजर और पीड़ा से देखें, तो वे कहते हैं – "संसार का सबसे बड़ा श्मशान / धूसर स्लेटी काला / संसार का सबसे बड़ा कफन / मुलायम सफेद आरामदेह / मणिकर्णिके / तुमने विदर्भ नहीं देखा।"[3] जब हम 'फाँस', यह कविता और पी. साईनाथ की रिपोट्र्स एक जगह मिलाकर पढ़ते हैं तब समझ आता है कि भूमंडलीय राजनीति खेती की उपजाऊ जमीन को कैसे राख बना सकती है। पूँजीवाद के आकाओं को बहुत से लोग धन पशु कहते हैं। 'यह गाँव बिकाऊ है' उपन्यास में लेखक ने पंजाब में हरित क्रांति के कारण बर्बाद होकर मजदूर बन गए किसानों और उनके पुन: खेती की ओर लौटकर आने के बाद राजनीतिक संघर्ष की

स्थितियों का बयान किया है। जिसमें वे पुन: पूँजीवाद और सरकारी मशीनरी के खिलाफ खड़े होने की हिम्मत करते हुए दिखाई देते हैं।

'फाँस' उपन्यास की कलावती (शिबू की छोटी बेटी) अपनी माँ की इस चिंता का कि इस देश का किसान गरीबी में ही जन्म लेता है और गरीबी में ही मर जाता, जबाव देते हुए कहती है – "कोर्पोरेट-सोशल रेस्पोंसिबिलिटी इन देशी विदेशी सेठों की जिम्मेदारी। आपूर्ति उतनी ही होती है जितने में इसका ग्राहक बचा रहे।"[4] कलावती नैतिक अपराध की बात कर रही है। जिन कम्पनियों ने किसानों को जी.एम बीज* बेचकर अपनी पूँजी में वृद्धि कर ली है और वे बड़े आम बन चुके हैं उनको इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि इस बीज से किसानों के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? बेचा हुआ बीज किसान की धरती के लिए उपयुक्त भी है या नहीं ? अगर वह उस जमीन में अंकुरित ही नहीं हुआ तो किसान को हुए नुकसान की भरपाई कौन करेगा ? यह तमाम सवाल हैं; लेकिन कोई भी कोर्पोरेट इसकी जिम्मेदारी लेने को तैयार नहीं। 21 वीं सदी की शुरुआत में विदर्भ के किसान आन्दोलन पर उतर आए क्योंकि उनके पास पानी की कमी थी और फसलों के सही दाम नहीं मिलते थे। सरकार ने आन्दोलन को दबाने का एक तरीका निकाला और कपास का एक जी.एम बीज पकड़ा दिया – बीटी काटन। इस बीज ने सम्पूर्ण विदर्भ में तबाही मचाई, उसका शिकार उपन्यास का मोहन दादा उर्फ़ मोहन दास बाघमारे होता है। उपन्यासकार किसानों के सपने और बर्बादी की दास्तान नाना के मुख से बयान करता है – "शेतकरी की एकता तोड़ने के लिए या

---

* जेनेटिकली मोडिफाइड बीज : प्रोफ़ेसर नरसिंह दयाल ने 'जीन टेक्नोलोजी और हमारी खेती' पुस्तक में लिखा है कि "जीन टेकनोलोजी के द्वारा किसी भी जीन को किसी अन्य जीव के जीनोम में डालकर उसका मनचाहा आनुवंशिक रूपांतर किया जा सकता है । इसमें लैंगिक प्रजनन विधि की जरूरत नहीं पड़ती । उदाहरण के लिए आर्कटिक मछली के शीतप्रतिरोधी जीन को टमाटर या सट्रोबरी में शीत प्रतिरोधिता के लिए और मिट्टी में पाए जाने वाले जीवाणु बैसिलस थुरीजिएंसिस के बीटी जीन को कीट प्रतिरोधिता के लिए किसी भी पौध प्रजाति के जीनोम में स्थानांतरित किया जा सकता है । ऐसा करने से पराया जीन भी मेजबान पौधे में विशिष्ट प्रोटीन बनाने में सक्षम हो जाता है । विकसित देशों की दैत्याकार कृषि बायोटेक कम्पनियों के जिनियागरो ने जीन इंजीनियर द्वारा सैंकड़ों फसलों की जीएम किस्में बना डाली है । इन कम्पनियों द्वारा बढ़ – चढ़कर दावा किया जा रहा है कि इन जीएम किस्मों के बीज भारत के किसानों के लिए बहुत लाभदायक होंगे क्योंकि इनकी खेती से रासायनिक कीटनाशकों के नगण्य प्रयोग के कारण लागत बहुत कम और उत्पादन बहुत अधिक होगा ।"

उनके उद्धार के नाम पर भगवान जाने सन् 2002 में आया था कापूस का महाबीज बीटी काटन बीज, तो विलायत से कि अमरीका से! विलायती बीज, नाजुक बीज, खाद चाहिए? लो! कीटनाशक भी चाहिए? लो! पैसे नहीं हैं, सरकार कर्ज दे रही है न! लो! और पानी? ऊपर वाला देगा न! उस साल ऊपर वाले ने दिया भी। उफ् क्या रेशे थे! क्या फलन! पूरा खेत कापूस से बूढ़े सन्यासी की तरह उजला हो गया। वही उजास किसानों के मुँह पर – हिंदी फिल्म 'मदर इण्डिया' के गीत की तरह...'दुःख भरे दिन बीते रे भैया, अब सुख लायो रे, रंग जीवन में नया लायो रे !' लेकिन अगले ही साल झटका लगा। बीटी कोटन का महाबीज फिस्स हो गया। अब फिर से बीज खरीदों। फिर से खाद, कीटनाशक, फिर से मजदूरी, फिर से कर्ज ! यह तो सरासर धोखा है। शेत्कारियों में कसमसाहट शुरू हुई। फसल में नये – नये कीड़े, नए – नये रोग और बिक्री केंद्र पर नयी – नयी बेईमानियाँ। तौल में गड़बड़ी।"[5]

दरअसल जीएम बीजों को एक अलग वातावरण में तैयार किया जाता है जिसके कारण जब तक उनको सही तरीके से रासायनिक इलाज नहीं मिले तो वे तुरंत मर जाते हैं। भारत के किसान सदियों से पुराने बीजों से अगले साल के लिए फसल बोते आए हैं; लेकिन कम्पनी का कांट्रेक्ट ऐसा कि आपको हर साल नए बीज खरीदने पड़ेंगे और अगर किसानों ने नहीं भी खरीदा तो उसी फसल से छांटे गए बीज दुबारा उत्पादन लायक नहीं रहते क्योंकि वे उस वातावरण के प्रति तैयार नहीं होते और उनकी अंकुरण क्षमता बहुत कम हो जाती है। उनकी रोग प्रतिरोधक क्षमता कीटनाशकों और रासायनिक खाद से ही बनी रह सकती है और विदर्भ जैसे क्षेत्र का किसान हर साल इतना भार नहीं उठा सकता। विदर्भ के किसानों को यह बीज दिया जाना उनके भले के लिए नहीं था अपितु कम्पनी की तरफ से यह एक प्रयोग था कि उनके बीज किस मात्रा तक उत्पादन देते हैं और यह बात किसानों को बताई नहीं गई थी। मोनसेंटो अंतरराष्ट्रीय बीज बनाने वाली कम्पनी थी और भारत में माहिको

कम्पनी ने इस प्रयोग को अंजाम दिया। इन दोनों कम्पनियों की धोखाधड़ी और राजनीति को मीना मेनन और उज्रामा ने अपनी पुस्तक 'A Frayed History : The Journey of Cotton in India' विस्तार से बताया है।

'फाँस' में विजयेन्द्र जब आत्महत्या के कारणों की खोज कर रहा होता है तब उसे समझ आता है कि सरकारें और ये कम्पनियाँ दोनों कैसे साथ मिलकर किसानों को बेवकूफ बनाती है – "उदारीकरण के चलते सरकार का रवैया ही कोर्पोरेट वाला हो चुका है – बिलकुल ठुस्स यांत्रिक। कोर्पोरेट कल्चर या बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ जाहिर तौर पर किसी बड़ी पूँजी की प्रसूत होती हैं, बड़ी पूँजी बाजार में लाभ कमाने के उद्देश्य से आती है। उसकी सामाजिक जिम्मेदारी सिर्फ इतनी सी होती है कि ग्राहक या उपभोक्ता जिन्दा रहे। इन्हें और इनके प्रतिनिधि नेताओं को जमीन की गुणवत्ता, सिंचाई की प्रकृति और पैदावार से कोई मतलब नहीं। कई नेता तो जानते भी नहीं कि आलू ऊपर फलता है या नीचे, खेती धान की होती है, चावल की नहीं, कि सरपत और गन्ने के पौधे में क्या फर्क है! असल राजनीति और उसका अर्थशास्त्र तो समाज के कुछ खास वर्गों के हाथ में है जो तय करते हैं कि रस्सी कब गले की टाई होगी, कब माला और फाँसी का फंदा। यह सरासर लोकतान्त्रिक मूल्यों में कमी और बाजार के सामाजिक व्यवहार में बढ़ते हस्तक्षेप के कारण हुई है।"[6] सरकारों का अलोकतांत्रिक व्यवहार बड़ी पूँजीपति कम्पनियों के साथ केवल नीतिगत ही नहीं है अपितु बहुत बार राजनेताओं का मोटा पैसा इन कम्पनियों में लगा रहता है। अगर विदर्भ क्षेत्र में बीटी कपास से हुए नुकसान के आँकड़े पर ही बात की जाए तो नतीजे भयावह निकलते हैं। विदर्भ में तो किसान आत्महत्याओं का कारण ही यह बीटी कपास ही है। लेखक 2006 की एक रिपोर्ट का उल्लेख उपन्यास में करते हैं कि "2006 में विदर्भ के 20 लाख किसानों में 16 लाख शेतकरी बैंक डिफाल्टर, एक लाख गंभीर बीमारी के शिकार, 4 लाख के पास ब्याहने योग्य मुलगियाँ, 12 लाख शिक्षित बेरोजगार मुलगे, मुलगियाँ, इनमें से 19

लाख परिवार की जमीन सूखा ग्रस्त। ट्रांसजेनिक बीटी कोटन धरती की उर्वरता को सोख लेता है। 15 प्रतिशत से ज्यादा खाद देनी पड़ती है - महँगी खाद। ज्यादा सिंचाई, ज्यादा कीटनाशक, अधिक बारिश वाले क्षेत्रों में यह परेशानी और भी ज्यादा। पत्तियाँ लाल रोग से ग्रस्त - सर्वाधिक सिंचाई की जरूरत पड़ती है अक्टूम्बर महीने में। अब झल्लियाँ नहीं मरती। मिलीबग नामक कीड़ा बीटी के आने के पहले भारत में नहीं देखा गया था। बीटी मिलीबग ले आया...वैसे ही जैसे पी.एल 480 नाम के अमरीकन गेहूँ के साथ आया जहरीला पौधा पर्थेनियम जो अब भारतीय हो गया है, नाम - गाजर घास।"[7] इस प्रकार खेती के क्षेत्र में भूमंडलीय पूँजीवादी कारोबार ने विदर्भ की किसानी को बुरी तरीके से बर्बाद कर दिया है।

भूमंडलीय बाजारवादियों का शुरूआती मंत्र जो जनता के बीच प्रसारित किया जाता है वह होता है विकास करना; लेकिन वे पहले से जानते होते हैं कि हमारे द्वारा किए जा रहे प्रयोगों का परिणाम अनिश्चित है उसके बाद भी लाभ कमाने के लिए जनता को 'गिनीपिग' की तरह इस्तेमाल करते हैं। उनके लिए किसानी जीवन पद्धति या सांस्कृतिक समूह कोई मायने नहीं रखता। भौगोलिक और पारिस्थितिकी बदलाव में अपने हितों के लिए ही कर रहे होते हैं। विदर्भ के एक किसान का अनुभव लेखक उपन्यास में उद्धृत करते हैं – "मेरे क्षेत्र में बीटी कोटन के दो भयंकर परिणाम हुए हैं, संभव है आपके यहाँ भी हो। कापूस के डोंडे के कीड़े का सफाया तो नहीं हुआ पर मधुमक्खियों, तितिलियों और भौरों का सफाया हो गया। इसके अलावा कीटनाशक तो है ही..जहर ही जहर, हमने मधु के छत्तों से मधु दुहे फिर फेंक दिए, पूछो क्यों...उस जहर को खाकर भी जो मधुमक्खियाँ बच गयीं, क्या पता उन्हीं का बनाया दूषित मधु हो और मधु के औषधीय गुणों की जगह उसमें जेनेटिकली बदलाव लाने वाले गुण आ जाए।"[8] इन सबके बारें में न तो बीज और कीटनाशक बनाने वाली कम्पनियाँ सोचती है और न ही देश का राजनैतिक नेतृत्व। अगर सामान्य किसान सोच भी रहा है तो उसके हाथ में इन सब पर रोक लगाने के अधिकार नहीं है।

उपन्यास में उद्धृत कम्पनियों और सरकारों की मिलीभगत चौकाने वाली है। मोनसेंटो 1970 से भारत में काम कर रही है। “भारत में अमरीकी मोनसेंटो ने 1970 में ही ‘मेकिट’ और ‘राउंड अप’ नामक खरपतवार, कीटनाशक बनाए और बीज माफिया बन गया। इसने महाराष्ट्र हाई – ब्रीड सीड कंपनी ‘माहिको’ को सहयोगी बनाया। न सिर्फ कापूस बल्कि 60 बीटी फसलों और 40 खाद्य फसलों पर परीक्षण करवा रहा है। बेंगलुरु में करोडो की लागत से रिसर्च एंड डेवलपमेंट की सारी नकले इन्हीं के हाथ में है।”[9] जो कम्पनियाँ राजनैतिक पार्टियों को चंदा देती है तो बदले में अपना मुनाफ़ा कमाने के लिए पार्टी की सरकार आते ही वापस भी वसूल करती है। जब विजयेन्द्र एक संगोष्ठी में अपने शोध पत्र को पेश करता है तो सामान्य आदमी समझ ही नहीं पाता है कि उनकी गरीबी और भूखमरी का राज कहाँ छुपा हुआ है। वह बताता है कि देश के नीति निर्माता पता नहीं क्यों दलाल बन गए हैं इन कम्पनियों के। “ये कितने ताकतवर हैं, इसका एक उदाहरण यही आपके सामने है। आपने अखबारों में पढ़ा है और टी. वी. में देखा होगा कि हजारों मीट्रिक टन गेहूँ खुले में सड़ गया। अपने यहाँ भी यही हुआ। दरअसल वह सड़ नहीं गया, बल्कि उसे सड़ जाने दिया गया। क्यों? सड़े हुए गेहूँ से शराब बनती है। लग गयी बोली। उस सड़े हुए गेहूँ को सस्ते में उन्हीं लोगों ने ले लिया जिन्होंने उसे खुले में छोड़कर नष्ट किया था। पहले सड़ाया, फिर शराब बना दी - सस्ते में खरीदकर। ट्रिपल क्राइम। शराबबंदी का यह किस तरह का मखौल उड़ रहा है - यह चौथा विषय है।”[10] इस प्रकार अंतर्राष्ट्रीय पूंजीबाजार के सामने छोटी-छोटी जोत और अपने निजी हितों व जीवन को बचाए रखने की जंग लड़ रहे किसान सिवाय एक ‘लैब के गिनिपिग’ अलावा कुछ नहीं है। इस सीमा से आगे का रास्ता अमरीकी और यूरोप की तर्ज पर कोर्पोरेट खेती की ओर जाता है जो भारतीय किसान की मृत्यु ही साबित होगा। “इन कोर्पोरेट परस्त नीतियों के कारण ही खेती की लागत बढ़ी है। ये नीतियाँ परम्परागत खेती को पिछड़ा बता रही है। गाँवों तक पहुँच चुकी कम्पनियाँ किसानों को सपने दिखा रही है। उनकी जमीन लेकर कोर्पोरेट खेती

करा रही है। इस चलन से छोटे किसान गायब होते जा रहे हैं। हालिया जनगणना के आँकड़े बताते है कि 1991 के बाद से देश में करीब डेढ़ करोड़ किसान घट गए हैं। इस तरह से अगर कोर्पोरेट खेती को बढ़ावा दिया गया तो गाँवों में किसान नहीं बल्कि खेत मजदूर बचेंगे। जिन इलाकों में कोर्पोरेट खेती बढ़ी है वहाँ छोटे किसान अपनी जमीन गंवाकर खेत मजदूर बन गए हैं। वे अब अपनी ही जमीन पर मजदूरी करने को विवश हैं। ऐसे में यह बात समझनी होगी कि कोर्पोरेट खेती के बहाने छोटे किसानों का भला नहीं बल्कि उन्हें दास प्रथा की ओर धकेलना है। ये वही कोर्पोरेट हैं जो मजदूरों के सभी अधिकार निगल गए। अब वे किसानों को अपनी पुश्तैनी जमीन छोड़ने के साथ मजदूर बनाने में लगे हुए हैं। वे यह नहीं समझते कि खेती किसानी आजीविका के साथ-साथ देश की संस्कृति रही है। यह जीवन की अंतिम कड़ी है। कोर्पोरेट इस अंतिम कड़ी को भी छीनकर अपने लाभ में इजाफा करने पर आमादा है।"[11]

निष्कर्षत: भूमंडलीय किसान राजनीति को विस्तार से हिंदी उपन्यास अभी बहुत अधिक मात्रा में दिखा नहीं पाए हैं; लेकिन फिर भी 'फाँस' जैसे एक दो उपन्यास भी गुणात्मक रूप से उन स्थितियों को उजागर करने में सक्षम है जिनकी वजह से विदर्भ जैसा क्षेत्र आज भयंकर भूखमरी की चौखट पर खड़ा है। उपन्यास न केवल पूँजीपतियों की धन पिपासा के कारण पिसते किसान को दिखाता है; बल्कि लोकतान्त्रिक मूल्यों पर बनी सरकारों की विश्वसनीयता पर भी सवाल खड़े करता है।

5.2 राजनीतिक असंवेदनशीलता और प्रशासनिक विड़म्बना

राजनीतिक दृष्टि से उपेक्षाओं का शिकार रहा किसान भारत में आजादी के बाद भी लोकतांत्रिक व्यवस्था के नीतिगत फैसलों की मुख्य धारा में आने का आज भी इंतजार ही कर रहा है। गाँवों में किसानों और कमजोर वर्ग के पास राजनीतिक चेतना पहुँचाने के लिए पंचायती राज व्यवस्था आने के बाद भी किसान तो वही का वही रहा क्योंकि उसके पास पाँच साल में एक दिन केवल वोट देने का अधिकार होता है उसके

बाद के समस्त राजनीतिक और नीतिगत फैसले कुछ लोगों के पास ही होते हैं। राजनीति के साथ - साथ विकसित हुई प्रशासनिक व्यवस्था भी किसानो के शोषण मात्र से ही जुडी हुई है। ऐसे उदाहरण कभी- कभार ही देखने को मिलते हैं कि प्रशासनिक व्यवस्था के कारण किसी किसान का भला हुआ हो। पंचायतों की राजनीति से लेकर बैंक ऋण, सब्सिडी, किसान प्रोत्साहन योजनाएँ तथा किसानों के जीवन स्तर में सुधार के लिए किए गए अन्य कार्य, किसानों के जीवन को आसान बनाने के बजाय परेशानियाँ बढ़ाने वाले ही ज्यादा साबित हुए हैं। गाँवों में राजनीति के बरक्स नया गुंडई समाज भी पनप गया है जो किसानों के खिलाफ कार्य करता है। ऐसे तत्व राजनीति प्रेरित होते हैं; लेकिन वे उसी समाज का हिस्सा भी होते हैं।

हिंदी उपन्यास जो 21 वीं सदी में लिखे गए हैं उनमें चाहे किसानी पिछले सालों की वर्णित हुई हो; लेकिन हालत आज भी सुधरे नहीं हैं। केवल तरीके बदल गए हैं। पंचायतों में एक ही व्यक्ति का वर्षों तक प्रधान बने रहना और सारे कार्य अपने हितों के लिए करना, किसान क्रेडिट कार्ड के नाम पर दलालों का उत्पन्न हो जाना, किसान आत्महत्याओं को कमजोरी कहकर मजाक उड़ाना और विरोध करने पर समाज विरोधी का लेबल लगा देना, धन्ना सेठों से मिलकर जमीनें हड़पना, खेती की बर्बादी पर बात करने हत्या करवा देना, खेतीहर मजदूरों और किसानों के बीच झगड़े करवा देना - ऐसे अनेक मुद्दे इन उपन्यासों में उठाए गए हैं।

बिहार क्षेत्र के लाखन डीह गाँव के खेतीहर मजदूरों का स्थानीय राजनेताओं और प्रशासन द्वारा शोषण किया जाता है और उसके खिलाफ मार्क्सवादी राजनीति से प्रेरित होकर हिंसक प्रतिरोध जन्म लेता है – कर्मेंदु शिशिर ने अपने उपन्यास 'बहुत लंबी राह' में महादेव महतों को मालिक के खेत में काम करके भी अहसान मानने वाले किसान के रूप में चित्रित किया है तो उसके पुत्र को शोषण के खिलाफ आवाज उठाने और अपने अधिकारों के लिए राजनीतिक लड़ाई में शामिल होते हुए दिखाया है। स्थानीय राजनीति और शोषण से पीड़ित महादेव महतो की मानसिकता बहुत बार

गोदान के होरी के नजदीक जाती दिखती है। होरी खेतीहर मजदूर नहीं था। उसके पास जमीन थी; लेकिन महादेव महतो के पास जमीन नहीं है। वह अपने जन्म से ही मिसिर के खेत में काम करता है और उसी से अपना परिवार पालता है और उम्मीद रखता है कि एक दिन मिसिर का दिल पिघलेगा और वह जमीन का एक टुकड़ा उसके नाम कर देगा; लेकिन ऐसा नहीं होता और उसी की प्रतिक्रिया में उसका पुत्र राजनैतिक हथियार अपनाता है। गाँव में ब्राह्मण टोले के दो नेता है तथा एक नेता लालपाटी यानी मार्क्सवादी या नक्सलवादी पार्टी का नेता है। मिसिर वर्षों से पंचायत पर कब्जा जमाए बैठा है और उसी के परिवार का एक अन्य प्रतिद्वंदी प्रधान बनने की इच्छा रखता है। दूसरी तरफ चमार टोला और अहीर टोले के बहुत सारे लोग लालपाटी के बालचन को ही अपना नेता मानते हैं। युवा उजागिर और विभूति दोनों बालचन की बात मानने वाले हैं। कैसे भी करके सुरेमन मिसिर के पिता ने ही गाँव के पोखर पर अपना हक क़ानूनी रूप से जता दिया था। उसके बाद उसमें से मछली मारने की अनुमति किसी को नहीं थी। बालचन के कहने से पहली बार उजागिर जो कि अहीर टोले का है और विभूति जो कि खेतीहर मजदूर हैं – दोनों ने एक रात पोखरे से मछली मारने के लिए जाल डाला। उपन्यास का समस्त कथानक एक इसी घटना के इर्द गिर्द घूमता है क्योंकि एक बार जाल डालने के बाद वह राजनीति इतनी बड़ी हो जाती है कि सब लोग अपनी तुक भिड़ाने लगते हैं। उपन्यास की रचना 21 वीं सदी के पहले दशक के आरम्भ में हुई है। यह माना जा सकता है कि लेखक पर कम से कम पिछले 20 सालों का प्रभाव तो रहा ही होगा। उससे पहले नक्सलबाड़ी आन्दोलन घट चुका था और झारखंड जैसे राज्य के लिए आन्दोलन भी शुरू हो चुका था। ऐसी स्थिति में उपन्यास में दिखाई गई विभूति और उजागिर की राजनैतिक चेतना काफी पिछड़ी हुई नजर आती है; लेकिन भारतीय किसानों की राजनीतिक समझ का विश्लेषण किया जाए तो लेखक उतना भी गलत नहीं ठहरता। विभूति जब जाल डालने के लिए पोखरे पर बैठा होता है तब उसकी चिन्तन प्रक्रिया दंद्वों में फँसी होती है – “एक साथ कई

बातें मन में उठती है और अंदर से उबल जाता। बालचन काका झूठ नहीं कहते। बाभन ऐसे ही राज नहीं करते। माथा लगाते हैं। घट जानते हैं - घट। एक साल की बंदोबस्ती करा, सालों साल खींच लिया। गंगा मलाह को समझाने का कोई फायदा नहीं। कहता है - मालिक की ही बदौलत आज पोखर उसके नाम नीलाम है। वरना पूरे बलाक में और कोई मलाह नहीं है क्या ? वह कुछ सुनने को तैयार ही नहीं। लेकिन जो हो - पोखर तो पूरे गाँव का है और गाँव के ही हबेक नहीं ? हिकारत और क्रोध से विभूति बनबना उठा। वह एक - एक बात याद रखता है। कैसे बसोरपन के बेटे से मछली छीनकर, मिसिर ने उसे चाँटा मार दिया था। दिनों से वह नजर पर चढ़ाए हुए था। इसी ताक में रहता।...लेकिन बालचन काका की बात से वह सूत भर नहीं डिगेगा। उनकी बातें अब उसकी समझ में आने लगी थी। अब जाकर असल चाल चली है बालचन काका ने। उजागिर के साथ रहने से जादव टोली नहीं खरक सकती। नोनिया टोली और चमर टोली में भी उसी की चलती है। दो चार घर छोड़ दो तो पूरे गाँव में मिसिर के साथ कोई भी नहीं - लेकिन खुलकर सामने कोई भी नहीं आएगा। वरना डाह देगा - बाभन।"[12] जब पोखर से मछली पकड़ने की घटना मिसिर के पास पहुँचती है तो मिसिर महादेव महतो की भैंस उसके द्वार से खोल ले जाता है क्योंकि विभूति के किए की सजा उसके बाप को ही मिलनी चाहिए। विभूति का यह चिन्तन अपने गाँव के दायरे तक इतना सीमित है और वह अपने पिता को भी नहीं समझा सकता कि मछली उसके अकेले की नहीं है। वह दिन के उजाले में उसका सामना करने से डरता है।

लेखक इसमें गाँव के किसानों की उस कमजोर राजनीतिक दृष्टि की ओर संकेत करते हैं जहाँ एक बार चुनाव जीतकर राजनेता बन गया व्यक्ति हमेशा के लिए सम्मानीय हो जाता है और वे उसका विरोध करना चाहकर भी नहीं कर पाते क्योंकि एक बार राजनेता बनने के बाद वह ऐसी अदृश्य शक्ति अर्जित कर लेता है जिसके तहत किसी को भी पिटवाने का साहस रखता है और मरवा भी सकता है। विभूति अपने पिता के अपमान का बदला अपनी भैंस को पुन: चुराकर लेता है और उसका परिणाम

होता है कि मिसिर की शिकायत पर महदेव महतों को पंचायत में बेइज्जत किया जाता है और पुलिस द्वारा पीटा भी जाता है। अंत में मिसिर उजागिर को चुनाव लडवा देता है और अपने पक्ष में कर लेता है और बालचन चुनाव लड़ता ही नहीं। विभूति को नक्सलवादी घोषित होता है और गिरफ्तार हो जाता है। लेखक ने अंत में विभूति की राजनीतिक चेतना का पल्ला पकड़कर मार्क्सवादी संघर्ष के रास्ते को न्यायसंगत ठहराने और भारतीय लोकतंत्र की विफलता दिखाने की कोशिश की है। विभूति की गिरफ्तारी के बाद महादेव महतो अपनी पत्नी से कहता है - "उपरवाला कुछ नहीं करता। सब कुछ नीचे वाले ही करते हैं। अब समझ आ रहा है असल दोष हमारा ही है। हम ही इतने दिनों तक सहते गए, सहते गए - कभी कुछ नहीं किया। उसी का फल है कि आज हमारा बेटा उसका फल भोग रहा है।...देखना, देखना तुम! एक दिन उलटन होगी - बहुत भारी उलटन! सब कुछ एकदम से बदल जाएगा - उलट - पुलट हो जाएगा।"[13] उपन्यासकार का यह आदर्शवादी अंत जिसमें वह एक दिन किसानों और मजदूरों को राजनीतिक सत्ता के निकट ले जाना चाहता है, एक सपना भर अब तक बना हुआ है। उपन्यास का कथानक किसानों की राजनीतिक चेतना को शुरूआती स्तर पर ही छोड़ देता है।

मिथिलेश्वर अपने उपन्यास 'तेरा संगी कोई नहीं' में किसानों और खेतीहर किसानों के प्रति मार्क्सवादी राजनीति को एक अलग ही नजरिए से देखते हैं। वे उपन्यास के पात्र बलेसर के नजरिए से मानते हैं कि पहले गाँवों में किसान खेतीहर मजदूरों की सहायता से अपने खेती के कार्यों को आसानी से निपटा लेते थे जिसको हलवाहा कहा जाता था और वही घरवाहा का काम भी करता था; लेकिन जब से खेतीहर मजदूरों में मार्क्सवादी राजनीतिक पार्टियों की वजह से जो चेतना आई है उससे खेतीहर मजदूर या तो गाँव छोड़कर शहर में बस गए हैं या फिर जिस जमीन पर वे वर्षों से खेती करते आए हैं उसका मालिकाना हक माँग रहे हैं। जिन किसानों के पास जोत का आकार ठीक-ठाक है वे उनको मालिकाना हक तो देने से रहे इसलिए मजदूर

गाँव छोड़कर शहरों की ओर निकल गए हैं। कई मजदूरों और किसानों के सम्बन्ध तो सह जीवन की पद्धति पर निर्भर थे; लेकिन कई बड़ी जोत वाले किसान शोषण पर उतारू हो गए। वे उन पर कर्ज का बोझ डालते जाते और वे धीरे - धीरे उनके गुलाम होते जाते - "इन दबंग किसानों के शोषण की प्रतिक्रिया और सामाजिक - राजनैतिक परिवर्तन की लहर के संयुक्त परिणाम के रूप में ही नक्सलवादी आन्दोलन आया, जिसने गाँव और खेत-बधार को ही केंद्र बना लिया। फिर तो किसान और खेत मजदूर जो एक दूसरे के सहयोगी और पूरक थे, एक दूसरे के दुश्मन बन गए। दोनों और से गोलबंदियाँ होने लगी। मारकाट और नारेबाजी हो गई - 'रोपे, बोये, काटे धान, खेत का मालिक वही किसान।"[14] लेखक ने बलेसर के बेटों के माध्यम से उस कोर्पोरेट तन्त्र की मानसिकता को दिखने का प्रयास किया है जो खेती की जमीन का अधिग्रहण करके उसमें फेक्ट्रियां लग देना चाहती है। वामपंथी संगठनों के मजदूरों को जमीन के अधिकार देने वाली बात इस मायने में भी उपयोगी है कि जो किसान खेत ही छोड़ रहा है तो क्यों न वह मजदूर के नाम कर दें ताकि खेती निरंतर होती रहे। अगर बलेसर के पुत्रों की भांति कम्पनी को जमीन बेच दी तो वह जमीन हमेशा के लिए खेती से वंचित रह जाएगी। देश के विभिन्न हिस्सों में हो रही खदबदाहट से पता चलता है कि मौजूदा समय में किसानों का अपनी जमीन और घर से विस्थापित होने का है; लेकिन वे राजनीति का विषय नहीं बन रहे। संकट यह है कि बलेसर के साथ सरकार और राजनीति कोई भी नहीं है।

राजू शर्मा ने अपने उपन्यास 'हलफनामे' में सरकार और प्रशासनिक ढाँचे द्वारा किसानों के जीवन के साथ किए जाने वाले असंवेदनशील बर्ताव और शोषणकारी व्यवस्था में पिसती हुई दो पीढीयों को दिखाया है। एक पीढ़ी वह है जो सीधे किसानी से जुडी हुई है और दूसरी पीढ़ी किसानी को छोड़ चुकी; लेकिन आत्महत्या करने वाले किसान को मुआवजे का अधिकारी बनाने के लिए प्रशासन को 'शपथपत्र' देती है और साबित करती है कि आत्महत्या करने वाले किसान ने सच में किसानी और खेती की

दिक्कतों के कारण ही अपनी जीवन लीला समाप्त की है। स्वामीराम के साथ हुई राजनीति और उसके पुत्र मकई राम के साथ हुई राजनीति - इनकी बात करने से पहले उपन्यास के आरम्भ में ही आए हुए एक वक्तव्य को देखना चाहिए। किसान संगठनों की राजनीति और सरकार की राजनीति के बीच जब किसान फँसता है तो क्या स्वामीराम और क्या मकईराम - सब के सब पस्त होते हुए दिखते हैं। विपक्षी दलों द्वारा स्वामीराम की मौत के बाद एक संगठन ने मकईराम को 'कॉमरेड मकईराम' घोषित करके आन्दोलन खड़ा किया - "यह हर साल की कयावाद थी। पर एक संगठन का मिजाज और तरीका थोडा अलग था। इसमें वामपंथी दल शरीक थे और इसका नेतृत्व कुछ स्वयंसेवी संस्थाएँ कर रही थी। माथाफेर मिश्र नाम के एक लेफ्ट नेता ने इस संगठन के कार्यक्रम में पहली बार मकई को बुलाया था। इसके बाद मकई ने कई सभाओं में भाग लिया। इस मोर्चे का खास जोर पीने और सिंचाई के पानी पर था। वे जल व्यवस्था (जिसे वह निजल अव्यवस्था कहकर उसका मजाक उड़ाते थे), पानी के टैक्स में बढ़ोतरी, सिंचाई साधनों के निजीकरण और विश्व बैंक द्वारा सौंपी गयी नीतियों की पुरजोर मुखालिफत कर रहे थे। उनकी चेतावनी थी कि अगर सरकार अभी नहीं संभली तो वह दिन दूर नहीं जब गाँव - गाँव में पानी के पीछे कत्लेआम होगा। कई मोर्चों में मकई को विकट - विराट जल संकट के त्रासद उदाहरण के रूप में पेश किया गया। एक बकरे की तरह मकई को आगे ठेला जाता ताकि जनता जनार्दन उसका नजर - दोहन कर सकें। फिर वक्ता सही वक्त चुनकर फटी आवाज में चीखने लगता - सरकार के कुप्रशासन ने गांवों की व्यवस्था बर्बाद कर दी है। हमारे कॉमरेड मकई को इसका खामियाजा अपने बाप को खोकर भुगतना पड़ा। साथियों, इस निक्कमी सरकार ने कॉमरेड मकईराम के पिता आदरणीय स्वामीराम की हत्या की है। उसकी मौत के लिए प्रशासन सरासर जिम्मेदार है। और इनकी नंगई और दबंगई तो देखिए, अब ये लोग मुआवजे के टुकड़े कॉमरेड मकई की झोली में डालकर इस जिम्मेदारी को रफा - दफ़ा करना चाहते हैं...इस पर तुर्रा यह है कि मुआवजे की रकम अदा करने में भी इस निकृष्ट व्यवस्था की आँतें सूख रही हैं। अब मैं क्या बताऊं ? कहने में खून मुँह में

आता है, हक का पैसा देने में इन सामंती, सरकारी कुत्तों को रिश्वत चाहिए; इन्हें हर चीज का सबूत चाहिए, स्वामीराम बेचारा मर गया, इसका सबूत, आपके सामने खड़ा कॉमरेड मकई उसका अकेला बेटा है, इसका सबूत, स्वामीराम पानी के इंतजाम में मारा - मारा फिरता रहा, बोरिंग पर बोरिंग खुदवाए और इस वजह से भयानक कर्ज में डूब गया, इसका प्रमाण, दो फीसदी दर से उसने गाँव के चतुर और खूनी साहूकारों से कर्ज लिया क्योंकि हमारे सरकारी बैंक और सहकारी संस्थाएँ उन्हें लोन देने में एडीयाँ घिसाती रही। इसके सबूत अब मैं क्या - क्या गिनाऊँ - स्वामीराम ने अपनी जान कर्जे की मार से ले ली, घरेलू कारणों से नहीं, इसका सबूत; स्वामीराम पहले से बीमार नहीं था, उसे मन का रोग नहीं था, उसने दूसरा ब्याह नहीं किया, उसकी किसी से दुश्मनी नहीं थी, बीवी से कलह नहीं होता था, उसका बेटा होनहार और गुणी है, इसके सबूत और न जाने कितने सबूत इन्हें चाहिए और हर सबूत के लिए इनको हलफनामा चाहिए।"[15] इस वक्तव्य से स्पष्ट होता है कि स्वामीराम ने पानी की समस्या के चलते आत्महत्या की थी। वह बोरिंग करवाने के लिए साहूकारों से कर्ज ले रहा था। बैंकिंग सिस्टम खराब है।

स्वामीराम की मौत को आत्महत्या साबित करने के लिए उसका पुत्र मकईराम हलफनामे दे रहा है फिर भी हर बार नया हलफनामा माँगा जा रहा है। स्वामीराम की मौत के बाद लेफ्ट के राजनीतिक संगठनों ने उसको आगे करके अपना राजनीतिक फायदा लेने की कोशिश कर रहे हैं। स्वामीराम की आत्महत्या के पीछे राजनीतिक षड्यंत्र और सरकारी बेईमानी थी। सम्पूर्ण क्षेत्र को सूखा घोषित करने के बाद भी गाँव के साहूकारों के साथ मिलकर बोरवेल माफिया निरंतर बौरवेल खोदते जा रहे थे और स्वामीराम को भी लगा था कि शायद पानी निकल आएगा; लेकिन धरती में पानी है ही नहीं तो निकलेगा कहाँ से। जब तक स्वामीराम को यह बात पता लगती है कि बौरवेल से पानी निकलने वाली बात झूठ में फैलाई गई है तब तक वह भयंकर कर्ज में डूब चुका था। उसने जमीन में पानी बताने वाले सुगनियों का भी सहारा लिया जो कि

साहूकार और बौरवेल माफियाओं द्वारा ही उस क्षेत्र में भेजे गए थे। स्वामीराम को जब इस बात का अहसास हुआ कि जमीन के भीतर पानी नहीं है तो उसने महसूस किया कि यह धरती ही प्यासी है। वह प्राकृतिक स्रोतों को पुन: जागृत करने के प्रयासों में लग गया और पंचायत में इस मुद्दे को उठाया कि हमें बौरवेल पर रोक लगा देनी चाहिए नहीं तो किसान बेकार में कर्ज के बोझ तले दब जाएँगे; लेकिन स्वामीराम की बात को इसलिए पंचायत सवीकार नहीं करती क्योंकि वह स्वयं काफी बौरवेल करवा चुका था। स्वामीराम बहुत कोशिश करके भी उस स्थिति को रोक नहीं पाता है और एक दिन सूखे तालाब में पड़ा हुआ मिलता है जिसको साहूकार ने तीन आदमी उठाकर लाते हैं और सारे गाँव - समाज को बताते हैं कि स्वामीराम ने आत्महत्या कर ली। उपन्यास के अंत में लेखक इस आत्महत्या को बौरवेल माफियाओं द्वारा हत्या ही साबित करता है; लेकिन असली राजनीति खेल तब शुरू होता है जब स्वामीराम के बेटे मकईराम को अपने पिता को 'किसान आत्महत्या योजना' का पात्र बनाने और मुआवजा मिलने का समय आता है। प्रदेश में जब सरकार अकाल और बिगडती हुई स्थितियों में गिरने लगती है और चुनाव नजदीक आता है तो मुख्यमंत्री 'किसान आत्महत्या राहत योजना आरम्भ करता है और उसका पहला पात्र होता है - मकईराम का पिता स्वामीराम। इन सारी घटनाओं के बीच मकईराम को 19 बार हलफनामे दाखिल करने पड़ते हैं। मकईराम को अब हलफनामे लिखवाने के लिए वकील की जरूरत नहीं पड़ती वह स्वयं हलफनामे लिखने लगा है। लेखक उन 19 हलफनामों तक की यात्रा को कई प्रकार से दिखाते हैं। जिसमें मकईराम को कभी लगता है कि वह अपने पिता की मौत का सौदा कर रहा है तो कभी लगता है कि इसमें गलत भी क्या है। साथ ही वह अपने परिवार से जो गाँव में रहते हैं उनकी नफरत और घृणा को भी झेलता है। लाला जैसे लोगों ने गाँव में माहौल बनाया कि स्वामीराम आत्महत्या योजना का पात्र कैसे हो सकता है वह तो अंतिम दिनों में पागल हो गया था। उसको पागल साबित करने से वह किसानी के कारण आत्महत्या नहीं कहलाएगी और लाला मकईराम से स्वामीराम के खेत हडप लेगा - लंबा चौड़ा कर्जा दिखाकर। यह स्थानीय स्तर की अजीब सी राजनीति होती है

जिसमें किसान ही किसान का दुश्मन बन जाता है और शोषणकर्ता की साजिशों ने साथ देने लगता है क्योंकि ईर्ष्या गरीब के अहं को संतुष्ट करती है और घृणा अमीर के अहं को।

इस उपन्यास में जब मुख्यमंत्री 'किसान आत्महत्या योजना' के पहले लाभार्थी को मंच से मुआवजा देने के लिए एक प्रोग्राम रखती है। इस बात की भनक जब लेफ्ट पार्टी के संगठनों को लगती है तो वे मकईराम के विरुद्ध हो जाते हैं क्योंकि अब तक मकईराम उनकी राजनीति को चमका रहा था और अचानक से सत्तासीन पार्टी उसका फायदा ले जाएगी। पहले वे मकईराम को समझाते हैं कि सरकार द्वारा मुआवजा देना एक चाल है और यह चाल अंतर्राष्ट्रीय पूँजीवादी व्यवस्था की हकीकत है कि वे दुश्मन को निशस्त्र करने के लिए इस तरह के हथकंडे अपनाते हैं। असल में तो सरकार किसान और कृषि विरोधी ही है। जब मकईराम कहते हैं कि इतने दिन तो आप 'किसान आत्महत्या योजना' के समर्थन में रैलियां कर रहे थे और मुझे न्याय दिलाने की बात कर रहे थे फिर अचानक से क्या हो गया ? अब इस योजना जनविरोधी और प्रतिक्रियावादी बताने लगे ? लेफ्ट नेता माथाफेर मकईराम को समझाते हैं कि "दया और दान के कुछ टुकड़े डालकर ये लोग असली मुद्दों पर परदा डालना चाहते हैं। ये लोग हमारी ताकत छिनकर हमारा संघर्ष हथियाना चाहते हैं। यह बहुत पुराना तरीका है दुश्मन को बेताकत करने का।...तब बात और थी, अब चुनाव है। हम असली योजना का समर्थन जरूर करते हैं पर यह छद्म योजना है। योजना का मजाक है।...हमारा संघर्ष क्या एक चैक तक सीमित है ?"[16] किसानों के प्रति यह भाव रखती है भारतीय राजनीति। हाँ, सत्ताधारी दल एक राजनीति के तहत ही ऐसी योजना लाता है। उनको किसानों की आत्महत्या और पानी की समस्या से कोई मतलब नहीं हैं। मुख्यमंत्री ने कहीं भी अपने भाषण में पानी की समस्या का जिक्र नहीं किया। बौरवेल माफियाओं का जिक्र नहीं किया। उन्होंने नहीं कहा कि धरती से पानी सूखने का कारण अनियमित दोहन है और प्राकृतिक स्रोतों को पुनर्जीवित किए बिना इसका समाधान

नहीं हो सकता; लेकिन सबसे बुरा पक्ष यह है कि जो पार्टियाँ मार्क्सवादी विचार लेकर संघर्ष करती है वे भी चुनावी दलदल के चलते अपने वास्तविक मूल्यों से कोसों दूर जा चुकी है। मकईराम को समझ नहीं आता कि वह अब तक 19 हलफनामे दे चुका तब तक किसी ने कोई रूचि नहीं दिखाई और अचानक से सबको क्या हो गया ? हर बार तहसील का चपरासी तक रिश्वत माँगता था। अब कलेक्टर से लेकर मुख्यमंत्री तक सबको उसके पिता की मौत में रूचि हो गई है - "...अब विचित्र परिस्थिति है। बापू की मृत्यु के कारण वह जैसे बार - बार चुनाव के अखाड़े में अनचाहे खींचे जा रहा है। हाल की कितनी घटनाएँ - कलेक्टर गाँव गए, उसके घर गए, फिर मुख्यमंत्री का कार्यक्रम, उसकी अर्जी मंजूर की...और अब माथाफेर मिश्र का घिनौना प्रस्ताव और फिर धमकी - यह सब क्यों और कैसे हो रहा है ? क्या सचमुच बापू का हादसा इतनी बड़ी घटना थी ? बापू के बाद गाँव में कितनी बड़ी उथल - पुथल हो गयी। क्या राजनीति के यही मायने होते हैं ? वह सोचता था राजनीति का उसकी निजी जिंदगी से कोई वास्ता नहीं। आखिर एक बिजली साज का क्या लेना देना - चुनाव से, पार्टी से, राजनेता से और सरकारी प्रपंच से ? पर क्या उसका ऐसा सोचना सही था ? यह सोचता हुआ मकई किसी नतीजे पर नहीं पहुँच पाता था। तब उसे हलफनामों की याद आ जाती। आखिर यह पेचीदगी, यह भ्रमजाल हलफनामों के लिखने के साथ ही शुरू हुआ था।"[17] जो सरकारी कार्यालय आज मकईराम को एक सरकारी मेहमान की तरह सम्मानित कर रहे हैं उसी की एक हकीकत यह भी उपन्यास में दिखाई गई है कि उसी दफ्तर में एक बुढ़िया पिछले 11 साल से रोज आती है और अर्जी देकर जाती है कि उसके गाँव की आंगनबाड़ी के सेविका के पद से गलत तरीके से हटा दिया गया है। उसका हठ था कि उसे फिर से वह सरकारी नौकरी दी जाए। ग्यारह सालों में वह बुढ़िया और उसकी अर्जी एक बार भी कलेक्टर तक नहीं पहुँच पाई।

गाँव में भोले - भाले किसान नेताओं को ही सर्वोपरि मानते हैं क्योंकि उनका मानना होता है कि पुलिस, पटवारी और तहसील जैसे महकमें इन नेताओं के कहें

अनुसार ही कार्य करते हैं। और यह सच भी है कि गाँव का सरपंच जब तक थानेदार को अपनी सहमती न दे दे तब तक रिपोर्ट तक नहीं लिखी जाती। पटवारी प्रधान की सहमती से झूठे पट्टे बना सकता है। एक रसूखदार नेता के कहने से विरोध करने वाले पर झूठे मुकदमें डलवाए जा सकते हैं या मरवाया जा सकता है। 'कालीचाट' उपन्यास में ऐसी ही एक घटना का उल्लेख आता है जिसमें गाँव का जमींदार गाँव की ही एक महिला का बलात्कार करने का प्रयास करता है। पुलिस उस पर मुकदमा लगाने के बजाय महिला के पति को ही गिरफ्तार कर लेती है। गाँवों की राजनीति में इज्जत बहुत बड़ी चीज होती है जिसके लिए व्यक्ति कितना भी झुक सकता है। गाँव का सरपंच जब इस घटना में शामिल होता है तो महिला के साथ खड़ा होने के बजाय उसके पति को छुड़ाने के लिए थानेदार को रिश्वत दिला देता है। रिश्वत का पैसा भी वह अपने जानकार सेठ से कर्ज के रूप में दिला देता है और तीन हजार थानेदार को देकर दो हजार अपनी जेब में रख लेता है। ऐसी घटनाएँ गाँवों में सामान्य घटनाओं की तरह प्रतिदिन घटती है और आर्थिक रूप से पिछड़े क्षेत्रों में तो इनका पता तक नहीं चलता कि अंदरखाने में कितना शोषण और भ्रष्टाचार है। भारत में स्थानीय राजनीति की यही हकीकत है वरना तो पंचायती राज और लोकतंत्र के नाम पर कितने भी ढोल पीते जा सकते हैं। भ्रष्टाचार तो जैसे प्रशासनिक संस्थाओं में अनिवार्यता ही हो।

'कालीचाट' उपन्यास का युनुस जमीन का खसरा बी वन निकलवाने के लिए पटवारी के पास जाता है तो वह 200 रूपये की रिश्वत माँग लेता है लेकिन युनुस इस बात से अनजान है कि यह दौ सौ रिश्वत है। पटवारी ने कहा कि यह तो फीस है और रूपये लेने के बाद भी उसको चार चक्कर लगाने पड़ेंगे। सरकारी कर्मचारियों का लहजा और काम करने का तरीका गाँवों में बहुत ही निकृष्ट और असंस्थानिक है जिसके शिकार अनपढ़ किसान होते हैं। पटवारी युनुस पर जैसे अहसान जता रहा हो और युनुस जैसे उसी की दया पर निर्भर हो। लेखक ने दोनों के बीच के संवाद से यह साबित करने की कोशिश की है कि सरकारी व्यवस्थाएँ जनता को आज भी गुलाम ही समझती

हैं और एक जनता के तौर पर उन्हें उचित सम्मान देना तो दूर की बात, योग्य भी नहीं समझती। युनुस कहता है कि लोन पास हो जाएगा तब वह दौ सौ रूपये दे जाएगा तो पटवारी बिदक जाता है - "घर की खेती थोड़ी है। सरकारी काम है। सरकारी काम सिस्टम से होता है। अधिकारी के दस्तखत के बिना एक - छोटा सा कागज भी आगे नहीं बढ़ता और अफसर फोकट में दस्तखत थोड़ी करता है। घोड़े की सवारी करणी हो तो पहले उसके सामने हरा चारा भी डालना पड़ता है। अफसर को भी पहले पैसे देने पड़ते हैं तब वो कागज पर अपनी चिड़ियाँ बिठाता है। मेरे हिस्से के पैसे भले बाद में दे देना। पैसे नहीं हो तो प्याज, कपास, ज्वर, सब्जी, भाजी जो ले आना।"[18] सरकार समय - समय पर किसानों के लिए सरकारी योजनाएँ घोषित करती रहती है लेकिन उनकी हकीकत किसी से छुपी नहीं है।

सरकारी योजना के तहत युनुस को मुर्गी पालन का व्यवसाय करने के लिए चूजे मिलते हैं लेकिन उसको पालने का तरीका नहीं बताया जाता। "मूर्गी पालने वाले विभाग से अफसर आए। उनकी फाइलों में पाँच सौ रूपये में सौ चूजे और दाना देने की योजना थी और लाभ का ऐसा गणित कि सुनने वाले को लगे कि सरकार की यह योजना वह मजबूत सीढ़ी है जो किसी को भी गरीबी के अंधे कुएँ से बहर निकाल सकती है।"[19] युनुस ने पत्नी के झुमके बेचे और पैसे जमा करा दिए। भीमा बा से जमीन छुड़ाने के सपने, अपनी बेटी यासमीन की शादी के सपने और सारी परेशानियों के एक झटके में खत्म हो जाने के सपने देखते हुए वह गणित लगाता है डेढ़ से दो महीने बाद एक चूजा सौ रूपये का बिका तो सौ चूजे दस हजार के...अगले दो माह में पचास हजार के और अगले छ महीने...लेकिन ऐसा नहीं हुआ क्योंकि युनुस जानता ही नहीं कि चूजों का पालन कैसे किया जाता। युनुस अपना दुःख सुनाता है - "भैय्या, मैंने पेलां कदी मुर्गी पाली न थी। मुझे ज्ञान भी नहीं था कि उनके बच्चे कैसे रखने हैं। उनको क्या खिलाना है। अफसर ने भी यह बात नहीं बताई और आधी रात को चूजा दरवाजे छोड़ के चले गए। अब मैंने अपनी समझ से उनको पिंजरे में रख दिया। और रखता भी कहाँ?

बाहर रखता तो बिल्ली चट कर जाती। फिर सवेरे कल्लू की मम्मी ने पिंजरा अखोला तो चिल्लाई। मैं दौड़ के भीतर गया तो देखता हूँ कि सब बच्चा एक के ऊपर एक चढ़े हुए हैं। सबकी गर्दन लटकी हुई थी। रात में पिंजरें में रखते समय सब के सब फुदक रहे थे। बच्चें, कल्लू की अम्मी सबको रोना आया लेकिन क्या करते सबको गड्ढा खोडके दफना दिया।...उसके दो दिन बाद शाम के समय एक आदमी सरकारी जीप में पच्चीस - पच्चीस किलों की दो बोरी उतार कर रख गया। मैंने पूचा कि इसमें क्या। तो बोला कि मुर्गियों का दाना है। मैंने कहा पहले दान लाना था, फिर मुर्गी। तुमने तो उलटा कर दिया। उसने कहा कि हम क्या कर सकते हैं अफसर ने कहा कि मुर्गी भिजवाओ तो हमने भिजवायी, अफसर ने कह दाने भिजवाओं तो भिजवाएँ।"[20] यह सब भारतीय राजनीति की देन हैं जहाँ चुनावों के समय नेता वोट का गणित बिठाते हैं तब साड़ी अव्यवस्थाओं को दूर करने के वादे करते हैं लेकिन उसके बाद वह हमेशा के लिए विस्मृत हो जाता है।

सरकारी योजनाएँ आँख बंदकर तीर चलाने जैसे होती है। कभी लग जाता है, कभी नहीं लगता और कभी कभार ऐसी जगह लगता है कि विनाश ला देता है। 80 के दशक में उड़ीसा में दूध उत्पादन की मात्रा बढ़ाने के लिए गायों में जर्सी शुक्राणु से कृत्रिम गर्भाधान का उपाय निकाला गया। पी. साईनाथ अपनी रिपोर्ट में लिखते हैं कि 2 करोड़ उस योजना पर खर्च हुए और नतीजा यह निकला कि दो साल में मात्र 8 बछड़े पैदा हुए और दूध अतिरिक्त की जगह पहले से ही कम हो गया। गाँव के लोगों को गाये दी गई कि इनका कृत्रिम गर्भाधान करवाया जाए और अधिक दूध प्राप्त होगा। इस प्रकार गायों की संख्या बढती जाएगी लेकिन उसके लिए यहाँ स्थानीय सांडों से उनको बचाकर रखना होगा। सरकारी अफसरों ने इस काम को अंजाम देने के लिए सारे देशी नस्ल के सांडों का बधियाकरण करवा दिया। वे जर्सी गाये उस तपती धूप को सहन नहीं कर पायी और एक बार में ही सबकी सब मरने लगी। सरकार ने उसी योजना के साथ सुबालुल के पेड़ लगाने की योजना भी चलाई कि जो भी सरकारी जमीन पर पेड़

लगाएगा उसको मजदूरी भी दी जाएगी। दरअसल वे पेड़ गायों का दूध बढ़ाने वाले थे लेकिन किसानों की इसमें कोई रूचि नहीं थी। “यह परियोजना भी उन अनेक परियोजनाओं में से एक थी जिससे इस इलाके में विनाश हुआ। जिसको लक्ष्य के रूप में चिह्नित किया गया उनसे किसी भी तरह का सलाह मशविरा नहीं किया गया। यहाँ दुग्ध परियोजनाओं की कोई माँग ही नहीं थी। अधिकारियों को यह महसूस ही नहीं हो सका कि लोगों की दिलचस्पी सुबालुल के पेड़ों में नहीं बल्कि रोजगार पाने में थी।...किसी ने यह नहीं पूछा कि जिस जिले में अतिरिक्त मात्रा में दूध का उत्पादन हो रहा हो वहाँ दूध परियोजना की जरूरत ही क्या है ? और यह बात तो किसी के दिमाग में आई ही नहीं कि खरियार सांड कहाँ गायब हो गए ?”[21] यह बात अस्सी के दशक की है लेकिन ‘फाँस’ उपन्यास में संजीव विदर्भ में घटी ऐसी ही एक घटना का जिक्र करते हैं। सरकार विदर्भ के किसानों को गरीबी से उबारने के लिए बीस - बीस हजार में एक गाय देती है जो कि 20 लीटर तक दूध दे सकती है। लोगों ने खरीदी लेकिन विदर्भ का तापमान वे गायें नहीं झेल सकीं और धीरे - धीरे मरने लगी। उनको विदर्भ में रखने के लिए कूलर चाहिए, केल्शियम न दो तो वे घुटने टेक देगी, हरा चारा चाहिए। अब विदर्भ क्षेत्र में यह सब कहाँ आए ? अधिकांश गायें मारी गई और जो बच गई वह अमीर लोगों ने 5 5 हजार में खरीद ली और जिन्होंने 20 हजार कर्जा लेकर योजना के तहत गाय ली थी उन्होंने आत्महत्या कर ली।

राजनीतिक असंवेदनशीलता केवल राजनेताओं और प्रशासनिक ढाँचे तक सीमित नहीं है बल्कि अख़बार और मीडिया भी उसी बाजारवादी सोच का हिस्सा है। सम्पूर्ण विदर्भ जब जीएम फसलों के ट्रायल के कारण बर्बाद हो रहा था और किसानों ने थोक के भाव आत्महत्या करना शुरू कर दी थी लेकिन किसी बड़े अखबार और मीडिया हाउस ने उन खबरों को कवरेज नहीं दिया। पी. साईनाथ अपनी डाक्युमेंट्री ‘नीरोज गेस्ट’ में दिखाते हैं कि “2002 के बाद विदर्भ के हर जिले में प्रतिदिन 2 किसान आत्महत्या कर रहे थे। एक ही परिवार में क्रम से तीन आत्महत्याएँ। पिता की

कमीज पहने बेटा पंक्ति में है। उदास पत्नी। पति के बाद शायद उसकी बारी है।...किसान की आत्महत्या कोई खबर नहीं बन पाती। मीडिया की हजार - हजार आत्महत्याएँ कोई खबर नहीं बन पाती। खबर बनती है मुम्बई में चल रहे लक्मे फैशन वीक की प्रतियोगिता। 512 खबरिया चैनल जुटे हैं उसे कवर करने को। मात्र 512...!"[22] इसी डाक्युमेंट्री में पी. साईनाथ दिखाते हैं कि जिस किसान ने आत्महत्या की थी वह एक कवि था। उसकी मौत के बाद उसकी बेटियों को साफ़ सफाई के दौरान कुछ टुडे मुड़े कागज मिलते हैं जिसमें एक कविता लिखी हुई थी या वह सुसाइड नोट था –

"अलग हूँ मैं

इसलिए स्वाभाविक है मेरी जिंदगी

मेरी मौत चकित कर देगी तुम्हें

बेमौसम बारिश की तरह

कविता का चहेता मेरा अस्तित्व

कापूस की फसल की तरह है

इसकी जड़ों में है मिठास

जैसे मिठास होती है 'ऊस' के तने में

मेरी मौत को कहेंगे ये,

पागल है

कैसे झूल रहा है

जैसे झूलता है दरवाजें के फ्रेम में कृष्ण"[23]

दीपा भाटिया और पी. साईनाथ ने इस चलचित्र में किसान आत्महत्याओं के प्रति खबरिया संस्थानों की संवेदनहीनता और भारतीय राजनीति के असली चेहरे को उजागर करने का प्रयास किया है। वे कहते हैं कि एक भी अखबार या कोई संस्था नहीं है जो पूरे तरीके से किसानों की गरीबी को दिखाती हो।†

राजनीतिक असंवेदनशीलता और किसानों की दुर्दशा के लिए जिम्मेदार पूँजीपतियों की मिलीभगत का एक उदाहरण 'यह गाँव बिकाऊ है' उपन्यास में सांसद हुकुम सिंह द्वारा मीडिया को नगला गाँव के संदर्भ में दिए गए उदाहरण से समझ आता है। पत्रकार जब नंगला गाँव के लोगों द्वारा किए जा रहे आन्दोलन के सम्बन्ध में पूछता है कि गाँव के किसान अपनी किडनी बेच रहे हैं क्योंकि अब उनके सामने जीने जैसी स्थितियाँ नहीं रही। सांसद ने सीधे ही जबाव दे दिया कि 'इस गाँव के लोगों ने मुझे वोट नहीं दिया तो मैं उनकी बात क्यों सुनूँ ? अब चाहे वे कुछ भी करें।' भारतीय राजनेताओं के पास न तो कोई विजन है और न ही जनता के मुद्दों की समझ। उसी का नतीजा है कि नंगला गाँव न केवल खेती के कारण बर्बाद हो रहा बल्कि खेतों को हडप कर वहाँ रासायनिक संयंत्र स्थापित कर दिए हैं जिसके कारण गंभीर बीमारियाँ पैदा हो रही है। गाँव के किसानों की तरफ से अघोघ और उसके संगठन के लोग अखबार में अपनी माँगे छपवाते हैं जिसमें वे सारा आरोप कम्पनियों और नेताओं पर लगाते हैं - "हम नंगला गाँव के किसान अपने कटु अनुभवों से जानते हैं कि सरकार हमारी माँगे

† Over the past 10 years, more than 200,000 farmers in India have committed suicide. This drama has had a huge impact on the rural community, but the matter is not being taken up by the authorities or the media. Journalist P. Sainath makes it his business to increase awareness of the fate of the victims (both the farmers and their families) by publishing their stories in the daily newspaper. This is unusual, because "Not a single newspaper in this country has a correspondent working full time on poverty." In other words, in the eyes of the Indian elite, 70% of the Indian population is not newsworthy. Such overwhelming poverty is apparently too confronting for the readership. "Is it a sin to be a farmer?" asks one destitute man in desperation. Sainath uses the suicides to address the issue of the huge wealth disparity in India. Filmmaker Deepa Bhaita follows him from indigent farming families to well-attended lectures. Between times, Sainath speaks directly to the camera in this fluidly edited documentary (director Bhatia is also a Bollywood film editor). The driven and well-informed journalist repeatedly exposes the distressing lack of social justice in India and the hypocrisy of neoliberalism. He paraphrases Tacitus for his somewhat apathetic highly-educated audience: Nero burned prisoners to provide light at night. His guests stood alongside and watched.

पूरा नहीं करेगी। क्योंकि उन्हें पूरा करना होता तो वो पहले ही कर लेती। जिस सेम नाले से गंदा पानी आ रहा है, उसमें गिरने वाला जहरीला पदार्थ सांसद के सबसे करीबी दयाल सिंह पूँजीपति का है। जिन कम्पनियों का खाद, बीज और कीटनाशक प्रयोग किया है, उन्हें भारत सरकार ने ही किसानों को बर्बाद करने की अनुमति दी है। देशी - विदेशी पूंजीपतियों से सरकार की सांठ गाँठ किसी से छुपी हुई नहीं है। फिर भी हम देश के लोगों को बताना चाहते हैं कि नंगला गाँव जो बर्बाद हुआ है, वो बाढ़ सूखा और प्राकृतिक कारण से नहीं बल्कि मुनाफे की भूख के कारण हुआ है। जिसका जिम्मेदार कोई और नहीं, यहाँ का नेता हुकुम सिंह, उसके साथी पूँजीपति दयाल सिंह है और यह सरकार, वो सरकार है, जो देशी विदेशी पूँजीपतियों की दलाली कर रही है।"[24] नंगला गाँव के लोगों की जितनी माँगे थी, उनमें से अधिकांश राजनीतिक इच्छाशक्ति के दम पर हल हो सकती थी; लेकिन भारतीय राजनीति और पूँजीपति हमेशा मिलकर काम करते हैं। फसल की सरकारी खरीद, फेक्टरियों से निकले जहरीले पानी का प्रबन्धन. किसानों को दी जाने वाली सब्सिडी, बैंकों से दिए जाने वाले ऋण की ब्याज दरें और सूदखोरों से मुक्ति जैसे उपाय सरकारी और राजनीतिक इच्छा शक्ति के चलते हो सकते हैं। पंजाब जैसे क्षेत्र की जमीन और पानी इतना जहरीला हो गया है कि आधी से ज्यादा जनसंख्या कैंसर से ग्रसित है और उसी का परिणाम है कि एक ट्रेन का नाम ही 'कैंसर ट्रेन' पड़ गया। द वायर ने अपनी एक रिपोर्ट में लिखा है कि 'भारत सरकार द्वारा 'हरित क्रांति' की शुरुआत की गई थी और उसका परिणाम आज हमारे सामने है। अत्यधिक कीटनाशक और रासायनिक खादों के कारण लाखों लोग कैंसर से ग्रस्त हो गए। बठिंडा से बीकानेर जाने वाली ट्रेन का नाम ही कैंसर ट्रेन पड़ गया ।'[25]

निष्कर्षत: उपन्यासों जिस राजनीतिक असंवेदनशीलता और प्रशासनिक ज्यादतियों का उल्लेख हुआ है वे सब किसानों के जीवन से सीधे तौर पर जुडी हुई है। लेखक अंत में इसी दिशा में पाठको को ले जाना चाहते हैं कि जब तक राजनीति किसनों के प्रति ईमानदार और संवेदनशील नहीं होगी तब तक न तो खेती की दशा

सुधरने वाली है और न ही खत्म होती किसानी को बचाया जा सकता है। किसानी एक जीवन शैली है जो राजनीति अनिच्छा की शिकार होने के कारण आजादी के 75 साल बीत जाने के बाद भी मुख्यधारा का हिस्सा नहीं बन पायी।

5.4 **किसान आन्दोलन**

भारत में किसान आंदोलनों का एक लंबा इतिहास रहा है और उन पर लिखा भी खूब गया है। हमारे सामने सहजानद सरस्वती जैसे विद्वान किसान आन्दोलनकारियों की एक लंबी परम्परा है जो 21 वीं सदी में भी बरकरार है। स्वामी सहजानद सरस्वती का कहना था कि किसानों की लड़ाई आजादी की लड़ाई से अलग नहीं है; लेकिन फिर भी एक स्वतंत्र संगठन हो जो केवल किसानों के लिए ही कार्य करें। राजनीतिक रूप से अगर किसी भी समुदाय को शक्ति अर्जित करनी ही या फिर उसे अपनी माँगे मनवानी हो तो अब तक का सबसे विश्वसनीय और अनिवार्य हथियार यही है कि लड़ाई व्यक्तिगत न होकर सामूहिक होनी चाहिए। किसान आन्दोलन भी उसी सामूहिक राजनीतिक लड़ाई का ही एक विकल्प है। किसान आन्दोलन का एक रूप वह होता है जिसमें किसी क़ानूनी मसले या समस्या को लेकर कुछ दिनों के लिए आन्दोलन किया जाता है और अपनी माँगे मनवाने का प्रयास किया जाता है तथा दूसरा रूप एक सतत् और लम्बी प्रक्रिया होती है जिसमें व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह लंबे समय तक संघर्षरत रहता है। हिंदी उपन्यासों में दूसरा रूप ही मुख्यत: आया है।

संजीव ने अपने उपन्यास ‘फाँस’ में आत्महत्याओं से पीड़ित परिवारों के सदस्यों द्वारा किसानों को जागृत करने और किसान आत्महत्या के कारणों पर तकनीकी रूप से एक आन्दोलन संचालित करने वाले समूह का वर्णन किया है। किसान शिबू की आत्महत्या के बाद उसकी पत्नी शकुन हमेशा के लिए घर छोड़कर किसानों के लिए कार्य करने लग जाती है। शकुन की बेटी कलावती भी अपने पति का घर छोड़कर हमेशा के लिए किसान आत्महत्याओं के कारणों की खोज में लग जाती है। वही

विजयेन्द्र जो कि अमरीका जाकर अपनी थीसिस पूरी करना चाहता था, अपने पिता की आत्महत्या के बाद विदर्भ क्षेत्र में ही शोध कार्य करने लगता है। 'फाँस' उपन्यास में शकुन किसानों के लिए दुश्मन की तरह आसपास रहने वाली शराब की फेक्टरियों और दुकानों के खिलाफ आन्दोलन छेडती है तो विजयेन्द्र सेमीनार, शोध, मिट्टी की जाँच, जमीन में पानी की उपलब्धता, डाक्युमेंट्री के माध्यम से किसानों में जागरूकता फैलाने जैसे कार्य करता है। कलावती जैसी पढ़ी हुई लड़की जिसके ससुराल वाले उसको इसलिए घर से निकाल देते हैं क्योंकि वह गाँव में बिजली लाने का प्रयास करती है, वह भी विजयेन्द्र के साथ लगकर कार्य करती है। वे मंथन नामक एक संस्था बनाते हैं और विदर्भ के समझदार किसानों की साथ लेकर किसानों को आत्महत्याओं और व्यापारिक खेती के चुंगल से निकालने का प्रयत्न करते नजर आते हैं।

साहित्यिक दृष्टि से मंथन संस्था की गतिविधियों का वर्णन बोझिल सा लग सकता है; लेकिन किसान साहित्य में केवल रोमानी कलावाद से काम नहीं चलता। जब तक उपन्यासों द्वारा वे सारे मुद्दे उठाये ही नहीं जाएँगे तब तक संभव ही नहीं है कि साहित्य की कोई भी विधा के केंद्र में विदर्भ जैसे प्रदेश की आत्महत्याएँ रूक सकती है। उपन्यास में शोधकर्ता नीलेश अपनी प्रजेंटेशन में किसानों को समझाता है कि पहले मिट्टी की जाँच करवाओं और फिर उस क्षेत्र के भौगोलिक वातावरण के हिसाब से फसलें लगाओं - "यह रही लेटेराईट मिट्टी, काली मिट्टी...इसमें सिलिका, एल्यूमिना, चूना, मैग्नेशियम आक्साइड मुख्य है, स्थानीय बोली में मोरांड, रैताड, पांढरी आदि नामों से जानी जाती है। जिलों में अधिसंख्य भाग पर्वतीय है, बाकी धीमी ढलान वाली प्राय: समतल पॉजिटिव और निगेटिव हाइड्रोजन आयनों वाली ये मिट्टी खेती के लिए लाभदायक है। पर्वतों के पास रेती, रेगुर, चिकन, कन्हार, रेत, चूना, मोरांड, लाल बजरी...माटी ऐसी है कि पानी पड़ा और उसने अपनी साथ में ऐसे पी लिया जैसे पापों को छिपा लेते हैं रिश्तेदार...!"[26] शोध और उसके हिसाब से खेती सिखाने का यही जरिया है इन लोगों के पास। वे उन्हें उस धरती पर हुए महपुरुषों के उदाहरणों के

माध्यम से अपनी मिट्टी पर गर्व का अहसास दिलाते हैं। कुल मिलाकर वे उन्हें जैविक खेती की ओर लाने का प्रयास करते अहिं क्योंकि कीटनाशकों और जीएम बीजों के कारण उनके खेत बर्बाद हुए हैं - “डिस्पैरिटी मिटाओं, बीज बादलों, खाद बदलों, पशुधन जोड़ों, कम्पोस्ट लाओं, कीटनाशक बादलों, जो जहर फ़ैला रहा है माटी पानी खून में आदमी बदलों, आदमी! बाजार को अपने कब्जें में करो, को - ऑपरेटिव जोड़ों, कर्ज बंद करो, दारू बंद करो, फिजूलखर्ची बंद करो...!”[27] वे सरकारों द्वारा किए गए वादों को याद दिलाने के लिए जुलूस निकालने जैसे उपक्रम भी करते हैं। संजीव 2009 की एक घटना का जिक्र करते हैं - “यवतमाल का जालका गाँव, जहाँ कलावती रहती है, कलावती वन्दुरकर! एक कृषक विधवा, जिसके पति ने 2005 में आत्महत्या की थी। सन् 2009 में राहुल गाँधी उसके घर गए। थोड़ी बहुत मदद की। संसद में जिक्र किया। चर्चा में आयी। सुलभ अंतर्राष्ट्रीय संस्था निदेशक विन्देश्वर पाठक ने भी देखा देखी मदद की। फिर सब भूल गए। भूल गए कि इस अभागे देश में लाखोंकलावतियाँ विधवा हो चुकी है। लेकिन हम नहीं भूले। जल्द ही विधवा जुलूस निकालेंगे नागपुर में।”[28] उपन्यासकार आन्दोलनकारी नहीं होता इसलिए वह भावनाओं को प्रकट करे के लिए कला का ही सहारा ले सकता है। जिस कलावती का जिक्र उपन्यास के पात्र के रूप में हुआ है और असली जिंदगी की कलावती जो है, दोनों में कोई अंतर नहीं है। अपने पिता की मौत और अपने भरे पूरे परिवार को उजड़ते हुए देखने वाली कलावती किसानों में फिर से जोश भरने और प्रेरणा दें के लिए किसान सभा में जीवनानंद दास की एक कविता का पाठ करती है जो अपने पिता शिबू और उसनका प्रिय बैल लालू की भावनाओं का ज्वर व्यक्त करती है –

“फिर आऊंगा लौटकर

धान सीढ़ी नदी के तीर

इस देश में। हो सकता है

मनुष्य नहीं, शंख चील या शालिख

मैना के भेष में।

या बन जाऊं भौर का कागा

कार्तिक के नवान्न के उस देश में।

एक दिन कुहासे के सीने को भेदकर

बहता हुआ आऊँ

इन कटहलों की छाँव में।

शायद बन जाऊँ पालतू बतख

किशोरियों के बँधे घुंघरू

होंगे लाल पाँव में...!"[29]

बड़ी सभाओं और सड़कों पर ही आन्दोलन नहीं होते बल्कि छोटी - छोटी कोशिशे भी किसान आदोलन का ही हिस्सा होती है। ये प्रयास यथार्थ और धरातलीय होते हैं। किसान की जिंदगी से सीधे हदे हुए जिसमें किसान स्वयं भी उसी का हिस्सा होते हैं।

'यह गाँव बिकाऊ है' के लेखक एम. एम. चंद्रा किसानों की समस्याओं को हल करने का अंतिम उपाय किसान संगठन बनाकर लड़ने को मानते हैं। उपन्यास के कथानक के हिसाब से यह गलत भी नही लगता क्योंकि उसमें किसान से मजदूर और पुन: किसान बनने की कोशिशों में लगे हुए नयी पीढ़ी के लडके हैं जो पुन: खेती की ओर लौटना चाहते हैं। उनको यही अंतिम उपाय लगता है कि कैसे भी करके किसानों को कर्जे के चुंगल से निकाला जाए और सरकारों से लड़ने के लिए संगठित रूप से लड़ा

जाए। उपन्यास के पात्र अघोघ, सलीम और फतह स्वामी सहजानन्द सरस्वती वाले मार्ग के अनुयायी हैं। वे किसान समाज के भेद को समझते हैं कि किसानों में कई वर्ग हैं। कुछ अमीर किसान हैं तो कुछ बेहद ही गरीब। कुछ केवल खेतीहर मजदूर ही हैं। वे नेता के माध्यम से यह लड़ाई सही और सक्रिय ढंग से लड़ने में विश्वास रखते हैं और किसानों के बीच से ही किसी को नेता बनाना चाहते हैं ताकि वह किसानों की समस्याओं और मुद्दों की समझ रखता हो और आन्दोलन को बेच न दें।

उपन्यासकार एम. एम. चंद्रा का यह विचार शायद भारत में वाम पार्टियों के किसान आंदोलनों को देखकर आया होगा क्योंकि अनेक आन्दोलन ऐसे होते हैं जिनमें किसानों का नेतृत्व नहीं होता। उनका नेता किसान जीवन से सम्बन्ध रखने वाला नहीं होने के कारण आन्दोलन जल्दी ही खत्म हो जाता है। उपन्यास में राजेश अपने संगठन के लोगों को सलाह देता है कि "अपने गाँव सहित, आसपास के गाँवों की समस्या लगातार बढ़ रही है। किसान अपनी समस्या लेकर छुटभैया नेता के यहाँ जा रहे हैं। वे नेता किसानों को एक समूह में अपने आका के दरबार में हाजिरी लगवा रहे हैं। वे अपना कद बढाने के लिए किसानों का प्रयोग कर रहे हैं। किसानों को तरह – तरह से ठगा जा रहा है। कभी उसे नेता ठग रहे हैं, कभी सरकार। हमें किसानों की बुनियादी समस्याओं को लेकर आन्दोलन चलाने का प्रयास करना चाहिए क्योंकि किसान रिजल्ट चाहते हैं और किसान पंचायते करने से उन्हें रिजल्ट नहीं मिलेगा।...ऐसे आन्दोलन जो बिना तैयारी के किए जाते हैं, पद्लोलुप और अवसरवादी नेता, ऐसे आंदोलनों का स्वाद चखते हैं और किसान दर - दर की ठोकरें खाने को मजबूर होते हैं। इसलिए सबसे पहले किसान सभा के सांगठनिक ढाँचे को मजबूत किया जाना चाहिए।"[30] लेखक किसान आन्दोलन की के ढाँचे और नेताओं के मतभेदों के चलते मिलने वाली असफलताओं को उपन्यास के अंत में दिखाते हैं जिसमें राजेश सीधा चुनाव लड़ने पर उतर आता है तो कुक्कू जैसा किसान नेता अभी भी किसानों को संगठित और शिक्षित करने में ही लगा होता है। राजेश द्वारा किसान सभा की मीटिंग में कहीं गई अंतिम

बात स्वामी सहजानद सरस्वती की वह बात याद दिलाती है कि आजादी की लड़ाई और किसानों की लड़ाई अलग नहीं है लेकिन स्वतंत्र किसान संगठन होना जरूरी है। “राजेश इस मत का समर्थक था कि किसान सभा को, होने वाली सभी राजनैतिक कार्यवाहियों में शामिल होना चाहिए और चुनाव भी लड़ना चाहिए। चुनाव हमारा संवैधानिक अधिकार है। जो अधिकार हमें आजादी में लड़कर मिले हैं, उन्हें छोड़ा नहीं जा सकता। चुनाव के तरीके से भी किसानों की लड़ाई लड़ी जा सकती है। उसके चुनाव लड़ने के प्रस्ताव को अघोघ ने ख़ारिज कर दिया। राजेश ने अपने को किसान सभा से अलग कर लिया। राजेश यही तक सीमित नहीं रहा, बल्कि उसने हँसिया हथौड़ा वाली पार्टी की सदस्यता भी ले ली।”[31] लेखक का यह निष्कर्ष किसान आन्दोलन पर लिख गई कहानी को एक राजनैतिक पार्टी के वैचारिक प्रोपेगेंडा से जोड़ देता है जिसके कारण उपन्यास का अंत साहित्यिक न रहकर राजनीतिक दस्तावेज सा लगने लग जाता है।

किसान संघर्ष का एक रूप हमें ‘हलफनामे’ उपन्यास में भी मिलता है जिसमें स्वामीराम अपनी ही पंचायत और लोगों से लड़ता हुआ दिखाई देता है; लेकिन वह पानी माफियाओं से लड़ता है। बौरवेल करवाने का विरोध करता है और सभी को समझाता भी है कि जब तक पानी के प्राकृतिक स्रोतों को जिन्दा नहीं करोगे तब तक धरती से पानी नहीं निकलेगा लेकिन उसका संघर्ष अकेले का ही रहा जाता है और अंत में हत्या का शिकार होता है। स्वामीप्रसाद की निष्ठा और उसके द्वारा गाँव के तलाबों और पानी के रास्तों का नक्षा बनाना और उसे पंचायत के सामने रखना चाहे कितना भी व्यकतिगत हो लेकिन उसका संघर्ष किसी आन्दोलन से कम नहीं है। लेखक राजू शर्मा ने शायद अपने जीवन में कहीं न कही ऐसा स्वामीप्रसाद देखा ही हो ?

निष्कर्षत: उपन्यासों में किसान आन्दोलन बड़े पैमाने पर नहीं आया हो; लेकिन देश भर में किसानों द्वारा अपनी जमीन और जड़ों को बचाने का संघर्ष जैसा चल रहा है उसकी महीन बारीकियों और प्रयासों को लेखकों ने पकड़ने का प्रयास किया है। हर

क्षेत्र की समस्याएँ अलग – अलग रूपों में हमारे सामने आती है और उसी के अनुसार संघर्ष का स्वरूप भी अलग ही नजर आता है। पंजाब जैसे क्षेत्र में संगठित किसान आन्दोलन संभव हैं क्योंकि वह अन्य भागों की तुलना में ज्यादा सम्पन्न हैं। विदर्भ का किसान गरीब है लेकिन वह इतना बर्बाद हो चुका है कि आत्मचेतना से स्वयं को बचाने के प्रयासों में जुटता हुआ दिखाई देता है।

निष्कर्ष

भूमंडलीय किसान राजनीति को विस्तार से हिंदी उपन्यास अभी बहुत अधिक मात्रा में दिखा नहीं पाए हैं लेकिन फिर भी 'फाँस' जैसे एक दो उपन्यास भी गुणात्मक रूप से उन स्थितियों को उजागर करने में सक्षम है जिनकी वजह से विदर्भ जैसा क्षेत्र आज भयंकर भूखमरी की चौखट पर खड़ा है। उपन्यास न केवल पूँजीपतियों की धन पिपासा के कारण पिसते किसान को दिखाता है; बल्कि लोकतान्त्रिक मूल्यों पर बनी सरकारों की विश्वसनीयता पर भी सवाल खड़े करता है।

उपन्यासों जिस राजनीतिक असंवेदनशीलता और प्रशासनिक ज्यादतियों का उल्लेख हुआ है वे सब किसानों के जीवन से सीधे तौर पर जुडी हुई है। लेखक अंत में इसी दिशा में पाठको को ले जाना चाहते हैं कि जब तक राजनीति किसनों के प्रति ईमानदार और संवेदनशील नहीं होगी तब तक न तो खेती की दशा सुधरने वाली है और न ही खत्म होती किसानी को बचाया जा सकता है। किसानी एक जीवन शैली है जो राजनीति अनिच्छा की शिकार होने के कारण आजादी के 75 साल बीत जाने के बाद भी मुख्यधारा का हिस्सा नहीं बन पायी।

हिंदी उपन्यास दुनिया में अभी भी किसान आंदोलनों को ही आधार बनाकर लिखे गए उपन्यासों का आभाव ही है लेकिन चयनित उपन्यासों में थोडा बहुत जिक्र आया है वह किसानों के संघर्ष और प्रयासों को महीनता से पकड़ने की कोशिश करते दिखते हैं। जिस क्षेत्र के किसान समृद्ध और बड़ी जोतों वाले हैं, वहाँ ज्यादा संगठित हैं

और किसान आंदोलनों की संख्या और सफलता भी दिखती है। वहीं जिस क्षेत्र के किसान गरीब और खेतीहर मजदूर हैं वे व्यक्तिगत प्रयासों के साथ छिट पुट आंदोलनों तक ही सीमित हैं।

संदर्भ

---

[1] रामैया नागराज, हताश किसान और उसकी प्रेतबाधा (लेख), भारत का भूमंडलीकरण, अभय कुमार दुबे (संपा.), वाणी प्रकाशन, 2003, पृ. 340

[2] ओमप्रकाश सुंडा, हिंदी कविता में अभिव्यक्त किसान चेतना : एक अध्ययन (1990 से 2020 के विशेष संदर्भ में) (शोध प्रबंध : 2023), हिंदी विभाग, राजस्थान केन्द्रीय विश्वविद्यालय, अजमेर, पृ. 153-4

[3] रामाज्ञा शशिधर, बुरे समय में नींद, अंतिका प्रकाशन, 2011, पृ. 16

[4] संजीव, फाँस, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015, पृ. 15

[5] वही, पृ. 37-8

[6] वही, पृ. 111

[7] वही, पृ. 190

[8] वही, 202-3

[9] वही, पृ. 202

[10] वही

[11] अटल तिवारी, तद्भव, किसान विशेषांक, अंक सितंबर, 2018, पृ. 39

[12] कर्मेंदु शिशिर, बहुत लंबी राह, यश पब्लिकेशन्स, 2015, पृ. 27

[13] वही, पृ. 223

[14] मिथिलेश्वर, तेरा संगी कोई नहीं, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, 2018 , पृ. 85

[15] राजू शर्मा, हलफनामे, सेतु प्रकाशन, 2025, पृ. 15-6

[16] वही, पृ. 314

[17] वही, पृ. 316-7

[18] सुनील चतुर्वेदी, कालीचाट, अंतिका प्रकाशन, 2015 पृ. 54-5

[19] वही, पृ.120

[20] वही, पृ. 121

[21] पी. साईनाथ, तीसरी फसल, तीसरी दुनिया, 2003, पृ. 6-7

[22] संजीव, फाँस, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015, पृ. 185

[23] वही

[24] एम.एस.चंद्रा, यह गाँव बिकाऊ है, डायमंड पाकेट बुक्स, 2019, पृ. 156-7

[25]https://thewire.in/health/punjabs-cancer-train-is-a-grim-reminder-of-the-role-of-agricultural-chemicals

[26] संजीव, फाँस, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015, पृ. 187

[27] वही, 188

[28] वही

[29] वही, पृ. 207

[30] एम एस चंद्रा, यह गाँव बिकाऊ है, डायमंड बुक्स, 2019, पृ. 116

[31] वही, पृ. 182

षष्ठ अध्याय

इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में किसान जीवन का सांस्कृतिक और धार्मिक परिदृश्य

प्रस्तावना

6.1 किसान संस्कृति और द्वंद्व

6.2 धार्मिक आस्था और अन्धविश्वास

निष्कर्ष

प्रस्तावना

मनुष्य आदिम समय से किसान के रूप में ही व्यवस्थित जीवन शैली की शुरुआत करता है। आदिम समुदायों में ही सबसे पहले ज्ञान निर्माण की प्रक्रियाएँ प्रारम्भ हुई जो आगे चलकर विकसित होती हुई हम तक आती है। मोटे तौर पर देखा जाए तो धार्मिक परम्पराओं से ही सांस्कृतिक परम्पराओं के निर्माण की चेतना दिखाई देगी; लेकिन असल में ऐसा नहीं है। प्राकृतिक और नैसर्गिक जीवन से ही सभ्यताओं का विकास हुआ और नियमबद्ध होकर वह धर्म और राज्य का रूप लेने लगती है। जंगल से निकलकर मनुष्य जब खेती की ओर उन्मुख होता है, उससे पूर्व ही उसकी सांस्कृतिक परम्पराएँ उसके साथ ही चली आती है। इसलिए आज भी बहुत सी किसान जातियों में प्राकृतिक न्याय का सिद्धांत चला आ रहा है। भाग्यवान होना भी उसी आदिम नैसिर्गिक चेतना का ही हिस्सा है। ऐसा कहना कि मनुष्य मात्र का प्रकृति के साथ सहज सम्बन्ध होता है और वह अंत में उसी का हिस्सा हो जाता है; लेकिन किसान का प्रकृति के साथ अनिवार्य सम्बन्ध है। वह कभी भी खत्म न होने वाला सम्बन्ध है। वह उसी से जुड़कर धर्म की ओर उन्मुख होता है और उसी के साथ तालमेल बिठाने के लिए रीति-रिवाजों का निर्माण करता है।

21 वीं सदी के हिंदी उपन्यासों में किसानों की संस्कृति और धर्म का यही भीरु और जकड़न भरा रूप हमें मिलता है। हालाँकि अभी सब कुछ समाप्त नहीं हुआ है। किसानी सभ्यता पर बहुत कुछ लिखा जाना बाकी है। विस्तृत क्षेत्र में बिखरा हुआ ज्ञान और परम्पराएँ जिनसे न केवल किसान ही लाभान्वित हो सकते; बल्कि वह शहरी संस्कृति की आपाधापी में अंधे होकर दौड़े जा रहे लालायित मनुष्य भी शांति का अनुभव कर सकते हैं; लेकिन हाँ ! इस दौर में भी किसान समाज में पत्नी का स्वरूप कुछ हद तक वैसा ही नज़र आता है जैसा गोदान में होरी और धनिया का था।

6.1 किसानी संस्कृति द्वंद्व

हिंदी उपन्यासों में द्वंद्व मूल रूप से दो पीढ़ियों की वैचारिक मतभेद के रूप में दिखाई पड़ता है। किसानी समाज के तेजी से बदलते जाने और उसमें एक पीढ़ी का अत्यंत पिछड़ापन तथा अगली पीढ़ी का तेज गति से आगे बढ़ते जाने और बाजारवादी सोच के नयी पीढ़ी पर हावी होते जाने की की कहानी उपन्यासों में दिखाई पड़ती है।

'बहुत लंबी राह' का पात्र उजागिर और विभूति दोनों पुरानी महाजनी परम्परा के हिसाब से चलने वाली सोच को छोड़कर आगे बढ़ जाना चाहते हैं; लेकिन विभूति का पिता महादेव महतो अब भी समझता है कि पुराने संस्कारों को छोड़ना ठीक नहीं है क्योंकि उससे गाँव और समाज में हमारी नाक कट जाएगी। महादेव महतों के लिए बड़े लोगों (जिनके पास जमीन का स्वामित्व है और सत्ता की ताकत है) की बात मानना और उसी के अनुसार चलना ही सही है। वह गोदान के होरी की तरह 'मरजाद' में विश्वास रखने वाला है। जबकि उसका पुत्र और गाँव का दूसरा युवा उजागिर 'मरजाद' जैसी अवधारणा को अमीर लोगों द्वारा लूटने का जरिया मात्र मानता है। महादेव महतो जिस महाजन के यहाँ वह वर्षों से कार्य करता आ रहा है वह उसी को निरंतर करते रहना चाहता है। महतो इस बात को जानता है कि विभूति ने तालाब से मछली मारकर कोई बहुत बड़ा पाप नहीं किया; लेकिन उसके पुराने संस्कार बार – बार लौटकर आते हैं और बताते हैं कि नहीं ! मालिक के खिलाफ जाना सही नहीं था। दूसरी तरफ खुद की वफादारी की मिसिर द्वारा इज्जत नहीं करने के कारण उसे रोष भी आता है।

लेखक उसकी मन:स्थिति को बयान करते हुए लिखते हैं – "माना कि विभूति ने गलत किया, उसने बहुत भारी गलती की। यह सब तो ठीक है लेकिन मालिक ने भी बात का बतंगड़ बना दिया। चार आने की बाछी वाली बात हुई। उसे तो जनम भर की गऊ हत्या लग गई। कहीं का नहीं छोड़ा। आखिर बचपन से ही घर में चरवाही की है।

लेकिन मालिक ने बेटे की बात को लेकर, पूरे गाँव के सामने बेपानी कर दिया। तनिक भी नहीं सोचा। महतो का कलेजा बुरी तरह एंठ रहा था। इतनी उम्र हुई किसी ने आज तक आधी जुबान भी नहीं कहीं थी। और ये हैं कि उसी के सामने जन्में, लरकाई में तो इनको अपनी गोद में भी खेलाया। आज वही है कि खुलेआम पानी उतार कर रख दिया।...वह अंदर ही अंदर घुट रहा था। उसने बार – बार करवट बदली। फिर भी अंदर की आँधी उन्हें बुरी तरह डोलाए हुए थी।...आज बुढवा मालिक होते तो पहले उसको अकेले में बुलाकर पूछते। और बात जान भी जाते, तब भी विभूतिया को डाँटने – फटकारने के लिए ही कहते। लेकिन वे इस तरह का अनेत हरगिज नहीं करते। मालिक ने यह अच्छा नहीं किया।"[1] वर्षो से जड़ जमाए संस्कारों से पीछा छुड़ाना मुश्किल होता है।

महादेव महतो अभी भी बुढवा मालिक यानी बूढ़े मिसिर को सही कह रहा है जबकि उसने भी महतो का शोषण ही किया था; लेकिन दूसरी तरफ विभूति उस गुलामी की चेतना से बाहर निकल गया है और उसे न तो मछली मारने का ही कोई पश्चाताप होता है और न ही मिसिर द्वारा जबरदस्ती महादेव महतो की खोल ले गई भैंस को चुराने का ही। वह इसको अपने अधिकारों की लड़ाई के हथियार मानता है। महादेव महतो की पत्नी और बालचन दोनों ही उसी की पीढ़ी के हैं; लेकिन वे वैचारिक रूप से महादेव महतो से आगे बढ़े हुए हैं। बालचन महतो से कहता है – "विभूति कुछ भी गलत नहीं कर रहा है। वह तुम्हारी तरह घुट-घुटकर इतनी जिनगी मुखिया की तेंदिली में नहीं गँवा सकता। कुछ सोचकर ही लालपाटी में भरती हुआ है। अब पहले वाली बात नहीं रही। जब सारे नान्ह एकवट होकर, अपने हक की लड़ाई लड़ रहे हैं, तो तुमको सोचना चाहिए। नहीं तो ऐसे ही सिहुर-सिहुर करते, पुहुत पर पुहुत गुजर जाएगी और हालत जस की तस बनी रहेगी। तुम हर बात पर विभूति के पीछे पड़े रहते हो कि वह ऐसा करें, वैसा करें। क्यों करेगा ? तुम्हीं क्यों नहीं बदल जाते हो ? तुमको इस बात का कोई कोई हक़ नहीं है कि उसको भी अपनी ही तरह होने को मजबूर करो।

रोज – रोज की ऐसी दुरगत सहने से तो उसके लिए लड़कर मर जाना, लाख बेहतर है।"[2] 'बहुत लंबी राह' उपन्यास में सांस्कृतिक द्वंद्व वैचारिक रूप में अधिक दिखाई पड़ता बजाय पीढीगत अंतराल के क्योंकि विभूति और उजागिर, बालचन और महतो की पत्नी मार्क्सवादी विचार से प्रभावित हैं वरना तो महादेव महतो भी मिसिर के प्रति अपनी ही पीढ़ी के लोगों के समान व्यवहार रखता। 20 वीं सदी के तीसरे चौथे दशक में जब बिहार में किसान आन्दोलन चल रहे थे उस समय से ही किसानों की माँग रही थी कि सार्वजनिक भूमि और सम्पतियों का अधिकार स्थानीय निवासियों को बिना रोक टोक के हो।

'बहुत लंबी राह' में जो वैचारिक और द्वंद्व नजर आता है वह 20 वीं सदी के अंतिम दशक या उसके बाद का है। 'हुंकार' पत्रिका के सम्पादक ने बिहार किसान सभा का घोषणा पत्र प्रकाशित किया था जिसमें एक माँग यह थी कि "कानून के जरिये हर गाँव में काफी गोचर भूमि का प्रबंध हो और खेती और घरेलू कामों के लिए जंगल से लकड़ी, घास, बाँस, जलावन, पत्ते और जीवन निर्वाह के लिए फूल, शहद वगैरह रस, झरना स्रोत का काम लाने का पूरा अधिकार संथाल परगना, छोटा नागपुर और अन्यायान्य पहाड़ी और जंगली इलाके के किसानों को हो।"[3] उस समय की यह माँग इतने वर्षों बाद भी महादेव महतो के चिन्तन में बदलाव नहीं ला सकी। इससे यह समझा जा सकता है कि उपन्यास के बालचन और 'लाल पाटी' जैसे लोगों की राजनीतिक पकड़ सांस्कृतिक और वैचारिक रूप से बहुत ज्यादा बदलाव नहीं ला सकती किसान समाज में; इनका योगदान सीमित किसान जनसंख्या तक ही है। ऊपर उद्धृत वक्तव्य का सीधा सम्बन्ध स्वामी सहजानंद सरस्वती के आन्दोलन से है। किसानी का सांस्कृतिक चिन्तन धीरे – धीरे लंबे समय में जाकर नया आकार लेता है

किसान जीवन का सांस्कृतिक द्वंद्व रोजगार की उपलब्धता और गाँवों में बढती हुई बेकारी के रूप में भी सामने आता है। जिन लोगों के पास जमीनें तो हैं; लेकिन वे पानी के अभाव में या कम उत्पादन के कारण खेती में अरुचि लेने लगे। वे गाँवों को

छोड़कर शहरों की विलासमयी जिंदगी के प्रति आकर्षित हो रहे हैं। सुख सुविधाओं की शहरी जिंदगी आर्थिक रूप से न केवल नकद पैसे का लालच देती है; बल्कि स्वयं को शहरी समाज का हिस्सा समझने और अन्य लोगों की तुलना में श्रेष्ठता बोध भी करवाती है।

'कालीचाट' उपन्यास का हेमराज एक बार शहर जाकर वापस गाँव लौटता है तो अपने हमउम्र लड़कों को शहरी जीवन के की सुख सुविधाओं पर खून ढींगे हाँकता है। वह अपने ही साथियों पर रोब जमाना चाहता है कि गाँव में कुछ नहीं धरा, लेकिन जब उसका चाचा भी साथ चलने के लिए कहता है तो वह हकीकत उजागर कर देता है। हेमराज के लिए शहरी जिंदगी नर्क से कम नहीं है क्योंकि वहाँ उसके पास घर नहीं है। जिस जगह वह रहता है वह जगह चमचमाते शहर से दूर गन्दी बस्ती है। वहाँ फेक्ट्री में काम मिलता है; लेकिन शोषण भी भयानक है। इतना पैसा वह नहीं कमा सकता कि शहर की अच्छी कालोनी में रहे सकें। उसके सामने शहर का यथार्थ स्थितियाँ है; लेकिन फिर भी उसका रहन सहन काफी बदल गया है; लेकिन दुःख यह है कि न कोई उसका पड़ोसी है और न ही गाँव की तरह का भाईचारा। वह जाना भी नहीं चाहता; लेकिन मजबूरी है।

वह अपने चाचा को इसकी हकीकत बताता है – "पतरे की एक छोटी सी खोली है। उसमें हम तीन लोग रहते हैं। खोली भी शहर में नहीं, बाहर गंदे नाले के किनारे बनी है। बड़े – बड़े घरों की पक्की टट्टियों का पानी नाले में आता है। अंदर और बाहर चौबीस घंटे बॉस गंधाती है। शुरू – शुरू में तो खोली में घुसते ही उबकाई आती थी। धीरे – धीरे आदत पड़ गई। बरसात में नाले का पानी खोली में घुस जाता है। गर्मी में तो हाल और भी बुरा है। खोली में जाओ और बफाओ। बाहर आओ तो बास के मारे जान निकल जाए। और मच्छर...मच्छर इत्ते कि सुभ तक पूरा शारीर सूजा दें। ऐसी खोली का किराया हजार रूपये है। सवेरे उठकर दस किलोमीटर साइकिल से फेक्ट्री जाता हूँ। महीने भर गधा हम्माली के बाद चार हजार मिलते हैं। किसी दिन काम पर

नहीं जा पाओ तो उस दिन के पैसे कट जाते हैं। शहर में दिहाड़ी मजदूर की कोई गत नहीं है दादा। अब यदि सबको ले जाऊ तो रहने के लिए हजार रूपये की तो खोली ही लेनी पड़ेगी। फिर बचे तीन हजार में रोटी पानी, कपडे लत्ते, दवा – दारु। नहीं पूरा पड़ सकता।...मैं लड़कों से झूठ नहीं कह रहा था दादा। शहर की वो भी सच्चाई है; लेकिन हमारे लिए नहीं है। हमारा काम तो बस इतना है कि मेहनत मजूरी करके पैसे वालों के लिए स्वर्ग तैयार करना। हम उस स्वर्ग में घुस नहीं सकते। वे लोग हमें एक मिनिट बर्दास्त नहीं कर सकते। काम होते ही हड़का कर भगा देते हैं। जैसे हम मनख नहीं कुत्ता बिल्ली हों। हमारी किस्मत तो इतनी है कि पैसे वालों के लिए स्वर्ग तैयार करना और खुद उनके बनाये नर्क में सड़ना।"[4] हेमराज के भीतर शहरी और ग्रामीण संस्कृति का फर्क हाय-तौबा मचाये हुए हैं। गाँव की वह करुणा और आपसी भाईचारा शहर की उन गंदगी से बजबजाती बस्तियों में कभी नहीं मिल सकता। जहाँ आदमी जिन्दा रहने के लिए ही संघर्ष कर रहा हो, किसी से प्रेम और स्नेह की उम्मीद नहीं की जा सकती। दूसरी तरफ अमीर लोगों को कामगार पशु तुल्य लगते हैं; लेकिन हेमराज इस सांस्कृतिक भिन्नता को पहचान पा रहा है। फिर भी वह वापस लौट जाता है और साथ ही अपने चाचा को भी ले जाता है।

'तेरा संगी कोई नहीं' उपन्यास बलेसर के पढ़े लिखे तीनों पुत्रों की मानसिकता को लेखक केवल वैचारिक या जीवन शैली का द्वन्द्व नहीं मानते; बल्कि किसानी संस्कृति के प्रति उदासीनता से भी आगे बढ़कर हिकारत के भाव के तौर पर दिखाते हैं। बलेसर के लिए खेतों को न बेचने की लड़ाई केवल अधिक सुख सुविधाएँ जुटा लेने और मेहनत से बचने मात्र की नहीं है अपितु वह खेतों को किसानी की बुनियाद मानता है। बलेसर के तीनों पुत्र शहर में ही रहकर पले बढ़े है और अब तीनों सरकारी नौकरी कर रहे हैं। उन्होंने अपनी इच्छा से प्रेम विवाह भी कर लिया। बलेसर यह सब बातें सहन कर सकता है क्योंकि वह अपने पुत्रों की महत्वाकांक्षा को अच्छी तरह समझता है; लेकिन पुत्र शहर में मकान लेने के लिए खेतों को बेच देना चाहते हैं। वे खेती की

अनुपयोगिता पर बलेसर को भाषण देते हैं और अमरीकी किसान समाज का उदाहरण सामने रखते हैं। उसके पुत्रों की बात एक हद तक सही भी है क्योंकि जिस गति से खेती का कोर्पोरेटीकरण हो रहा है, ऐसा ही चलता रहा तो किसान नामक खेतीहर जाति ही समाप्त हो जाएगी। बलेसर का तर्क जमीन को बचाने का नहीं अपितु जमीर को बचाने का है। वह यहाँ की सांस्कृतिक विविधताओं और किसानी समाज की परम्पराओं के भीतर से पनपे सहज जीवन पर जोर देता है जिसमें जीवन का शांत और सुंदर पक्ष मनुष्य भागदौड़ भरी जिंदगी से बचाकर रखने की क्षमता रखता है। बलेसर अपने बड़े पुत्र कुलराखन को समझाते हैं – "यह अमरीका नहीं है कुलराखन, भारत है, भारत ! तुम कान खोलकर सुन लो, हमारा देश कभी अमरीका नहीं बन सकता। मैट्रिक की अपनी पुस्तक में ही मैंने पढ़ा था कि विभिन्न धर्मों, भाषाओं और संस्कृतियों वाला विविधता से भरा यह बड़ा देश कभी किसी एक ढर्रे पर चल ही नहीं सकता...। यहाँ की जो परम्पराएँ हैं वह बनी रहेगी। हमारी खेती भी इसी उतार चढ़ाव के साथ बनी रहेगी। हवाई बातों को इस कान से सुनकर उस कान से निकाल दो कुलराखन। जिसकी कोई जमीन नहीं होती या जमीन से कटता जाता है वही ऐसे उदाहरण प्रस्तुत करता है। इसलिए तुम तीनों भाई अपने मन से यह बात निकाल दो कि अपनी खेती हमें बेचनी है। तुम्हें तो यह संकल्प लेना चाहिए कि ऐसा हमें हर्गिज नहीं करना है। हम शहर और गाँव दोनों जगह रहेंगे। जिसे मनलायक नौकरी नहीं मिलेगी, वह कहाँ जाएगा? अंतत: खेत ही उसके लिए संबल बनेंगे।"[5] बलेसर खेतों को किसान जीवन की अनिवार्यता मानता है वही उसके पुत्र किसान जीवन को ही अनिवार्य नहीं मान रहे। यह इतना बड़ा अंतर लगभग तीस सालों की देन है क्योंकि गाँवों के भीतर तक नकद पैसे और सुख सुविधाओं के लालच में किसानों की नयी पीढ़ी को किसानी के प्रति नैतिक रूप से गैर-जिम्मेदार बना दिया है।

मिथलेश्वर की तरह संजीव भी 'फाँस' में किसानी को एक जीवन शैली की तरह ही चित्रित करते हैं। शिबू और शकुन का जीवन इसका उदाहरण है। 'फाँस' में किसानी

को छोड़कर कोई नहीं जाता। उनके लिए खेती अनिवार्य है। शिबू ने आत्महत्या की तो पत्नी शकुन खेत बेचकर अन्य किसानों को बचाने में लग जाती है। सुनील का बेटा अमरीका जाना त्यागकर किसानों पर शोध करना ही चुनता है। शकुन की बेटी घर से निकल दी जाती है फिर भी वह सुनील के बेटे के साथ मिलकर किसानों के उद्धार में लग जाती है। 'फाँस' के सभी पात्र खेती किसानी में ही फिर से रम जाते हैं। शिबू का बैल जिसको वे प्यार से लालू कहते हैं, उसकी मौत पर सारा परिवार दुःख मनाता है और सोचता है कि मैं क्यों न किसी बड़े शहर में जाकर मजदूरी ही कर लूँ ? उसकी बेटी के पास खेती छोड़ने वालों के आँकड़े हैं कि खेती छोड़ने के अलावा इस देश के किसान के पास कोई चारा ही नहीं बचा जिसके कारण 80 लाख किसानों ने खेती छोड़ दी है। सरस्वती कहती है कि "...शेती कोई धंधा नहीं, बल्कि एक लाइफ स्टाइल है – जीने का तरीका, जिसे किसान किसी अन्य धंधे के चलते छोड़ नहीं सकता। सो तुम बाबा...तुम लाख कहो कि तुम शेती छोड़ दोगे, नहीं छोड़ सकते। किसानी तुम्हारे खून में है।"[6] वह जीवन शैली तो है किन्तु जब वह आत्महंता हो जाए तो लोग छोड़कर भागने लगते हैं।

ऐसा भी नहीं है कि विदर्भ में लोगों ने खेती-किसानी छोड़ी न होगी। संजीव केवल किसानों के आत्मविश्वास को दिखाने मात्र के लिए ऐसे पात्रों की परिकल्पना करते हैं। संजीव ने 'फाँस' में एक पात्र के माध्यम से इस बात की ओर भी ध्यान दिलाया है कि 'आत्महत्या जैसी कोशिशे आदिवासी किसानों में नहीं पायी जाती क्योंकि वे महानता का बोझ नहीं ढोते, चाहे उन्हें किसी भी हालत में छोड़ दो।'[7] विदर्भ के गाँवों में किसानों ने अपने सिर पर महानता का बोझ लाद लिया है। बेटी और बेटे की शादी में खर्च करना और दिखावे के लिए अनावश्यक फिजूलखर्ची। किसानी संस्कृति में पहले यह सब नहीं था। जिन्होंनेअपने सिर महानता का बोझ नहीं लादा वे आत्महत्या से बचे रहे। जो महानता के बोझ को झेल नहीं पाए वे मारे गए और कुछ पलायन कर गए। उनके हमेशा के लिए खेती से मुँह मोड़ लिया।

किसान संस्कृति एक भू-संस्कृति है। किसानी की मूल प्रकृति सामूहिक श्रम या सामूहिक कर्म है। जहाँ एक परिवार मिलकर खेती या खेती से संबंधित सभी कार्य करते है। यही सामूहिकता किसान जीवन का सबसे उन्नत पक्ष है। किसान जीवन के इसी सामाजिक पक्ष के चितेरे प्रेमचंद इस सम्बन्ध में लिखते हैं कि "भारत के अस्सी फीसदी आदमी खेती करते हैं। कई फीसदी वह हैं जो अपनी जीविका के लिए किसानों के मुहताज हैं, जैसे गाँव के बढ़ई, लुहार आदि। राष्ट्र के हाथ में जो कुछ विभूति है, वह इन्हीं किसानों और मजदूरों की मेहनत का सदका है। हमारे स्कूल और विद्यालय, हमारी पुलिस और फौज, हमारी अदालतें और कचहरियाँ, सब उन्हीं की कमाई के बल चलती हैं, लेकिन वही जो राष्ट्र के अन्न और वस्त्रदाता हैं"[8] किसानी संस्कृति का यही सामाजिकता का भाव परिवार से कुटुंब और कुटुम्ब से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भारतीय संस्कृति का द्योतक बन जाता है।

'आखिरी छलांग' उपन्यास में किसान संस्कृति के वे आयाम भी आये हैं जहाँ अभावों और कष्टों में स्वयं की समृद्धि और उल्लास के लिए वह कुछ वक्त निकालता है। कार्तिक एकादशी का दिन। दलिद्दर भगाने का त्यौहार। किसान गन्ने से अपने खेती और किसानी की उन्नति के लिए धूमधाम से मनाते हैं। उस दिन वे यह नहीं देखते कि किसी के घर गन्ना नहीं है तो वह परिवार कार्तिक एकादशी नहीं मनाएगा। उस उत्सव का वर्णन करते हुए शिवमूर्ति लिखते हैं – "आज के दिन ही गन्ना चूसने या पेरने की पारम्परिक शुरुआत होती है। दलिद्दर को भी गन्ने से पीटकर भगाते हैं। इसलिए हर गृहणी को आज के दिन गन्ने की जरूरत पड़ती है। जरूरी नहीं कि हर किसान हर साल गन्ना बोये। बहुत से भूमिहीन परिवार भी है गाँव में। मुँह सभी का मीठा होना है। इसलिए हर गन्ना किसान अपने ऐसे पड़ोसियों के घर गन्ना भेजना अपना धर्म समझता है जिन्होंने गन्ना नहीं बोया।...पहलवान ने अपने अडोस पड़ोस के गन्ना विहीन परिवारों की गिनती करके पप्पू से उन लोगों के घर दो-दो गन्ने पहुँचाने के लिए कहा।

पहलवान चाहते हैं कि उनके जीवन काल तो यह परम्परा चलती रहे। आगे की राम जाने।"[9] भारतीय ग्रामीण समाज में यह परम्परा अज भी कायम है कि त्यौहार के दिन तो कम से कम कोई दुखी न रहे, इसके लिए सब लोग मिलकर प्रयास करते हैं।

यह सामूहिक जीवन पद्धति किसान समाज के लिए किसी वरदान से कम नहीं है। पहलवान के पास खर्च करने के लिए बहुत कुछ नहीं है। इस बात से परिचित पहलवानिन भी है लेकिन इस दिन उत्सव मानने में कोई कमी नहीं रहनी चाहिए। एक दिन के त्यौहार के वर्णन में लेखक एक किसान परिवार के उल्लास की भीनी-भीनी सी खूशबू सी छोड़ जाते हैं – "घर में हजारों साल से जड़ जमाकर बैठे दलिद्दर भगाने के लिए यों तो किसान का पूरा परिवार साल भर बैल की तरह खेत खलिहान में जूझता है लेकिन कार्तिक एकादशी को हर परिवार इसे भगाने और ऐश्वर्य को अपनी जिंदगी में प्रविष्ठ करवाने के लिए अनुष्ठानिक उद्यम करता है। सावन भादों की मुफलिसी का पूरा परिवार सिकुड़कर, धीरज से काटता है। यह वह समय है जिसमें सुग्गे भी उपवास करते हैं।...क्वार-कार्तिक में धान तैयार हो गया। ज्वार, बाजरा, सावाँ, कोदो, मक्का भी। अब कुछ समय के लिए दुर्दिन खत्म। रोटी पक्की। लेकिन नकदी तो गन्ने से ही हासिल होगी और दलिद्दर दूर होगा नकदी से। इसलिए ऐ गन्ना में वास करने वाली लक्ष्मी, इतनी नकदी दीजिए कि इस साल गृहलक्ष्मी को नयी हँसुली गढ़ायी जा सके।...घर का दरवाजा खुला और पहलवानिन गन्ने की आगोढ़ी से दलिद्दर के प्रतीक सूप को पीटती हुई बाहर निकली। ढप्प-ढप्प के साथ आह्वान का स्वर – इस्सर (ऐश्वर्य) आवै, दलिद्दर जावै। एक-एक कोठारी, भंडार घर, रसोई, कोठे, जानवरों की सरिया के कोने-अंतरे से पीट-पीट कर दलिद्दर को बाहर भगाती हुई। सूप पर पड़ती गन्ने की चोट से सारा इलाक गूँज रहा है। हर गाँव से, हर घर से निकलती ढप्प की आवाज और साथ में गृहलक्ष्मियों का आह्वान - इस्सर (ऐश्वर्य) आवै, दलिद्दर जावै। दलिद्दर के प्रतीक पुराने सूप का हाथ पैर तोड़कर ऐसे गहरे गड्ढे में फेंकना जहाँ से वह वापस न लौट सकें।"[10] सामूहिकता किसान समाज के लिए वरदान की तरह है।

किसानी संस्कृति में दाम्पत्य जीवन का बहुत बड़ा महत्त्व होता है क्योंकि दाम्पत्य ही वह सहारा है जिसके सहारे कष्टों भरें जीवन को सहज ही हँसते-रोते निकाल देते हैं। पहलवान के दाम्पत्य जीवन को शिवमूर्ति ने 'आखिरी छलांग' में दार्शनिकता के गहरे अर्थों में पिरो दिया है और उसका प्रतीक चुना है मचान को। मचान जो "बड़े आकर की खटिया ही है। पतले छोटे पायों की जगह मोटे पाए लग जाते हैं। कंधे की ऊँचाई तक बुनाई कर दी जाती है। वर्षा और धूप के बचाव से लिए बचाव के लिए आठ – नौ फुट की ऊँचाई पर फूस की छाजन पड़ती है। भादों के महीने में कथरी-गुदरी ओढ़कर माचे पर बैठे-बैठे दूर-दूर तक बरसते पानी को देखते और तेज हवा के साथ चेहरे पर पड़ती फुहारों को देखते हुए मन बैरागी होने लगता है।"[11] यह बैरागीपन वर्षों से झेलते आये कष्टों और संघर्षों से दुखित मन प्रकृति के सानिंध्य में आकर सब कुछ भूलकर एकाकार होने की स्थिति है।

किसान के जीवन में ऐसे क्षण बहुत ही कम बार आते हैं और जब किसान दम्पति को अपने सुख भोग के लिए वही स्थान उपलब्ध हो जाता है तो शास्त्रीय भाषा में वह मोक्ष जैसी स्थिति को प्राप्त होता है। "जब-जब कोई गृहस्थ-गृहस्थी के भ्रमजाल से बेजार होता है, बेटे-बेटों और नाती-पोतों की संगत में चैन नहीं मिलता, वह सुकून की तलाश में माचे की शरण में जाता है। माचे की गोद में पनाह लेने वाले का एकान्त भरसक कोई भंग नहीं करता। माचे पर लेटे-लेते दु:खी निराश उदास मन को अपने अंतरतम में उतरने का मौका मिलता है।"[12] पहलवान के मन में भी ऐसे मौके कई बार आएँ हैं। अबकी बार बेटी की शादी के लिए वर ढूँढ़ते-ढूँढ़ते वह थक गया तो माचे की शरण ली। पहलवानिन भी उसके मन की बात जानती है – "पप्पू की अम्मा जानती है कि घर वाला मचे पर चला गया तो पत्नी परिवार ही नहीं देश दुनिया की पहुँच से बाहर हो गया। इतने लंबे दाम्पत्य के शुरूआती दिनों के ही दो-एक अपवाद होंगे, जब पति के प्रबल आग्रह पर रात का खाना पहुँचाने के बहाने वे माचे तक आयीं हों और पति द्वारा अभिसार के लिए पकड़कर ऊपर खींच ली गई हों। बहुत दिन हुए एक बार

चुटकी (भिक्षा) लेने आये जोखू बाबा ने पहलवान को बताया था – माचा गृहस्थाश्रम और संन्यास आश्रम को जोड़ने वाला पुल है। गृहस्थाश्रम की जिम्मेदारियों से भागना संभव नहीं है। लेकिन जिम्मेदारियों को निभाते हुए भी मन को मोह माया के फंदे में फँसाने से बचाने की कोशिश करते रहना चाहिए। बाबा तुलसी ने माचे के लिए ही कहा है – तुलसी घर बन बीच ही पर्ण कुटी रहु छाय।"[13] किसान के दाम्पत्य जीवन में पत्नी उसकी सबसे बड़ी साथी होती है चूँकि किसानी घाटे का सौदा है और कर्ज उसकी सबसे बड़ी समस्या।

ऐसे में किसान के पास उसकी पत्नी के गहने गिरवी रखने या बेचने के उदाहरण सबसे ज्यादा मिलते है। ऐसी स्थिति में किसानिन अपने पति और परिवार की खातिर हमेशा से अपनी पसंद का बलिदान करते आई है। "किसान के जीवन में बढ़ते दुख उसकी पत्नी के शरीर पर घटते जेवरों से आकलित किए जा सकते हैं। नई बहू जब आती है तो नए घाघरे, लुघड़े, पोलके के साथ तोड़ी, बजट्टी, ठुस्सी, झालर, लच्छे, बैंदा, करधनी में झमकती है। फिर धीरे-धीरे उम्र बढ़ने के साथ खेती-किसानी की सुरसा अपना मुँह फाड़ती है और महिलाओं के शरीर पर से एक-एक जेवर कम होता जाता है। जेवर जो शरीर से उतर कर किसी साहूकार की तिजौरी में गिरवी हो जाते हैं। और किसान के घर की चीज़ एक बार गिरवी रखा जाए तो छूटती कब है ? पहले सोने के जेवर जाते हैं, फिर उनके पीछे चाँदी के जेवर। हर जेवर जब गिरवी के लिए जाता है, तो इस पक्के मन के साथ जाता है कि दो महीने बाद जब फ़सल आएगी, तो सबसे पहला काम इस ज़ेवर को छुड़वाना ही है। लेकिन अगर यह पहला काम ही अगर सच में पहला हो जाता, तो इस देश में साहूकारों की तिजौरियाँ और उनकी तोंदें इतनी कैसे फूल पातीं।"[14] ऐसा ही कुछ हाल रामप्रसाद की पत्नी के साथ अकाल में उत्सव उपन्यास में होता है।

निष्कर्षत: किसानी का यह सांस्कृतिक द्वंद्व खेती के घाटे का सौदा बनते चले जाने, आधुनिक सुविधाओं के विस्तार, खेती में वैश्विक पूँजीवाद का हस्तक्षेप और नयी पीढ़ी का अपनी जड़ों से लगाव के अभाव के कारण उत्पन्न हुआ है। साथ ही वैचारिक चेतना के कारण किसानों की नयी पीढ़ी की राजनैतिक समझ भी इस सांस्कृतिक द्वंद्व का कारण है। किसानी की मूलभूत पूँजी है सामूहिक जीवन पद्धति और किसानी परम्पराएँ जिनके सहरे वह अभावों में भी उस्तव का सा आनंद उठाने की क्षमता रखता है। उपन्यासों में उन सकारात्मक सांस्कृतिक परम्पराओं का वर्णन कम आया है। 'आखिरी छलांग' जैसे उदाहरण बेहद ही कम मिलेंगे जिनमें किसानी के धरातलीय सांस्कृतिक जीवन को दिखाने की सफल कोशिश की गई है।

6.2 धार्मिक आस्था और अंधविश्वास

किसानों में लोक विश्वास ही मुख्यत: पाए जाते हैं, किन्तु किसी धर्म का प्रभाव भी सक्रिय रूप से दिखाई पड़ता है। लोक से पनपी हुई आस्थाएँ प्राकृतिक जीवन शैली की समझ के आधार पर बनी हुई होती है। उनमें बदलाव भी आते रहते हैं और कभी वे रूढ़ भी हो जाती है। जिन आस्थाओं और मान्यताओं में समय के साथ परिवर्तन नहीं आ पाता वे एक समय के बाद किसानों के लिए ही दुखदायी और उनकी जीवन शैली को प्रभावित करने वाली सिद्ध होती है। ऐसा भी नहीं है कि किसानों के धार्मिक विश्वास अतार्किक और घोर अंधविश्वासों से भरे हुए होते हैं; परंतु हिंदी उपन्यासों में धर्म वर्णित हुआ है वह नकारात्मक पक्षों को दिखाने के उद्देश्य से ही हुआ है। कहीं-कहीं धर्म और आस्था का लोकाश्रित रूप जीवन के सुंदर पक्षों की व्याख्या भी करता दिखाई देता है।

पंडितो की मूर्खता और भोले किसानों की नादानी के चलते बहुत बार अच्छा खासा किसान अपना जीवन बर्बाद कर लेता है। 'फाँस' उपन्यास के मोहन दादा का एक बैल मर जाता है। दूसरे बैल से वह थोड़े दिन खेती करने की कोशिश करता है।

उनकी पत्नी हल पकडती है और मोहन दादा दूसरे बैल की जगह स्वयं जुत जाते हैं लेकिन यह सब ज्यादा दिन तक नहीं चल सकता था। मोहन दादा ने अपने बैल को बेचने का निश्चय किया और पशु मेले में ले जाकर एक कसाई को बेच दिया क्योंकि वही सबसे ज्यादा दाम दे रहा था। जब वह गाँव आया और बताया कि बैल को कसाइयों को बेच आया हूँ क्योंकि बैल काफी कमजोर था और कोई किसान लेने को तैयार नहीं था तो कसाई को बेचना पड़ा। सबने कहा कि यह तो पाप है। इसका प्रायश्चित करना पड़ेगा।

काशी से आया पंडित निरंजन देव उसे गो वध से मुक्ति के लिए प्रायश्चित का उपाय बताता है – "बैल के गले का फंदा गले में डालकर एक भिक्षा पात्र लेकर भीख माँगनी पड़ेगी। शुद्धि तक न घर घुस सकते हैं न मनुष्य की बोली बोल सकते। बैल की बोली – बाँ...बाँ...इस पोला* से अगले पोला तक। फिर मैं आकर प्रायश्चित और शुद्धि के लिए विधान करूँगा।"[15] मोहन दादा कोई अकेले नहीं हैं जो इस प्रकार की मूर्खताओं के शिकार होते हैं या हुए हैं। जो समाज के पास आर्थिक और वैचारिक रूप से कमजोर होता है वहाँ निरंजन देव जैसों का बड़ा धन्धा चलता है। जिस समाज को छोड़कर मोहन दादा एक साल के लिए भीख माँगता रहा, वह क्या इस बात से मर्माहत होकर इस पर रोक लगाने की कोशिश कर सकता था या फिर मोहन दादा को ही समझा सकता था कि ये सब पाखंड हैं ? मोहन दादा "क्या शाम और क्या सुबह ! दिन पर दिन बीतते गए और महीने पर महीने...मोहन दादा किंवदंती बन गए, कहानी बन गए, किस्सा बन गए, कोई कहता वर्धा बस स्टैंड पर उन्हें देखा, कोई कहता सेवाग्राम रेलवे स्टेशन पर, कोई कहता फलाने गाँव में, 'बाँ...बाँ' कहकर भीख माँग रहे थे, कोई कहता फलाने मंदिर में..!"[16] ठीक ढंग से देखा जाए तो यह एक मानसिक अवस्था है जिसमें किसान स्वयं को ही दोषी मानने लगता है क्योंकि उसके पास इस बात को

** बैलों का त्यौहार, बेन्दूर – बैलों के सम्मान में किसानों द्वारा मनाया जाने वाला त्यौहार है जो खासकर महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, छतीसगढ़ और कर्नाटक में मनाया जाता है ।

दूसरे ढंग से सोचने का तरीका है ही नहीं। जो पंडित बता दे वही तक उनकी बुद्धि कार्य करती है। पी. साईनाथ ने कालाहांडी क्षेत्र की अपनी रिपोर्ट्स में मुर्गे की बलि से बच्चों के इलाज करने और 'दिस्सारी'† द्वारा आधुनिक इलाज पद्धति को ठुकराने के कई किस्से लिखे हैं। पी. साईनाथ अपने सहयोगी के घर जाता है और देखता है कि उसके बेटे को पेचिश हो गया है जिसका इलाज वह एलोपैथी दवाइयों से करवा रहा है लेकिन ठीक न होने की दशा में 'दिस्सारी' को बुलाया जाता है। जो तीन मुर्गों की बलि देकर पकवाकर कहा जाता है और जब उसके बाप ने दवाइयाँ दिखाई तो भगवान का डर दिखाने लगता है – "शराबी, सूअर के बच्चें, मुझे दवाएँ नहीं चाहिए। चलकर पूजा करो। पूजा पाठ में ही मन लगाओं तब तुम्हारे ऊपर कोई भरोसा कर सकता है। जिसे नहीं जानते हो उसमें टांग नहीं अड़ाओ।"[17] जिन क्षेत्रों में आधुनिक चिकित्सा पद्धतियाँ और ज्ञान संस्थान नहीं पहुँच पाए हैं , उनमें अभी भी हालत शयद ही बदलें हों ? यही वजह है संजीव को 21 वीं सदी के दूसरे दशक में लिखे गए उपन्यास में मोहन दादा जैसे पात्रों का सृजन करना पड़ा।

जिस निरंजन देव गिरि के कारण मोहन दादा को भीख माँगते हुए मौत मिली, उसी की वजह से तीन गाँव उजड़ गए। तीन साल से सूखा पड़ रहा था और कई किसानों ने आत्महत्या कर ली। निरंजन देव गिरि ने कहा कि गाँव छोड़ो या मरो क्योंकि गाँवों पर बुरी आत्माओं का साया है। "जब तक दूर नहीं होता, गाँव वाले वही (गाँव से बाहर जहाँ निरंजन देव सत्संग करवा रहा है) रहेंगे – गाँव बदर ! निरंजन देव गिरि कोई अनुष्ठान करेंगे, साया हटेगा, फिर अपने-अपने गाँव लौटेंगे।"[18] इस प्रकार भूत प्रेत के साए और धार्मिक अंधविश्वासों के कारण किसान समाज में बहुत सारी समस्याओं पर ध्यान ही नहीं जाता और वे लंबे समय तक इसी प्रकार समय बर्बाद करते रहते हैं। हालाँकि जिन किसान समाजों ने अपने लोक विश्वासों के प्रगतिशील रूप को अपनाया और धर्म के शास्त्रीय जाल में नहीं फँसे, वे हमेशा संघर्ष में ही विश्वास

† झोला छाप डाक्टर जो जड़ी-बूटियों के अलावा टोन-टोटके से इलाज करने का दावा करता है।

करते रहे। 'फाँस' में ही गढ़चिरोली जगह के एक गोंड कबीले का उदाहरण है जिसने किसी भी धर्म के जाल में फँसने से इंकार कर दिया और सुखी जीवन जी रहे हैं। 'कोया' जाति के इस कबीले का नेता देवा जी तोपा बताते हैं कि कोया का अर्थ होता है 'आदमी' – "हमारे गाँव के देवता है – बूढ़ा देव, सात देव, छह देव, पाँच देव। बस्तर का अबूझमाड़ देख रहे हैं न, उसी का विस्तार है यह। दादा के परदादा की बात है। 7 किमी. पर छतीसगढ़ का राजनांद गाँव है।...कुछ लोगों ने धर्म अपनाया था, छोड़कर फिर लौट आये। हम न हिन्दू हैं, न मुसलमान, न क्रिश्चियन, न बौद्ध, बस कोया। क्या आदमी के लिए आदमी बने रहना काफी नहीं है ?"[19] धार्मिक आस्थाएँ जो जानलेवा हो और जीवन स्तर को कम करती है, उनको त्यागने की समझ अभी किसान समाज के पास पूर्णत: आई नहीं है।

पिछले अध्यायों में भी इस बात की चर्चा हम कर चुके हैं कि 'फाँस' उपन्यास में किसानिन शकुन द्वारा धर्म परिवर्तन दिखाया गया है। शुकन के बौद्ध बन जाने के बाद मंदिर के पुजारी और अन्य लोग उसकी बेटी कलावती और पड़ोसी अशोक को लेकर तंज कसते हैं और शिबू को चोरी-छुपे ताने भी देते हैं। शिबू बेटियों के लिए वर ढूँढने जाते है; लेकिन कोई ऐसा व्यक्ति मिलता ही नहीं जो बिना दहेज के शादी करने के लिए राजी होता हो और शिब-शकुन की इतनी हैसियत नहीं है कि दहेज दे पाए। उसी संदर्भ में शकुन अपने पति शिबू से हिन्दू और बौद्ध धर्म की तुलना करते हुए कड़े शब्दों में हिन्दू धर्म की आलोचना करती है। उसका मानना है कि हिन्दू धर्म में होने के कारण विवाह संस्था में इतनी जटिलता है। वह स्वयं और दोनों बेटियों ने धर्म परिवर्तन कर लिया है; लेकिन शिबू ने नहीं किया क्योंकि वह स्वयं को मराठा समझता है, जो की गर्व का विषय है।

शकुन के अनुसार एक बार बौद्ध बन जाए तो सारी समस्याओं का हल हो जाएगा – "हमने लाख समझाया, बौद्ध हो जाओ, बौद्ध हो जाओं। महार सारे ही बौद्ध हो गए, बाकी हमारे जैसे ही मुक्त नहीं हो पाये अभी तक उस मोह से – जाएँ, न जाएँ।

एक कीच भरे गड्ढे से बड़े तालब में आ जाएँ जैसा-जैसा चाहो मुलगा पाओं, जैसी चाहो मुलगी...। मैं पूछती हूँ तुम इन हिन्दुओं के पास जाते ही क्यों हो ?...चुन-चुन कर हिन्दुओं के पास ही जाते हो। हिन्दू ठहरे न ! तुम्हारा जाति मोह तो तुम्हें खींचेगा ही। तुम कैसे भूल जाते हो कि हमारे पुरखें कभी झाड़ू बाँधकर और हाथ में डब्बा लेकर चलते, ताकि पीछे की अपनी छुई हुई जमीन अपवित्र न हो जाए। बाबा साहब के लाख बुलाने पर भी जो न आ पाये, उन्हें तुम आदमी कहते हो? केंचुए हैं ! केंचुए बड़ी जाट के हिन्दुओं की संक्रामक दहेज की बीमारी से बीमार...अपने बगल के गाँव में नीलू और चंदा के बाप को किसने मारा, फसल की बर्बादी ने ?नहीं...इन्हीं हिन्दुओं की इस संक्रामक बीमारी ने।...मैंने कितनी बार समझाया है कि दीक्षा ले लो, दीक्षा ले लो, मगर तुम ...? आज भी उसी मंदिर में मत्था टेकने जाते हो, जिसका पुजारी पहले बाग़ के संतरों की लालच दे-देकर मुझे पटाने की कोशिश करता था और अब बगुला भगत की तरह मंदिर के चबूतरें पर बैठकर नहाती औरतों और स्कूल जाती मुलगियों को घूरता रहता है। मैंने तो दीक्षा लेते ही मंदिर की सफाई का काम छोड़ दिया, तुम अभी भी...उस पुजारी को प्रणाम करते थे, जो तुम्हारी मुलगियों को...।"[20] धार्मिक संस्थानों का यह स्वरूप ग्रामीण क्षेत्र में और भी ज्यादा भयावह हो जाता है जब पीड़ित व्यक्ति समाज में बदनामी और असमर्थता के चलते न तो विरोध ही कर पाता है और न ही उसका त्याग ही कर पाता है; लेकिन इस तरह का वर्णन करते हुए संजीव की दृष्टि अम्बेडकरवादी हो जाती है जिसका प्रभाव पूरे विदर्भ पर दिखाई देता है - "अम्बेडकरवादी विचारधारा का प्रभाव विदर्भ में स्पष्ट दिखाई देता है; शिबू की मौत के बाद, बौद्ध मत से सरस्वती और कलावती का विवाह होता है"[21]

'हलफनामे' उपन्यास में धर्म और आस्था से उत्पन्न अन्धविश्वास दो रूपों में हमारे सामने आए हैं। एक तरफ मौत पर होने वाले कर्मकांड के रूप में, तो दूसरी ओर जमीन में पानी बताने वाले तांत्रिकों के छल के रूप में। पहला रूप वर्षों से चली आ रही परम्परा है, तो दूसरा नयी पैदा हुई समस्या के नए समाधान के रूप में। मकईराम

के पिता स्वामीराम की हत्या हो जाती है या फिर वह आत्महत्या कर लेता। वह क्यों करता है ऐसा - इसकी चिंता किसी को नहीं। गाँव वाले जुट गए हैं और मकईराम को एक-एक संस्कार समझाते चले जा रहे हैं। पंडित के कहें अनुसार वह अस्पष्ट से मंत्रों को दोहराता जाता है; लेकिन उसके हृदय में पिता की मौत का गहरा सदमा है। उसके सदमें की बात किसी को नहीं समझ आती, वह निरंतर आज्ञाओं का पालन करता जाता है।

लेखक उसकी मनोदशा का वर्णन करते हुए लिखता है – "मकई को यह याद रहा कि संख्या की युक्ति सर्वोपरि थी – चार पान, सोलह मुट्ठी चावल...दस लुटिया, आठ सूती धोतियाँ...बारह ब्राह्मण, आठ केले पत्ते...चौदह जोड़ी कपड़े, आठ कलश, बारह थाली...इस क्रम का कोई अंत नहीं लगता और मानो इन अंकों को जोड़ दिया जाए तो ऐसी संख्या बनेगी जिससे सरे मनोरथ सिद्ध होंगे, हर शंका का निदान होगा, हर दुःख का निवारण।"[22] मकई इन सब का अर्थ नहीं जानता; लेकिन पंडित ने बोला है और वर्षों से यह परम्परा चली आ रही है। अगर ऐसा नहीं किया तो पिता को मोक्ष नहीं मिलेगा। फिर पंडित जी सलाह देते हैं कि एक बार हरिद्वार जाकर पिता की अस्थियों का तर्पण करना पड़ेगा। वह हरिद्वार भी जाता है। मकई की मनस्थिति में पिता की आत्महत्या की घटना चल रही है और वह सारे कार्य यंत्रवत करते चला जा रहा। इन रस्मों का पालन उसे पिता की मौत के बाद के खालीपन को कुछ दिनों तक भरा-भरा रहने देता है। "तब एक दिन एक उदास बूढ़ा आदमी घर आया। मकई ने उसे टोपी पहनायी, पैर पूजे, माथे पर टीका लगाया, भोजन कराया, आशीर्वाद लिया। उसे हाथ में छतरी दी, घडी पहनायी, नीचे झुककर नए जूते पहनने का आग्रह किया। एक तरफ गृहस्थी की साड़ी जरूरतों का सामान रखा था, डाल से लेकर नेलपालिश तक, तेल के पीपे से लेकर कटोरदान तक। कुछ सामान खटिया पर था, बाकी उसके आसपास, एक साइकिल भी थी। उदास बूढ़ा खटिया पर बैठ गया। वह गृहस्थी का सारा सामान देख सकता था, हाथ बढ़ाकर छू सकता था। फिर तीन और के सहयोग से

मकई ने खटिया उठायी और उसे द्वार के बाहर ले आया। खटिया समेत उदास बूढ़ा एक बैलगाड़ी पर बैठ गया। बाकी सामान भी रख दिया। एक छोटे लड़के ने साइकिल संभाल ली। और फिर, जब साँझ का झीना प्रकाश धरती की गोद में गिरता जा रहा था, बैलगाड़ी चल दी। उदास बूढ़े ने पीछे मुड़कर नहीं देखा। मकई की आँखें डबडबा आयी थीं। उसे पता था उदास बूढ़े को पीछे मुड़ने से मना किया गया था। यह रीति थी। पर उसने यह नहीं सोचा कि उदास बूढ़े को जाते देख, इसे सचमुच लगेगा बापू की आत्मा विदा हो रही है।"[23] मकई राम के लिए इतने सारे आयोजन करना आसन था क्योंकि वह शहर में रहकर बिजली का अच्छा कारोबार करता था लेकिन अन्य किसान जिनके खेत सूखे पड़े हैं, जिन्होंने बोरिंग करवाने के लिए कर्जा ले रखा है, जिनकी जमीन साहूकार के पास गिरवी राखी हुई है; उनके लिए इस प्रकार के आयोजन उन्हें हमेशा के लिए कर्जदार बना देते हैं। वह कर्जे का चक्र कभी छूटता ही नहीं। लेखक ने पंडित को 'उदास बूढ़ा' लिखकर इस तरह के तमाम आयोजनों की व्यर्थता सिद्ध कर दी।

स्वामीराम मौत से पहले भी ऐसे ही कर्मकांडों में फँसा हुआ था। सम्पूर्ण आंध्रप्रदेश के गाँवों में पानीबताने वाले सगुनिये घूमते थे जो भिन्न-भिन्न तरीकों से पानी बताने का कार्य करते थे। स्वामी राम ने भी उन्हीं के चक्कर में आकर कई सारे बोरवैल खुदवाए और कर्जे के जाल में फँसता गया। "सुगुण करने के खूब तरीके और उसी के हिसाब से फीस – एक के पास लकड़ी की डंडी रहती है। उस पर भभूत लगा है, कई रंगों के निशान और आकृतियाँ – जहाँ डंडी नाचेगी, उसी के नीचे पानी होगा। दूसरे की डंडी नहीं नाची तो बोला कि शाप लगा है, एक बोरिंग श्मशान से दक्षिण में पचास फीट के अंदर करो, तब डंडी नाचेगी और पानी चिह्नेगा...नारियल का इस्तेमाल खूब है, पीछे ट्रेक्टर में नारियल लादे होते, सगुनिया जगह-जगह चुनकर नारियल जमीन पर रखता। सैंकड़ों आँखें नारियल को घूरती है मानों ऐसा फल कभी

देखा न हो। जहाँ वह चकरी की तरह घूमेगा, उसके नीचे पानी है। किसान बेचारे को वही पानी मिला जो नारियल के भीतर था।

कुछ सपेरे भी मौका ताड़कर सगुनिया बन गए। उन्होंने फैला दिया कि जहाँ विषैले साँप के बिल हैं, वहाँ पानी है – जितने बिल उतना पानी।”[24] ऐसा नहीं है कि सगुनिये और सपेरे अपने आप ही घूमते थे या फिर किसानों के लंबे समय से विश्वासपात्र थे। नहीं! ये सारा तन्त्र बोरवैल माफियाओं द्वारा फैलाया गया था, जिसमें ऊँचे स्तर से लेकर गाँव के लाला तक का हिस्सा था। सुदर्शन मकई को उसके पिता की मौत से पूर्व की सथियों से अवगत करवाता है – “एक पूरी जमात है बोरवैल के उद्योग की। यही लोग सगुनिया का इस्तेमाल करते हैं। इन लोगों के लाभ का तुम अंदाजा नहीं लगा सकते। एक ही जमात है – जो कर्जा देती है, बीज, खाद, कीटनाशक बेचती है, बोरवैल लगाती है और तुमसे फसल, जमीन चमड़ी, जो देने को हो, सब औने – पाने दाम पर खरीद लेती है।”[25] स्वामी राम ने इन्हीं सगुनियों और बोरवैल माफियाओं के चक्कर में आकर कर्जे के भार में दब गया और जब उसको इस बात का अहसास हुआ कि यह सब पाखंड है, तो वह विरोध में आ गया और हत्या का शिकार हुआ। फिर उसी हत्या को आत्महत्या का नाम दे दिया गया।

अकाल में उत्सव उपन्यास में किसान जीवन के नुकता (मृत्यु भोज) की परम्परा का वर्णन मिलता है। हालाँकि इसके पीछे की वजह सामजिक होती है; लेकिन ग्रामीण जीवन में इसको धार्मिक एंगल भी दिया गया है। जिसके अनुसार अगर यह सब नहीं किया जाए तो जाने वाले को स्वर्ग में उस तरह की सुविधा नहीं मिल पाती जैसी नुकता करने पर मिलती है। “गाँव में न केवल शादी बल्कि नुकता (मृत्युभोज) भी बड़े स्तर पर दिए जाने की परंपरा थी। बल्कि कहा तो यह भी जाता था कि भले ही शादी में ख़र्च कम हो जाए लेकिन नुकता तो जोरदार होना चाहिए। रामप्रसाद के पिता भी शादियाँ, नुकते, बीमारियों का इलाज आदि करवाते-करवाते एक दिन खुद

का नुकता करवाने के लिए रामप्रसाद और भागीरथ को छोड़कर चल बसे।"[26] और इस तरह से कई बार किसानों की ज़मीन ऐसे कार्यों में बिक भी जाती हैं।

21वीं सदी के इन उपन्यासों में हमें हिन्दू धर्म की सहिष्णुता के दर्शन भी होते है। जहाँ फाँस और चलती चाकी उपन्यास में फाँस में शिबू-शकुन जैसे हिन्दू परिवारों में यह लचीलापन भी देखने को मिलता है कि पत्नी के धर्म परिवर्तन करने के बाद भी शिबू की प्रतिक्रिया सहज ही रहती है। उस बात को लेकर कोई लड़ाई झगड़ा नहीं होता। वहीँ चलती चाकी का निशांत धार्मिक आस्था को ढ़कोसला मानता है तो उसकी पत्नी का यह कथन हिन्दू धर्म के उसी लचीलेपन का द्योतक हो जाता है। "आप तो पूरे नास्तिक हैं। जिस घर में भगवान के लिए जगह न हो, वो भी कोई घर है। अभी तक तो कुआरे थे, जैसे रहते थे, ठीक था। अब ऐसा नहीं चलेगा। मैं आ गई हूं, मुझे अपने ढंग से करने दो। लोग आएं-जाएंगे, देखेंगे तो क्या कहें कि इसकी बीवी को घर भी ठीक से नहीं रखना आता। देखो तो, रसोई को कैसा बना रखा है। बर्तन भी पूरे नहीं खरीदे हैं। कैसे खाते-पीते थे भगवान जाने। एक नंबर के घोंचू हैं आप तो। गलत नहीं कहते लोग कि बिन घरनी घर भूत का डेरा।"[27] यह इसी लचीलेपन का परिणाम है जहाँ आस्तिक और नास्तिक एक ही घर में पति-पत्नी के रूप में रहते हैं।

निष्कर्षत: उपन्यासों में धर्म अंधविश्वासों के रूप में ही मुख्यत: आया है। धार्मिक कर्मकांडों की व्यर्थता से उत्पन्न सामाजिक कुरूतियों के कारण धर्म परिवर्तन जैसी घटनाएँ भी उपन्यासों का विषय है। सांस्कृतिक परम्पराओं का किसान समाज में प्रेरणादायक और लंबा प्रभाव हो सकता था; लेकिन धार्मिक पाखंडवाद के कारण वे धीरे-धीरे तिरोहित हो जा रही है।

निष्कर्ष

किसानी का सांस्कृतिक द्वंद्व खेती के घाटे का सौदा बनते चले जाने, आधुनिक सुविधाओं के विस्तार, खेती में वैश्विक पूँजीवाद का हस्तक्षेप और नयी पीढ़ी का अपनी

जड़ों से लगाव के अभाव के कारण उत्पन्न हुआ है। साथ ही वैचारिक चेतना के कारण किसानों की नयी पीढ़ी की राजनैतिक समझ भी इस सांस्कृतिक द्वंद्व का कारण है। द्वंद्व से भी खतरनाक और भयानक संकट किसानी से नयी पीढ़ी का मुँह मोड़ लेने का है। किसानी की मूलभूत पूँजी है सामूहिक जीवन पद्धति और किसानी परम्पराएँ जिनके सहरे वह अभावों में भी उत्सव का सा आनंद उठाने की क्षमता रखता है। उपन्यासों में उन सकारात्मक सांस्कृतिक परम्पराओं का वर्णन कम आया है। किसान जीवन को परम्पराएँ और वर्षों से चले आ रहे लौकिक और सांस्कृतिक मूल्यों तक अभी उपन्यासकारों की पहुँच का अभाव ही दिखाई पड़ता है। 'आखिरी छलांग' जैसे उदाहरण बेहद ही कम मिलेंगे जिनमें किसानी के धरातलीय सांस्कृतिक जीवन को दिखाने की सफल कोशिश की गई है। धार्मिक आस्था और अन्धविश्वास किसान समाज का आज भी मुख्य हिस्सा है जिसका कारण ज्ञान संस्थानों की उन तक पहुँच का अभाव है। उपन्यासों में धर्म अंधविश्वासों के रूप में ही मुख्यत: आया है। धार्मिक कर्मकांडों की व्यर्थता से उत्पन्न सामाजिक कुरूतियों के कारण धर्म परिवर्तन जैसी घटनाएँ भी उपन्यासों का विषय है। सांस्कृतिक परम्पराओं का किसान समाज में प्रेरणादायक और लंबा प्रभाव हो सकता था लेकिन धार्मिक पाखंडवाद के कारण वे धीरे-धीरे तिरोहित हो जा रही है। सबसे भयानक वे स्थितियाँ हैं जहाँ किसान समाज में नयी पैदा हुई समस्याओं के वैज्ञानिक समाधानों के बजाय धार्मिक टोनो-टोटकों और भविष्य बताने वाले फर्जी बाबाओं की शरण में जाने की शुरुआत हो गई।

संदर्भ सूची

[1] कर्मेंदु शिशिर, बहुत लंबी राह, यश पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2015, पृ. 130

[2] वही, पृ. 166

[3] किसान सभा का घोषणा पत्र, किसान आन्दोलन की वैचारिक पृष्ठभूमि, स्वामी सहजानंद सरस्वती (संपा. : अवधेश प्रधान), ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, 2012, पृ. 570

[4] सुनील चतुर्वेदी, कालीचाट, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, 2015, पृ. 80-1

[5] मिथिलेश्वर, तेरा संगी कोई नहीं, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, 2018, पृ. 31

[6] संजीव, फाँस, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015, पृ. 17

[7] वही, पृ. 71

[8] प्रेमचंद, हतभागे किसान लेख, ऑनलाइन, हिंदी समय वेबसाईट

[99] शिवमूर्ति, आखिरी छलांग, ऑनलाइन, नॉटनुल वेबसाइट, पृ. 31

[10] वही, पृ. 30-1

[11] वही, पृ. 48

[12] वही

[13] वही

[14] पंकज सुबीर, अकाल में उत्सव, शिवना प्रकाशन, सीहोर, 2022, पृ. 22

[15] संजीव, फाँस, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015, पृ. 56

[16] वही

[17] पी. साईनाथ, तीसरी फसल, तीसरी दुनिया, नोएड़ा, 2003, पृ. 34

[18] संजीव, फाँस, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2015, पृ. 217

[19] वही, पृ. 237

[20] वही, पृ. 90

[21] संजय नवले(संपा), उपन्यासकार संजीव, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018, पृ.85

[22] राजू शर्मा, हलफनामे, सेतु प्रकाशन, नोएडा, 2015, पृ. 47-8

[23] वही, पृ. 48

[24] वही, पृ. 135

[25] वही, पृ. 135

[26] पंकज सुबीर, अकाल में उत्सव, शिवना प्रकाशन, सीहोर, 2022, पृ. 09

[27] सूर्यनाथ सिंह ,चलती चाकी, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2020, पृ. 193-4

उपसंहार

किसानी का पेशा न केवल शारीरिक श्रम का प्रतिनिधित्व करता है; बल्कि मानसिक रूप से भी अन्य लोगों की तुलना में अधिक संघर्षशील है क्योंकि अभाव उनके जीवन का अनिवार्य हिस्सा होते हैं। ऐसा नहीं है कि अभाव और संघर्ष केवल व्यक्तिगत ही हों या क्षेत्र विशेष के किसानों के हिस्से ही आए हों, यह तो किसान परिवार में जन्म लेते ही नियति बन जाते हैं। मनुष्य होने के नाते वह संवेदनाओं के सागर में गोते खाते हुए भी अपने जीवन को सुंदर बनाने का प्रयास करता रहता है। उसके पास अपनी परम्परा से मिली सीख और अनुभव होते हैं जिनके बूते वह कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी जीवन की कई घुमावदार शृंखलाओं और उलझनों से पार पा जाता है। खेती का पेशा उसके लिए जीवन पद्धति की तरह है इसलिए वह आर्थिक नुकसान उठाकर भी उसके साथ ही बना रहना चाहता है। समय और परिस्थियों तथा बाहरी बाजारी दबावों के चलते अनेक बार अनावश्यक विचलनों का सामान करता हुआ भी जीवन की दौड़ में हारता नजर नहीं आता है। आत्महत्या जैसी दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएँ भारतीय किसानों के लिए अभिशाप की तरह है। व्यक्तिगत स्तर और सरकारी प्रयासों के बावजूद भी ऐसी घटनाएँ निरंतर घट ही रही है। जिसका नतीजा यह है कि किसानों की संख्या तेज गति से कम हो रही है। जो लोग पलायन कर जाते हैं वे पहले खेतीहर मजदूर बनते हैं और अंत में शहरी जीवन को अपनाकर दिहाड़ी मजदूर बनने को मजबूर होते हैं। ऐसी परिस्थितियों में वर्षों से चला आ रहा किसान समाज न केवल अपनी अस्मिता खो रहा है बल्कि सांस्कृतिक विविधताओं और सभ्यता के विकास सूत्रों को भी भारी नुकसान हुआ है। ग्रामीण समाज का मूल्यगत ह्रास और किसानी का बिखरना दोनों साथ-साथ चलने वाली प्रक्रियाएँ हैं। किसानी यानी सामूहिकता और सहयोग - जिसके बलबूते पर वर्षों से अस्तित्व बना हुआ है।

उदारीकरण के आगमन के साथ ही कृषि क्षेत्र में अचानक से बड़े बदलाव आए। जिससे कृषि क्षेत्र में उन्नत तकनीकों का आविष्कार हुआ एवं कृषि क्षेत्र में निवेश भी

बढ़ा; परन्तु एक छोटे और सीमांत किसान के लिए यही सब अस्तित्व के लिए खतरा बन गया। एक मध्यमवर्गीय या छोटे किसान के पास बहुत ही कम जमीन होती है। उस जमीन पर फसल उगाकर लाभ कमाना मुश्किल होता है। किसान कर्ज के दुष्चक्र में फँस जाता है और एक बंधुआ मजदूर बन कर रह जाता है। फिर भी किसान हमेशा प्रयासरत रहे हैं कि मौसम की मार हो या साहूकार की कुटिल चाल, वह हर मुसीबत का डटकर सामना करे। एक किसान तब हताश हो जाता है जब उसको कर्ज के इस चक्र से बाहर आने का कोई रास्ता नहीं दिखता। इसके लिए न केवल सरकारी नीतियाँ दोषी है; अपितु किसान का समय के साथ सामंजस्य न बिठा पाना भी है।

समाज, व्यक्ति, भूगोल, इतिहास या फिर वह अन्य प्रयोजननीय विषय, जिनका सीधा सम्बन्ध मानव जीवन से जुड़ा है, वे सब राजनीति के दायरे में आते हैं। किसान समाज राजनीतिक गतिविधियों के प्रति लगभग समय असक्रिय सा ही नजर आता है; लेकिन इससे राजनीतिक अनिवार्यता के कलपुर्जों से उसका नाम बाहर नहीं हो जाता क्योंकि उत्पादन के संसाधन अधिकांशत: किसानों से ही जुड़े होते हैं, जिससे राजनीति संचालित होती है। बहुत बार वह राजनीति का शिकार हो जाता है जिसके कारण अनावश्यक रूप से उसे आर्थिक और मानसिक परेशानियाँ उठानी पड़ती है।

किसानों के पास हजारों सालों की सांस्कृतिक परम्परा है जो समय के साथ नया रूप लेती रहती है। धर्म और संस्कृति का मिला जुला रूप हमें किसानों की सामाजिक परम्पराओं और धार्मिक आस्थाओं के विभिन्न संरचनागत ढाँचों में दिखाई देता है। भूमंडलीकृत समाज में संस्कृति और धर्म को जब नए-नए टैग के साथ बेचा जा रहा है, ऐसे समय में गाँव में रहने वाला किसान समाज ही है जिसके पास वास्तविक जीवन मूल्य बचे हुए हैं। उनके नष्ट होने की प्रक्रिया तेज गति से चल रही है। इसके बावजूद संकट के समय किसान समाज के लिए वे सांस्कृतिक मूल्य जीवनोपयोगी सिद्ध हो रहे हैं और इसी से उनका महत्त्व सिद्ध होता है।

हमारी परम्पराओं और संवेदनाओं के विभिन्न पक्षों को साहित्य अपने साथ लेकर चलता है। वह सास्कृतिक विरासत, राजनीतिक चेतना, सामाजिक परम्पराएँ और मानव जीवन के वे पक्ष जो जीवन मूल्यों का निर्माण करते हैं और मनुष्य को सतत् प्रेरणा देते रहते हैं; उनका खजाना तो होता ही है, साथ ही हमारे आने वाले भविष्य की मूल्यगत यात्रा का दिशासूचक यंत्र भी होता है। किसान जीवन का साहित्य मनुष्य द्वारा अन्न की गंध लिए जाने से लेकर अब तक की यात्रा की न केवल मानसिक दशाओं और वैचारिक द्वन्द्वों का लेखा जोखा है; अपितु किसानी की विकास प्रक्रियाओं का भी अध्ययन है। किसान के दुःख-दर्द, वैचारिक विचलन, आर्थिक समस्याओं और जीवन के उन विविध पक्षों का गवाह और प्रतिबिम्ब तथा आने वाली किसानी संस्कृति के बदलते दृश्यों के बीच मानवीयता की असंख्य कहानियाँ का दस्तावेज किसान साहित्य में मिलता है। इसलिए साहित्य अपने कलेवर में अपने साथी के सुख-दु:खों को अभिव्यक्त करता रहा है। लिखने वाले की सहूलियत के हिसाब से वह अनेक विधाओं के रूप में हमारे सामने प्रकट होता है। उन्हीं विधाओं में उपन्यास विधा जीवन के विविध पक्षों को बड़ी सरलता से पेश करती है । जीवन की छोटी से छोटी भाव संवेदना और चेतना को प्रकट करने का अवकाश सबसे ज्यादा उपन्यास विधा में ही देखने को मिलता है ।

भारत देश की आधी से अधिक आबादी कृषि से जुडी हुई है। प्रथम अध्याय में किसान वर्ग को समझने का प्रयास किया गया है। वह वर्ग जिसके पास अपनी ज़मीन है तथा जिसकी रोजी-रोटी का आधार कृषि तय करती है, वे सभी किसान हैं। अध्याय में भारतीय किसान जीवन की अवधारणा पर चर्चा की गई है। इसमें किसान और कृषक जीवन और किसान आंदोलनों के सैद्धांतिक पक्ष को जानने का प्रयास किया गया है। क्रान्तिकारी आंदोलनों में कृषकों की भूमिका पर भी संक्षेप में विचार किया गया है। आज के संदर्भ में किसान अध्ययन की प्रासंगिकता को समझने की कोशिश की गई है। इसके साथ ही प्रत्येक काल खंड में किसान की सामाजिक और आर्थिक स्थिति को जानने का प्रयास किया गया है। इसके आधार पर कहा जा सकता है कि हमें बड़े पैमाने

पर समाज के सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन को समझने की जरूरत है, जिससे किसानों और कृषि उत्पादन पर असर पड़ा है। भारतीय किसानों की स्थिति में सुधार उनकी आय बढ़ने से ही आ सकता है। अत: इस क्षेत्र में कारगर व प्रभावशाली कदम उठाने की जरुरत है। इसके साथ ही ग्रामीण रोजगार तथा कृषि आधारित उद्योग धंधों की स्थापना की जानी चाहिए। सरकार को बाजार में अनिश्चितता की स्थिति को समाप्त करने तथा एक राष्ट्रीय कृषि बाजार के निर्माण की दिशा में सार्थक प्रयास करने होंगे।

हिंदी उपन्यास लेखन के आरम्भिक चरण में उपन्यास लेखन का उद्देश्य मनोंरजन था। प्रेमचंद के आगमन के बाद वह यथार्थ के धरातल पर आया। प्रेमचंद ने ही हिंदी में सबसे पहले किसान की पीड़ा को समझा। प्रेमचंद के साहित्य में मध्यमवर्ग भी है लेकिन प्रमुख केंद्र किसान रहा। किसानों के संघर्ष को ही प्रेमचंद ने उपन्यास का आधार बनाया। दूसरे अध्याय में किसान जीवन को लेकर हिंदी में लिखे गए उपन्यासों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। उपन्यास विभाजन की सर्वमान्य व्याख्या जिसमें प्रेमचन्द को ही आधार बिंदु माना जाता है; यहाँ भी उसी को आधार माना गया है। प्रेमचन्दपूर्व, प्रेमचन्दकालीन और प्रेमचन्द के पश्चात किसान उपन्यासों के इतिहास का परिचय तथा मुख्य उपन्यासों की कथावस्तु की संक्षिप्त विवेचना भी की गई है। अंतिम बिंदु में शोध के लिए चयनित उपन्यासों के कथानक और विषयवस्तु तथा उपन्यासकारों के जीवन जीवन का परिचय है। नौ उपन्यास इस शोध कार्य के लिए चुने गए हैं, जो निम्न प्रकार हैं - हलफनामें (राजू शर्मा), फाँस (संजीव), अकाल में उत्सव (पंकज सुबीर), आख़िरी छलांग (शिवमूर्ति), कालीचाट (सुनील चतुर्वेदी), तेरा कोई संगी नहीं (मिथलेश्वर), यह गाँव बिकाऊ है (एम. एम. चंद्रा), बहुत लम्बी राह (कुर्मेंदु शिशिर) और चलती चाकी (सूर्यनाथ सिंह)।

हिंदी उपन्यासों में किसान आत्महत्या केवल आर्थिक दबावों में किया जाने वाला आत्मिक पाप न रहकर उदारीकरण के कारण किसान समाज की संरचना में

आए बदलावों और सरकारी असहायता की भी अभिव्यक्ति है। एक तरफ पूँजी बाजार का अपार धनबल तो दूसरी तरफ वर्षों से आर्थिक रूप से विपन्न किसान-दोनों के बीच जिंदगी और मौत का खेल यह उपन्यास दिखाते हैं, जिसमें धन पशुओं को अपने धन संचयन की गति बढानी है तो किसानों को जिजीविषा बनाए रखने की जद्दोजहद करनी पड़ती दिखाई देती है। किसान जीवन से पलायन की पीड़ा दो रूपों में हमारे सामने आती है जिसमें पहला रूप है नयी पीढ़ी द्वारा खेती को घाटे का सौदा मानकर हमेशा के लिए शहरों की ओर गमन कर जाना और दूसरा रूप जिसमें किसान मजदूर बनकर मजबूरी में शहर की ओर भागता है। कई उपन्यासकारों ने प्रगतिशील दृष्टि अपनाते हुए वापस लौटकर किसानी को पुन: आबाद करवाने की कोशिश की है जो कि यथार्थ स्थितियों से काफी दूर है। 21 वीं सदी के हिंदी उपन्यास किसान जीवन की परम्पराओं और रुढियों के अप्रासंगिक होते जाने और उसके बदलें में नए जीवन मूल्य अपनाए जाने की प्रवृति को रेखांकित तो करते हैं; लेकिन उदारीकरण और भूमंडलीकरण के वास्तविक प्रभाव आने अभी बाकी हैं। उपन्यासों में जो परम्परा और मूल्य संक्रमण दिखाया गया है वह केवल लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था तथा शिक्षा व्यवस्था के कारणों की ही व्याख्या करते हुए दिखाई देते हैं। वैश्विक पूँजीवाद ने जिस रूप से किसानी समाज में संरचनागत बदलाव किए हैं, वह हिंदी उपन्यासों में आना अभी बाकी है।

तकनीकी विकास के कारण कमजोर और गरीब किसान काफी पीछे रह गए और किसानों के मध्य ही भेद उत्पन हो गया। चयनित प्रत्येक उपन्यास में ऐसे पात्रों की भरमार है जहाँ किसान समाज के बीच आर्थिक असमानता दिखाई पड़ती है। खेती की समझ को जिन किसानों ने आधुनिक तरीके से अपना लिया, वह सफल हो गया और जो नहीं अपना पाया वह अभी भी एक पीढ़ी पीछे ही नजर आ रहा है। औधोगिक प्रगति ने भी किसानों की जमीनें हड़पने और खेती से निकले गए श्रमबल के उपयोग की प्रवृत्ति ने भी ने किसानों को मजदूर बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। खेती में

जीनोम बीजों और रासायनिक खादों के कारण बर्बाद हुए किसानों की वास्तविक दशाओं का वर्णन 'फाँस' उपन्यास में विस्तार से आया है । ऋण की समस्या कोई नयी नहीं है लेकिन बैंकों की किसानों के प्रति असंवेदनशीलता तथा सरकार के उदास रवैये ने किसानों को गहरे अधंकार की ओर धकेला है। प्राकृतिक आपदाएँ इस साड़ी परेशानियों को ओर भी गाढ़ा कर देती है। बल्ली जैसे खुशहाल किसान बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और ऋण के चलते आत्महत्या की ओर अग्रसर होता दिखाई पड़ता है।

भूमंडलीय किसान राजनीति को विस्तार से हिंदी उपन्यास अभी बहुत अधिक मात्रा में दिखा नहीं पाए हैं लेकिन फिर भी 'फाँस' जैसे एक दो उपन्यास भी गुणात्मक रूप से उन स्थितियों को उजागर करने में सक्षम है जिनकी वजह से विदर्भ जैसा क्षेत्र आज भयंकर भूखमरी की चौखट पर खड़ा है। उपन्यास न केवल पूँजीपतियों की धन पिपासा के कारण पिसते किसान को दिखाता है; बल्कि लोकतान्त्रिक मूल्यों पर बनी सरकारों की विश्वसनीयता पर भी सवाल खड़े करता है।

हिंदी उपन्यासों में जिस राजनीतिक असंवेदनशीलता और प्रशासनिक ज्यादातियों का उल्लेख हुआ है वे सब किसानों के जीवन से सीधे तौर पर जुडी हुई है। लेखक अंत में इसी दिशा में पाठको को ले जाना चाहते हैं कि जब तक राजनीति किसानों के प्रति ईमानदार और संवेदनशील नहीं होगी तब तक न तो खेती की दशा सुधरने वाली है और न ही खत्म होती किसानी को बचाया जा सकता है। किसानी एक जीवन शैली है जो राजनीति अनिच्छा की शिकार होने के कारण आजादी के 75 साल बीत जाने के बाद भी मुख्यधारा का हिस्सा नहीं बन पायी। हिंदी उपन्यास दुनिया में अभी भी किसान आंदोलनों को ही आधार बनाकर लिखे गए उपन्यासों का अभाव ही है; लेकिन चयनित उपन्यासों में थोडा बहुत जिक्र आया है वह किसानों के संघर्ष और प्रयासों को महीनता से पकड़ने की कोशिश करते दिखते हैं। जिस क्षेत्र के किसान समृद्ध और बड़ी जोतों वाले हैं, वहाँ ज्यादा संगठित हैं और किसान आंदोलनों की संख्या और

सफलता भी दिखती है। वहीं जिस क्षेत्र के किसान गरीब और खेतीहर मजदूर हैं वे व्यक्तिगत प्रयासों के साथ छिट-पुट आंदोलनों तक ही सीमित हैं।

किसानी का सांस्कृतिक द्वंद्व खेती के घाटे का सौदा बनते चले जाने, आधुनिक सुविधाओं के विस्तार, खेती में वैश्विक पूँजीवाद का हस्तक्षेप और नयी पीढ़ी का अपनी जड़ों से लगाव के अभाव के कारण उत्पन्न हुआ है। साथ ही वैचारिक चेतना के कारण किसानों की नयी पीढ़ी की राजनैतिक समझ भी इस सांस्कृतिक द्वंद्व का कारण है। द्वंद्व से भी खतरनाक और भयानक संकट किसानी से नयी पीढ़ी का मुँह मोड़ लेने का है। किसानी की मूलभूत पूँजी है सामूहिक जीवन पद्धति और किसानी परम्पराएँ जिनके सहरे वह अभावों में भी उत्सव का सा आनंद उठाने की क्षमता रखता है। उपन्यासों में उन सकारात्मक सांस्कृतिक परम्पराओं का वर्णन कम आया है। किसान जीवन को परम्पराएँ और वर्षों से चले आ रहे लौकिक और सांस्कृतिक मूल्यों तक अभी उपन्यासकारों की पहुँच का अभाव ही दिखाई पड़ता है। 'आखिरी छलांग' जैसे उदाहरण बेहद ही कम मिलेंगे जिनमें किसानी के धरातलीय सांस्कृतिक जीवन को दिखाने की सफल कोशिश की गई है। धार्मिक आस्था और अन्धविश्वास किसान समाज का आज भी मुख्य हिस्सा है जिसका कारण ज्ञान संस्थानों की उन तक पहुँच का अभाव है। उपन्यासों में धर्म अंधविश्वासों के रूप में ही मुख्यत: आया है। धार्मिक कर्मकांडों की व्यर्थता से उत्पन्न सामाजिक कुरूतियों के कारण धर्म परिवर्तन जैसी घटनाएँ भी उपन्यासों का विषय है। सांस्कृतिक परम्पराओं का किसान समाज में प्रेरणादायक और लंबा प्रभाव हो सकता था लेकिन धार्मिक पाखंडवाद के कारण वे धीरे-धीरे तिरोहित हो जा रही है। सबसे भयानक वे स्थितियाँ हैं जहाँ किसान समाज में नयी पैदा हुई समस्याओं के वैज्ञानिक समाधानों के बजाय धार्मिक टोनो-टोटकों और भविष्य बताने वाले फर्जी बाबाओं की शरण में जाने की शुरुआत हो गई।

निष्कर्षत: इस शोध प्रबंध में इक्कीसवी सदी के हिंदी उपन्यासों में आये किसान जीवन मूल्यों, संस्कृति, परम्परागत कृषि व्यवस्थाओं, सामाजिक जीवन की संरचना

और उसके अनेक घटकों, किसानी के प्रति घटते जा रहे नयी पीढ़ी के लगाव, आत्महत्याओं के कारकों, आर्थिक विपन्नता के मूलभूत कारणों, किसान समाज में बची हुई सांस्कृतिक चेतना और बदलती हुई राजनीतिक चेतना को उपन्यासों में आयी घटनाओं और पात्रों के माध्यम से विश्लेषित किया गया है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

आधार ग्रन्थ

1. कर्मेन्दु शिशिर, बहुत लंबी राह, यश प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003
2. राजू शर्मा, हलफनामे, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006
3. शिवमूर्ति, आखिरी छलांग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
4. सूर्यनाथ सिंह ,चलती चाकी, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011
5. सुनील चतुर्वेदी, कालीचाट, अंकिता प्रकाशन, गाजियाबाद, 2015
6. संजीव, फाँस, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015
7. पंकज सुबीर, अकाल में उत्सव, शिवना प्रकाशन, सिहोर, 2017
8. मिथलेश्वर, तेरा संगी कोई नहीं, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, 2018
9. एम. एम. चंद्रा, यह गाँव बिकाऊ है, डायमंड बुक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2019

सहायक ग्रन्थ

1 अभय कुमार दुबे (संपादक), भारत का भूमण्डलीकरण, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003

2 अयोध्या सिंह, भारत का मुक्ति संग्राम, शिल्पी ग्रन्थ प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2012

3 अरुण प्रकाश, उपन्यास के रंग, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, 2013

4 एस. आर. हरनोट, हिडिम्ब, आधार प्रकाशन, पंचकुला, 2011

5 कमलकांत त्रिपाठी, बेधखल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1997

6 किशन पटनायक, किसान आन्दोलन: दशा और दिशा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006

7 गोपाल राय, हिंदी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016

8 चंद्रकांत, उपन्यास स्थिति और गति, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, 1977

9 टोनी जोसेफ, आरम्भिक भारतीय, मंजुल पब्लिशिंग, दिल्ली, 2018

10 तुलसी दास, कवितावली, गीता प्रेस, गोरखपुर, 2017

11 नरेश गौतम, भारत में ग्रामीण समाज, महात्मा गाँधी विश्वविद्यालय, चित्रकूट, 2016

12 नामवर सिंह, आधुनिक हिन्दी उपन्यास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010

13 नामवर सिंह, प्रेमचंद और भारतीय समाज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017

14 नन्द दुलारे वाजपयी (संपा.), सूरसागर भाग 1, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, ई-बुक

15 पी. साईनाथ, तीसरी फसल : भारत के निर्धनतम जिलों की दास्तान, (हिंदी अनुवाद : आनंद स्वरूप वर्मा), तीसरी दुनिया, नोएडा, 2003

16 पुष्पपाल सिंह, 21 वीं शती का हिन्दी उपन्यास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016

17 प्रेमचन्द, कर्मभूमि, डायमंड पाकेट बुक्स, दिल्ली, 2020

18 बी.रत्ना कुमारी, फॉर्मर सुसाइड इन इंडिया इंपेक्ट ऑन वुमेन, सीरियल पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2009

19 बिपिनचन्द्र, भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष, हिन्दीमाध्यम, कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली, 2010

20 भारतीय इतिहास के कुछ विषय, कक्षा-12, एन.सी.आर.टी.,नई दिल्ली, 2015

21 भीमसेन त्यागी, जमीन, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2004

22 मधुरेश, समय समाज और उपन्यास, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2013

23 राघव शरण शर्मा (सम्पा.), स्वामी सहजानंद सरस्वती भाग-2, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, 2003

24 रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

25 रामविलास शर्मा, प्रेमचंद और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

26 रामविलास शर्मा, मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

27 रामाज्ञा शशिधर, बुरे समय में नींद, अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद, 2011

28 रामचन्द्र शुक्ल, सूरदास, संस्थान प्रकाशन, दिल्ली, 2016

29 रामदरश मिश्र, हिंदी उपन्यासः एक अंतर्यात्रा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016

30 रामविलास शर्मा, प्रेमचंद और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018

31 रामकिशोर मेहता, भारत में किसान दुर्दशा, उद्भावना प्रकाशन, गाजियाबाद, 2018

32 वीरेन्द्र जैन, डूब, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2014

33 रामाज्ञा शशिधर, किसान आंदोलन की साहित्यक जमीन, अंकिता प्रकाशन, गाजियाबाद, 2020

34 स्वामी सहजानन्द सरस्वती (संपा. : अवधेश प्रधान), किसान आन्दोलन की वैचारिक पृष्ठभूमि, ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, 2012

35 सुरेन्द्र चौधरी, साधारण प्रतिज्ञाः अंधरे से साक्षात्कार, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, 2009

36 हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, 2003

कोश ग्रन्थ

1. रामचन्द्र वर्मा (संपा.), मानक हिंदी कोश, हिंदी साहित्य सम्मलेन, प्रयागराज

2. श्यामसुन्दरदास बी.ए. (संपा.), हिंदी शब्द सागर, द्वितीय भाग, काशी नागरी प्रचारिणी सभा

पत्र-पत्रिकाएँ

1 अपनी माटी (किसान विशेषांक), गजेन्द्र पाठक, अभिषेक रोशन (संपा.), सितंबर, 2017

2 कथन, संज्ञा उपाध्याय (संपा.), नई दिल्ली, जनवरी-मार्च 2019

3 तद्भव, किसान विशेषांक, अटल तिवारी (संपा.), सितंबर, 2018

4 फिलहाल, प्रीति सिन्हा (संपा.), पटना, जनवरी-फरवरी, 2018

5 सबलोग, किशन कालजयी (संपा.), नई दिल्ली, अगस्त, 2017

6 हंस, राजेंद्र यादव (संपा.), नई दिल्ली, अगस्त, 2006

वेबसाईट

1. bhadas4media.com

2. downtoearth.org.in

3. e-abhivykti.com

4. punjab.punjabkesari.in

5. samalochan.com

6. thelallantop.com

7. thewire.in

शोधार्थी का जीवन वृत्त

नाम	: रघुवीर दान चारण	
पिता का नाम	: श्री बोदू दान चारण	
माता का नाम	: श्रीमती दरियाँव कँवर	
पता	: रामपुरा, सीकर, राजस्थान (भारत)	
जन्मतिथि		:14.07.1995
शैक्षणिक योग्यता		a) 10^{th} (2010) 1^{st}
		b) 12^{th} (2012) 1^{st}
		c) B.A. (2015) 2^{nd}
		d) B.Ed (2017) 1^{st}
		e) M.A. (2019) 1^{st}
		f) CTET (2019)
		g) NET (2018)
		f) JRF (2020)
मोबाइल नम्बर		: 9928494969
ई-मेल	: rdcharan777@gmail.com	

प्रकाशन

(क) हिंदी उपन्यास लेखन परम्परा और किसान जीवन, जनकृति मासिक पत्रिका, अंक:120-122 (संयुक्त अंक), अप्रैल-जून, 2025

(ख) 21वीं सदी के हिंदी किसान उपन्यासों में महिला किसान, शोध ऋतु तिमाही पत्रिका, अंक: 41, जुलाई-सितम्बर, 2025

संगोष्ठी में पत्र वाचन

(क) इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में किसान विमर्श, आयोजक: राम चमेली चड्ढा विश्वास गर्ल्स कॉलेज, गाजियाबाद एवं गीना देवी शोध संस्थान, भिवानी के संयुक्त तत्वाधान में आयोजित, 24 अप्रैल, 2023

(ख) इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में किसान आत्महत्या, आयोजक: VELS चेन्नई, 13-14 सितम्बर, 2025

रघुवीर दान चारण

ISSN 2454-2725
Peer Reviewed Journal

अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका

जनकृति

संपादक: डॉ. कुमार गौरव मिश्रा

Photo by Josema   IPI Value (2.65)

www.jankriti.com

अप्रैल-जून 2025

जनकृति

120-122 (सयुंक्त अंक)

जनकृति

अंतरानुशासनिक पूर्व- समीक्षित द्विभाषी अंतरराष्ट्रीय मासिक पत्रिका

वर्ष 10, अंक 120-122 **अप्रैल-जून 2025**

परामर्श मंडल

डॉ. सुधा ओम ढींगरा, प्रो. करुणाशंकर उपाध्याय, प्रो. रमा, डॉ. हरीश नवल, प्रो. हरीश अरोड़ा, डॉ. प्रेम जन्मेजय, डॉ. कैलाश कुमार मिश्रा, प्रो. शैलेन्द्र कुमार शर्मा, प्रो. कपिल कुमार, प्रो. जितेंद्र श्रीवास्तव प्रो. रत्नेश विश्वक्सेन

संपादक

डॉ. कुमार गौरव मिश्रा
(सहायक प्रोफ़ेसर, वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा, बिहार)

सहायक संपादक

प्रो. पुनीत बिसारिया
(प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, बुंदेलखंड विश्वविद्यालय, उत्तर प्रदेश)

संपादन मण्डल/विशेषज्ञ समिति

डॉ. सदानन्द काशीनाथ भोसले (प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, सावित्रीबाई फुले पुणे विद्यापीठ , महाराष्ट्र)
डॉ. दीपेन्द्र सिंह जाड़ेजा (प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, महाराजा सयाजीराव बड़ौदा विश्वविद्यालय, वड़ोदरा)
डॉ. नाम देव (प्रोफ़ेसर, किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय)
डॉ. प्रज्ञा (प्रोफ़ेसर, किरोड़ीमल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय)
डॉ. रचना सिंह (एसोसिएट प्रोफ़ेसर, हिन्दू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय)
डॉ. रूपा सिंह (एसोसिएट प्रोफ़ेसर, बाबु शोभा राम गोवेरमेंट आर्ट कॉलेज, राजस्थान)
डॉ. पल्लवी (सहायक प्रोफ़ेसर, तेजपूर विश्वविद्यालय, असम)
डॉ. मोहसिन खान (प्रोफ़ेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, जेएसएम कॉलेज, रायगढ़, महाराष्ट्र)
डॉ. अखिलेश कुमार शर्मा (सहायक प्रोफ़ेसर, मिजोरम विश्वविद्यालय, मिजोरम)
डॉ. प्रवीण कुमार (सहायक प्रोफ़ेसर, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, मध्य प्रदेश)
डॉ. मुन्ना कुमार पाण्डेय (एसोसिएट प्रोफ़ेसर, सत्यवती कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय)
डॉ. चंद्रेश कुमार छतलानी (सहायक प्रोफ़ेसर, जेआरएन राजस्थान विद्यापीठ, राजस्थान)
डॉ. अंबिकेश त्रिपाठी (सहायक प्रोफ़ेसर, गांधी एवं शांति विभाग, महात्मा गांधी केन्द्रीय विश्वविद्यालय)
डॉ. ज्ञान प्रकाश (सहायक प्रोफ़ेसर, बिहार)

संपादन सहयोग

डॉ. चन्दन कुमार (दिल्ली)
डॉ. राकेश कुमार (दिल्ली)

संस्थापक सदस्य

कविता सिंह चौहान (मुंबई)
डॉ. जैनेन्द्र कुमार (बिहार)

अंतरराष्ट्रीय सदस्य

प्रो. अरुण प्रकाश मिश्रा (स्लोवेनिया), डॉ. इंदु चंद्रा (फ़िजी), डॉ. सोनिया तनेजा (स्टेनफोर्ड यूनिवर्सिटी), डॉ. अनिता कपूर (अमेरिका), राकेश माथुर (लंदन), रिद्मा (श्री लंका), मीना चोपड़ा (कैनेडा), पूजा अनिल (स्पेन)

इतिहास

महात्मा गाँधी के सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह के अनुप्रयोग : भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन 1917-1947 के संदर्भ में / रवि कुमार 407

समसामयिक-विमर्श

Addressing Challenges in the Agricultural Sector: An Integrative Approach/ Madhavi Moni K, Ashutosh Yadav, Shailu Singh, Anurag Kakkar 418

A Study on Advantages of Intellectual Property Rights for Creative Minds / Mr. Mige Kambu, Dr. Shriprakash Pal 429

भारतीय ज्योतिष के माध्यम से रोग निदाल और निवारण / डॉ. चंद्रेश कुमार छतलानी 438

साहित्यिक-विमर्श

हिंदी साहित्य और 21वीं सदी में पुरुष विमर्श की प्रासंगिकता / डॉ. गोविंद कुमार धारीवाल 457

हिंदी उपन्यास लेखन परम्परा और किसान जीवन / रघुवीर दान चारण, डॉ. अखिलेश कुमार शर्मा 465

डॉ.सूर्यबाला का व्यंग्य संसार / अनिकेत गौतम 478

सूरदास के काव्य में स्त्री और प्रेमसाधना / डॉ. वैशाली पाचुन्दे 493

विस्थापन और अस्मिता की तलाश : उषा प्रियंवदा की प्रवासी स्त्रियों का समाज-मनोवैज्ञानिक अध्ययन / सलमान, आचार्य पी. राजरत्नम 503

मुक्तिबोध की कविता ‘अंधेरे में’ का अंधेरा / निर्मल कुमार, शनि पाण्डेय 514

भारतीय नवजागरण एवं पुनर्जागरण में परस्पर अंतर्संबंध (हिंदी साहित्य के विशेष संदर्भ में) / डॉ. शिवानी पंवार 527

प्रभाकर माचवे की कविताओं में प्रेम, सौंदर्य और प्रकृति चित्रण / राजीव यादव 539

फादर पीटर पौल एक्का कृत “मौन घाटी” उपन्यास में आदिवासी जीवन का सामाजिक-सांस्कृतिक यथार्थ और प्रतिरोध का स्वर / डॉ० अनुपम भारती 555

बसने, उजड़ने और उचटने की त्रासद झेलते कश्मीर में धर्म के विकास का इतिहास / प्रियंका प्रियदर्शिनी 566

अज्ञेय के साहित्य में अध्यात्म : एक विश्लेषणात्मक अध्ययन / मुकुंद शर्मा 578

थॉमस हार्डी के आँचलिक उपन्यासों में चित्रित सांस्कृतिक वातावरण / डॉ. राखी बालगोपाल 590

मनु शर्मा कृत 'कृष्ण की आत्मकथा' उपन्यास में आधुनिकता के स्वर / पवन कुमार 609

पंडित लखमीचंद के सांगों में ज्ञान तत्व मीमांसा / डॉ。 हरीन्द्र कुमार 619

मनु शर्मा के पौराणिक उपन्यासों में कुंती और गांधारी के मातृत्व की भूमिका / ललिता कश्यप, डॉ. सरल अवस्थी 631

कश्मीर केंद्रित हिन्दी उपन्यास 'दर्दपुर' में अभिव्यक्त स्त्री जीवन / मीनाक्षी गिरि 639

राजस्थान की चारण साहित्य-परम्परा में सांस्कृतिक चेतना / भवानी शंकर कुमावत 648

वैश्वीकरण के परिपेक्ष्य में ‘पहाड़चोर’ उपन्यास / कोमल 657

‘पचपन खंभे लाल दीवारें’ में स्त्री जीवन की समस्या/ नन्दनी कुमारी 666

हिंदी उपन्यास लेखन परम्परा और किसान जीवन

रघुवीर दान चारण
शोधार्थी, हिंदी विभाग, मिजोरम विश्वविद्यालय, आइजोल
ई-मेल- rdcharan777@gmail.com
मोबाइल नंबर- 9928494969

डॉ. अखिलेश कुमार शर्मा
सहायक आचार्य, हिंदी विभाग, मिजोरम विश्वविद्यालय,
आइजोल
मोबाइल नंबर- 9413224221
ई-मेल- akhileshksharma82@gmail.com

सारांश

हिंदी उपन्यास परम्परा में प्रेमचन्द से पूर्व छिटपुट रूप से किसान जीवन का उल्लेख मिलता है; परन्तु किसान जीवन के सम्पूर्ण ताने-बाने को लेकर उपन्यास लेखन की शुरुआत प्रेमचंद करते हैं। इसके उपरान्त भारत के स्वाधीन होने के साथ ही किसानों को भी अपनी उन्नति का पथ नज़र आने लगा; लेकिन जब धरातल पर यथार्थ से सामना हुआ तो स्थिति कुछ और ही थी। जो पहले जमींदार थे, अब वे सत्ता में हैं। किसान की यह दयनीय स्थिति उदारीकरण के बाद और अधिक विकराल हो गई। आधुनिकता के इस दौर में जहाँ एक ओर किसान औद्योगीकरण एवं बाजारवाद के चरमोत्कर्ष के बीच अपनी प्रतिष्ठा को स्थापित करने हेतु संघर्षरत है। वहीँ दूसरी ओर सरकारी भ्रष्ट तंत्र, पूँजीवाद और बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने मिलकर एक ऐसे भंवरजाल का निर्माण किया है जिसमें किसान को स्वयं अपनी जीवन लीला समाप्त करने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग दिखाई नहीं देता। हिंदी उपन्यास परम्परा में किसान की प्रतिष्ठा के इस संघर्ष में उसके पूरे परिवार को जूझते हुए स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

बीज शब्द : *जमींदार, भूमि अधिग्रहण, भारतीय, परम्परा, ग्रामीण, संस्कृति*

शोध आलेख

मानव सभ्यता की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परम्परा की सटीक छवियाँ को अभिव्यक्त करने का सबसे सशक्त माध्यम साहित्य की उपन्यास विधा है। उपन्यास विधा का केनवास बड़ा होता है। जिसमें किसान जीवन से जुड़े सभी पलों को अभिव्यक्त करने में आसानी होती है। इन्हीं पलों को हिंदी साहित्य की उपन्यास परम्परा के विभिन्न कालखंडों में उल्लेखित किया गया है -

प्रेमचंदपूर्व हिंदी उपन्यास परम्परा में किसान जीवन : इस दौर के लेखक अपनी रुचि के आधार पर उपन्यास लेखन कर रहे थे। इनके पास न कोई पूर्व की परम्परा थी, न कोई निश्चित प्रणाली। इस समय के लेखकों में सिर्फ एक समानता थी। ये सभी खड़ी बोली में लेखन कर रहे थे। इन उपन्यासों में किसान जीवन का छिटपुट वर्णन मिलता है।

किशोरी लाल गोस्वामी के उपन्यास 'अंगूठी का नगीना' में जमींदारों की जीवन शैली का वर्णन है। इसके साथ ही जमींदारों द्वारा लगान वसूलने का भी जिक्र मिलता है। इनके बाद लज्जा राम मेहता ने 'हिन्दू गृहस्थ' में किसान जीवन में कर्ज की समस्या को उजागर किया है। इनके अतिरिक्त बालकृष्ण गुप्त के 'गुप्त बेरी' और भुवनेश्वर प्रसाद के 'बलवंत भूमिहार' में भी किसान जीवन का उल्लेख मिलता है।

प्रेमचंदयुगीन हिंदी उपन्यास परम्परा में किसान जीवन : हिंदी उपन्यास के क्षेत्र में प्रेमचंद ने सामाजिक यथार्थ के विषयों को उपन्यास लेखन का मुख्य आधार बनाया। इससे परवर्ती उपन्यासकारों को विचार-चेतना का

एक प्रकाश पुंज मिला। प्रेमचंद की इसी परम्परा का मूल्यांकन करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि "प्रेमचंद शताब्दियों से पददलित, अपमानित और उपेक्षित कृषकों की आवाज थे।"[1]

प्रेमचंद भारतीय समाज की समस्याओं में सुधार की आकांक्षा रखते है; लेकिन समाज के अन्य वर्गों की तुलना में किसान जीवन का चित्रण प्रेमचंद ने अधिक किया है। इस सम्बन्ध में डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा कि "हर कोई जानता है कि प्रेमचंद ने समाज के सभी वर्गों की अपेक्षा किसानों के चित्रण में सबसे अधिक सफलता पाई है। वे हर तरह से किसानों को पहचानते थे, उनके विभिन्न आर्थिक स्तर, उनकी विभिन्न विचार-धाराएँ, उनकी विभिन्न सामाजिक समस्याएँ- वे किसान जीवन के हर कोने से परिचित थे।"[2]

किसान जीवन पर लिखा गया प्रथम हिंदी उपन्यास 'प्रेमाश्रम' है। इसमें तात्कालिक समय के जमींदार और किसान के मध्य के संबंध को दर्शाया गया है। यह संबंध एक पीढ़ी का न होकर पीढ़ी दर पीढ़ी चलने वाला है। प्रेमचंद इस उपन्यास में तीन पीढ़ी के जमींदारों और उनके व्यवहार परिवर्तन का चित्रण करते हैं। इस उपन्यास में एक ओर जमींदार है जिसके साथ पुलिस, पटवारी और पूरा भ्रष्ट सरकारी तंत्र है तो दूसरी ओर इस शोषण और बेग़ार के विरुद्ध डटकर खड़े किसान हैं। इसके सम्बन्ध में नामवर सिंह लिखते हैं कि "प्रेमाश्रम में मनोहर, बलराज, क़ादिर जैसे ग़रीब किसान चरित्र नई चेतना के साथ पहली बार भारतीय साहित्य में उदित होते हैं। 'प्रेमाश्रम' बेगार के खिलाफ़ अवध के किसानों के सक्रिय विरोध की पहली आवाज़ है, जिसमें आगे चलकर लगानबन्दी का भी नारा बुलन्द किया जाता है।"[3]

प्रेमचंद ने भूमि अधिग्रहण की समस्या को लेकर 'रंगभूमि' उपन्यास लिखा। जहाँ मुख्य पात्र सूरदास के वही ग्रामीण संस्कार है जो ज़मीन को लेकर एक किसान के होते हैं। जिसका मानना है कि धरती माँ होती है और माँ बेचीं नहीं जाती। प्रेमचन्द का सूरदास केवल एक सामान्य कथा चरित्र नहीं; बल्कि उन सभी किसानों का प्रतीक था जो भूखे रह सकते हैं, जमींदारों के अत्याचार सह सकते है; लेकिन अपनी ज़मीन को नहीं बेचते। दूसरी तरफ है जानसेवक। जो पूँजीवादी सोच का प्रतीक है जिसका एक मात्र उद्देश्य लाभ कमाना है। इसके सम्बन्ध में रामविलास शर्मा कहते हैं कि "इस तरह अंग्रेजी राज किसानों की ज़मीन उन्ही के खून से तर करके अपने वफ़ादार दोस्त जॉन सेवक को भेंट करता है।"[4] इस पूँजीवाद का एक स्वरूप स्वदेशी भी है जो जमींदार और सामंत के रूप में है और जॉन के साथ खड़े हैं।

प्रेमचंद ने 'कर्मभूमि' उपन्यास में तात्कालिक समय की सामाजिक समस्याओं का वर्णन किया है। कर्मभूमि उपन्यास का प्रमुख पात्र अमरकांत किसानों पर जमींदारों के शोषण के विरुद्ध आन्दोलन करता है और जेल भी जाता है। इस उपन्यास की प्रमुख विशेषता यह रही कि प्रेमचंद ने पहली बार मजदूर, किसान और विद्यार्थियों को एक साथ आन्दोलन करते हुए दिखाया है। इसी का वर्णन करते हुए रामविलास शर्मा लिखते हैं कि "इसके बाद भी नौजवानों ने अनेक बार मजदूरों व किसानों के साथ मिलकर अंग्रेजों का मुकाबला किया था। प्रेमचंद ने राष्ट्रीय आन्दोलन की एक महत्वपूर्ण कड़ी को पकड़ा था और उसका यहाँ चित्रमय वर्णन किया है।"[5]

प्रेमचंद का किसान जीवन को लेकर लिखा गया सबसे महत्वपूर्ण उपन्यास गोदान है। जहाँ एक गाय पालने की इच्छा ने होरी के जीवन में

भूचाल ला दिया। इस छोटी सी इच्छा ने होरी से बैल, ज़मीन और किसानी तीनों छीन ली और अंत में जीवन भी। गोदान के रचनाकाल से पूर्व जमींदारों और अंग्रजों के विरुद्ध किसानों के द्वारा अनेक आन्दोलन किए जा चुके थे। जमींदारों को भी यह लगने लगा था कि अब पहले की तरह किसानों का शोषण नहीं किया जा सकता। अत: उन्होंने इस बार भावनात्मक रूप से होरी जैसे किसानों को बहलाना शुरू किया। जहाँ पर रायसाहब खुद को दयालु और मजबूर दिखाने का प्रयास करते हैं। इसी का वर्णन करते हुए रामविलास शर्मा लिखते हैं कि “गोदान में किसानों के शोषण का दूसरा ही रूप है। यहाँ सीधे-सीधे रायसाहब के कारिन्दें होरी का घर लूटने नहीं पहुँचते। लेकिन उसका घर जरुर लूट जाता है।”[6]

प्रेमचंद के समकालीन उपन्यासकार शिवपूजन सहाय ने अपने उपन्यास ‘देहाती दुनिया’, जयशंकर प्रसाद ने ‘तितली’ तथा सूर्यकान्त त्रिपाठी ‘निराला’ ने ‘अलका’ उपन्यास में किसान जीवन का उल्लेख किया हैं

प्रेमचंदोत्तर हिंदी उपन्यास परम्परा में किसान जीवन : प्रेमचंद के बाद भी हिंदी उपन्यासकारों ने किसान और ग्रामीण संस्कृति को आधार बनाकर लेखन कार्य जारी रखा। प्रेमचंद के गुजर जाने के एक दशक बाद ही भारत स्वाधीन हो गया। परम्परागत खेती धीरे- धीरे खत्म हो रही थी। गाँव में जातिगत भेदभाव ज्यों का त्यों बना हुआ था। प्रेमचंद के बाद नागार्जुन एवं फणीश्वर नाथ रेणु ने किसान और गाँव की इसी समस्या उपन्यास लेखन का केंद्र बनाया। नागार्जुन ने ‘रतिनाथ की चाची’ में जमींदारों द्वारा किसानों पर अत्याचार को दिखाया है। जहाँ किसान को कृषि भूमि के लिए भी बेग़ार करनी पड़ती है। इस उपन्यास में किसान के मजदूर बनने की स्थिति एवं किसानों का विरोध प्रदर्शन दिखाई पड़ता है।

नागार्जुन ने 'बलचनमा' उपन्यास में एक ऐसे परिवार का चित्रण किया है जहाँ सभी सदस्य मजदूर हैं। "बलचनमा की कथा वहाँ से शुरू होती है जहाँ गोदान समाप्त होता है, यानी मजदूर से। बलचनमा ने होश भी नहीं सँभाला था कि जमींदार का मजदूर होने के लिए बाध्य होना पड़ा।"[7]

फणीश्वर नाथ रेणु के प्रसिद्ध उपन्यास 'मैला आँचल' में गाँव के जातिगत भेदभाव, आर्थिक विषमता एवं किसानों पर जमींदारों के शोषण का यथार्थ चित्रण है। जहाँ समाज का प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी वर्ग का हिस्सा बन गया है। "मेरीगंज की सारी धरती दो-तीन आदमियों के अधिकार में है। शेष ग्रामीण या तो खेतिहर मजदूर हैं या बटाईदारी पर खेती करते हैं।"[8] जिससे उच्च वर्ग और निम्न वर्ग तथा किसान वर्ग और जमींदारों के बीच संघर्ष की स्थिति दिखाई देती है।

रेणु के दूसरे उपन्यास 'परती परिकथा' के नायक जितेन्द्र कोसी नदी घाटी परियोजना के माध्यम से गाँव की हजारों एकड़ की परती भूमि को कृषि योग्य बनाने का प्रयास करता है। इस संबंध में बच्चन सिंह लिखते हैं कि "परानपुर गाँव की हजारों एकड़ बंध्या धरती को उपजाऊ बनाने की मुख्य कथा के साथ गीता मिश्र के डायरीवृत्त को मिलाकर दो पीढ़ियों के अंतराल को रचनात्मक धरातल पर चित्रित किया गया है।"[9] यह उपन्यास एक ओर जितेन्द्र के किसान जीवन को उन्नत बनाने के सपने को प्रकट करता है तो दूसरी ओर गाँव के ही लोगों की पिछड़ी मानसिकता का वर्णन करता है।

किसान जीवन को लेकर शिवप्रसाद सिंह ने 'गली आगे मुड़ती है' उपन्यास लिखा। इसमें नई पीढ़ी के किसान पुत्र का किसानी से अलगाव का वर्णन किया गया है। इस अलगाव का कारण है- नई पीढ़ी को किसानी

में अपना भविष्य नज़र नहीं आता। "आज भी गाँवों से विपिन्न का निर्वासन जारी है। आज गाँव देखने में शानदार हैं पर समझने में उतने ही दयनीय।"[10] इस पीढ़ी ने अपने पिता और दादा को खेती करते हुए देखकर यह अनुभव कर लिया की कृषि घाटे का सौदा है।

जगदीश चन्द्र ने अपने लगभग सभी उपन्यासों की कथावस्तु किसान और ग्रामीण जीवन के इर्द-गिर्द बुनी है। इनके उपन्यास 'मुट्ठीभर कांकर' और 'घास गोदाम' दिल्ली के आस-पास के किसानों के विस्थापन को लेकर लिखे गए हैं।

बीसवीं सदी के अंतिम दौर में वीरेन्द्र जैन ने 'डूब' उपन्यास लिखा। इस उपन्यास में बाँध के निर्माण के नाम पर किसानों के भूमि अधिग्रहण को केंद्र में रखा गया है। अरुण प्रकाश के अनुसार "कुछ साहूकार इस ताक में थे कि लोग गाँव छोड़कर भागें तो सस्ती ज़मीन खरीदकर सरकार से ऊँचा मुआवजा लें।"[11] इस उपन्यास में किसानों की भूमि एवं रोजगार की संभावनाओं पर साहूकारों की गिद्ध दृष्टि का चित्रण किया गया है।

इसी समय में कमलकांत त्रिपाठी ने 'बेदख़ल' उपन्यास लिखा। यह उपन्यास 1857 की क्रांति और बाबा रामचंद्र के योगदान को आधार बनाकर लिखा गया। इस उपन्यास में तात्कालिक समय के किसानों की समस्या तथा अंग्रेजों के किसान विरोधी कानूनों पर प्रकाश डाला गया है।

इक्कीसवीं सदी की हिंदी उपन्यास परम्परा में किसान जीवन : उदारीकरण के बाद से औद्योगीकरण को बढ़ावा मिला। बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ व्यापार के उद्देश्य से स्थापित की गई। किसान के मन में भी एक आस जगी। यह आस फ़सल के अच्छे रूपये मिलने की, उत्पादन के बढ़ने की,

बिचोलियों से छुटकारा पाने की एवं मुद्दतों के बाद बिना कर्ज के एक सामान्य जीवन जीने की थी। किसानों ने जो आस उदारीकरण से लगाई, वह फिर टूट गई, वरन टूट-टूटकर चकनाचूर हो गई। क्योंकि किसान को पूर्ण रूप से कम्पनियों पर आश्रित होना पड गया।

इक्कीसवीं सदी प्रथम दशक में ही भीमसेन त्यागी ने 'ज़मीन' उपन्यास लिखा। "भीमसेन त्यागी ने आज़ादी को आते हुए और उसके बाद के संक्रमणकालीन जिस भारतीय समाज की आशा- आकांक्षाओं, स्वप्नों, को बनते बिगड़ते, ध्वस्त होते देखा है, उसका रसपूर्ण चित्रण 'ज़मीन' में प्रस्तुत किया है।"[12] त्यागी जी ने इस उपन्यास का आधार स्वतंत्रता के बाद हुए जमींदारी उन्मूलन तथा भूदान आन्दोलन को बनाया।

पहाड़ी किसान जीवन को ही आधार बनाकर एस.आर. हरनोट ने 'हिडिम्ब' उपन्यास लिखा। जिसमें शावणु एक छोटा किसान है और उसकी ज़मीन पर एक मंत्री की गिद्ध दृष्टि के पड़ने से शावणु के जीवन में आने वाली उथल-फुथल का वर्णन किया गया है। शावणु मंत्री से कहता है कि "माई बाप! यह जमीन तो मेरे पुरखों की है। मेरी माँ है। मैं अपनी माय को केसे बेच सकता हूँ। मेरे को नी बेचनी है।"[13] इसके बाद मंत्री के आत्याचार शावणु पर शुरू हो जाते हैं।

राजू शर्मा द्वारा लिखे गए उपन्यास 'हलफनामें' में जहाँ एक तरफ जीवन के अभावों में आत्महत्या करने वाला किसान स्वामीराम है तो दूसरी तरफ मुआवज़े के लिए हलफनामें लगाता उसका पुत्र मकई राम। सरकारी कार्यालयों के नग्न यथार्थ का चित्रण करता मकईराम का यह कथन "अब इन्हे दसवाँ, ग्यारवाँ हलफनामा चाहिए... एक, दो...नौ से इनका पेट नहीं

भरा, इन्हें और खुराक चाहिए, राक्षस की तरह रोज एक आदमी का माँस....शपथ की आड़ में इनको धन चाहिए।"[14]

किसान जीवन के सामाजिक और आर्थिक यथार्थ का वर्णन हमें शिवमूर्ति द्वारा लिखित 'आख़िरी छलांग' उपन्यास में मिलता है। इस उपन्यास का नायक पहलवान पहले कर्ज लेने के लिए घूमता है और फिर कर्ज के भँवर में। किसान जीवन की त्रासदी का चित्रण पहलवान का यह अनुभव करता है कि "किसान के घर में जन्म लेकर न पहले कोई सुखी रहा है न आगे कोई रहेगा।"[15]

सुनील चतुर्वेदी का उपन्यास कालीचाट में गाँव की धरती के अंदर एक कालीचाट होने से गाँव में पानी की समस्या निरंतर बनी रहती है। "युनुस सूखे कुए की तली को देखते हुए सोच रहा था। किसान की तो पूरी ज़िन्दगी कालीचाट जैसी ही है। अंधियारी और कड़क।"[16] किसानों पर हो रहे कई स्तरों के आत्याचार का वर्णन भी 'कालीचाट' उपन्यास में मिलता है।

'अकाल में उत्सव' उपन्यास में पंकज सुबीर ने इसमें दो वर्गों का वर्णन किया है- पहला किसान और दूसरा प्रशासन। किसान फ़सल के पकने के समय हुई बारिश के कारण सजल आँखों से सरकारी मुआवजे की राह देख रहा है। क्योंकि इसी की आस में किसान कर्ज लेता है। "भविष्य में फ़सल से चुका देने की उम्मीद पर कर्ज लिया जाता, बाद में पता चलता है कि फ़सल पर कोई प्राक्रतिक आपदा आ गई..कर्ज तो कर्ज था, कब तक देखता, अंततः वह जमीनों को हड़प कर अपना पेट भरता।"[17] वहीँ प्रशासन के लिए यह आपदा में अवसर है। इसका परिणाम यह हुआ की

मुआवजे के लिए रिश्वत देनी है और रिश्वत के लिए किसान कर्ज ले रहा है।

'तेरा कोई संगी नहीं' उपन्यास में मिथिलेश्वर ने किसानों की दो पीढ़ियों का वर्णन किया है। आधुनिक पीढ़ी किसानी को घाटे का सौदा मानती है। वे अपने पिता बलेसर को समझाते है कि "अब किसी भी दृष्टि से खेती से जुड़े रहना फायदेमंद नहीं है।"[18] इसके अतिरिक्त यह उपन्यास पानी की समस्या, यूरिया की कालाबाजारी तथा गन्ना मील की समस्या पर भी प्रकाश डालता है।

प्रेमचंद की परम्परा को इक्कीसवीं सदी में संजीव ने आगे बढाया। किसान जीवन पर उनके उपन्यास 'फाँस' को काफी सराहा गया। इस उपन्यास में किसान आत्महत्या की एक शृंखला सी दिखाई पड़ती है। "यह उपन्यास व्यवस्था के नाम लिखा गया किसानों का एक सामूहिक सुसाइड नोट है।"[19] उपन्यास में उच्च वर्ग के अत्याचार, प्रशासन की उदासीनता, सरकार की बेरुखी, बहुराष्ट्रीय कंपनियों से उजड़ते ग्रामीण उद्योग और प्रकृति की मार के बाद किसान के पास कर्ज लेने के अलावा और कोई मार्ग शेष नहीं रहता। इस संदर्भ में शकुन का यह कथन सत्य ही है कि "इस देश में किसान कर्ज में ही जन्म लेता है, कर्ज में ही जीता है और कर्ज में ही मर जाता है।"[20] एक बार कर्ज लेने के बाद आत्महत्या के अलावा कोई मार्ग नहीं रहता। इसी का विस्तार से वर्णन संजीव ने इस उपन्यास में किया है।

निष्कर्ष :

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी उपन्यास परम्परा में किसान जीवन की अलग-अलग अवस्थाएँ रही हैं। जिसमें आज़ादी के पहले का किसान

संगठित होकर अंग्रेजों की किसान विरोधी नीतियों के विरुद्ध आन्लोदन करता है और राष्ट्रीय आंदोलनों में भी भाग लेता है। प्रेमचंद ने अंग्रेजों और किसानों के संघर्ष की इसी पृष्ठभूमि का वर्णन अपने उपन्यासों में किया है।

स्वाधीनता के बाद के किसान जीवन का वर्णन आँचलिक उपन्यासों में मिलता है। इस दौर का किसान विभिन्न जातियों या वर्गों में बँटा-सा दिखाई देता है। इक्कीसवीं सदी में किसान जीवन से जुड़े उपन्यास लेखन की परम्परा हमें और अधिक विकसित दिखाई देती है। जहाँ इस सदी के आरम्भिक दो दशकों में किसान जीवन की प्रमुख समस्याएँ; जैसे- भूमि अधिग्रहण, बाजारवाद का प्रभाव, औद्योगीकरण का प्रभाव, भ्रष्ट सरकारी तंत्र, बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का एकाधिकार, किसान आत्महत्या, प्राकृतिक आपदाएँ, बड़े किसान या जमींदारों का शोषण आदि विषयों से जुड़े एक दर्जन से अधिक उपन्यास लिखे गए।

संदर्भ सूची-

1. हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 229

2. डॉ. रामविलास शर्मा, प्रेमचंद और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ.177

3. नामवर सिंह, प्रेमचंद और भारतीय समाज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010, पृ.19

4. डॉ. रामविलास शर्मा, प्रेमचंद और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ. 75

5. वही, पृ. 84

6. वही, पृ. 97

7. बच्चन सिंह, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015, पृ. 481

8. गोपाल राय, हिंदी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ.217

9. बच्चन सिंह, हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015, पृ. 482

10. वही, पृ. 487

11. अरुण प्रकाश, उपन्यास के रंग, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, 2016, पृ. 217

12. पुष्पपाल सिंह, 21वीं शती का हिंदी उपन्यास, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ.234

13. एस.आर. हरनोट, हिडिम्ब, आधार प्रकाशन, पंचकुला, 2011, पृ. 22

14. राजू शर्मा, हलफनामें, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ. 45

15. शिवमूर्ति, आख़िरी छलांग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ. 83

16. सुनील चतुर्वेदी, कालीचाट, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, 2015 पृ. 10

17. पंकज सुबीर, अकाल में उत्सव, शिवना प्रकाशन, सीहोर, 2022, पृ. 9

18. मिथिलेश्वर, तेरा कोई संगी नहीं, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, 2018, पृ. 26

19. प्रो.संजय नवले (संपादक), उपन्यासकार संजीव (किसान आत्महत्या-फाँस उपन्यास का संदर्भ), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018, पृ. 51

20. संजीव, फाँस, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016, पृ. 15

Shodh-Rityu तिमाही शोध–पत्रिका

Open Transparent PEER Reviewed & Refereed JOURNAL

ISSUE-41 | VOL- 1 | IIFS Impact-10.25 | ISSN-2454-6283 | July-sept.-2025|

OUR OTHER EMPACT FACTOR & REFEREED AGENCIES

INTERNATIONAL SCIENTIFIC INDEXING, COPERNICUS, COSMOS, IIJF, SJIF,

SAJI, GIF, THMMSON REUTERS EDWIN, SCOPUS, ICI, OAJIF ETC.

AN INTERNATIONAL MULTI-DISCIPLINARY RESEARCH JOURNAL

सम्पादक
डॉ.सुनील जाधव ,नांदेड
9405384672

तकनीकी सम्पादक
अनिल जाधव, मुंबई

पत्राचार हेतु पता–
महाराणा प्रताप हाउसिंग सोसाइटी, हनुमान गढ़ कमान के सामने, नांदेड–431605

16.अखण्ड ज्योति पत्रिका के लेख ''भारतीय आर्ष साहित्य का अनुपम विस्तार'' का भाषा–शैलीगत अध्ययन 48
–डॉ.किरन 48
17.समकालीन हिन्दी साहित्य का सामाजिक परिवेश एवं स्त्री का बदलता रूप 52
–नाइराह कुरेशी 52
18.डिजिटल इंडिया और महिला सशक्तिकरण 55
–डॉ.विनी शर्मा 55
19.भूमिका द्विवेदी अश्क के उपन्यास "नौशाद" में त्रिकोणात्मक प्रेम 59
–आशा देवी 59
20.छात्रों द्वारा दैनिक जीवन में समायोजन हेतु प्रयुक्त रक्षात्मक युक्तियाँ 61
–[1]डॉ.गुलाबधर जी दिवेदी, [2]सीमा शर्मा 61
21. "21 वीं सदी के हिंदी किसान उपन्यासों में महिला किसान" 64
–[1]रघुवीर दान चारण, [2]डॉ. अखिलेश कुमार शर्मा 64
22.श्रीरामचरितमानसः भारतीय जनमानस का औदात्य 66
– [1]आदित्य आनंद, [2]डॉ. चिंगशुबम चनु मालोबिका 66
23.'मैंने नाता तोडा' उपन्यास में अभिव्यक्त 'रितु' का दहकता संघर्ष 68
–[1]श्रीमती गीता वि. निक्कम, [2]प्रो. नामदेव गौडा 68
24.झारखण्ड के प्राथमिक स्तरीय विद्यालयों में क्षेत्रीय भाषा आधारित शिक्षण के प्रभाव का अध्ययनः झारखण्ड के सन्दर्भ में 70
–[1]मुन्ना राम महतो, [2]राधिका कुमारी 70
25.झारखण्ड के उरांव जनजातीय महिलाओं का सामाजिक और सांस्कृतिक जीवनः एक ऐतिहासिक अध्ययन 72
–पूर्णिमा किस्पोटा 72
26.स्वयंप्रकाश के उपन्यासों में स्त्री चेतना और सामाजिक भूमिका 75
–संजू मौर्या 75
27.हिंदी साहित्य और भारतीय ज्ञान परंपरा 77
–स्नेहा सिंह 77
28.उदय प्रकाश की कहानियों में चित्रित सामाजिक यथार्थ 80
–अनुज कुमार रावत 80
29.अरुणाचल प्रदेश के आदी समुदाय की हस्तकला में निपुण औरतें 83
–डॉ.मुमने परमे 83
30.आदी समाज में लोकगाथा 'आबाङ' की केंद्रीय भूमिका 85
–डॉ. ईङ परमे 85

ISSN-2454-6283 PEER Reviewed JOURNAL

21. "21 वीं सदी के हिंदी किसान उपन्यासों में महिला किसान"

–[1]रघुवीर दान चारण, [2]डॉ. अखिलेश कुमार शर्मा
[1]शोधार्थी, [2]सहायक आचार्य,
हिंदी विभाग, मिजोरम विश्वविद्यालय, आइज़ोल
DOI 10.5281/zenodo.16219047

21 वीं सदी के हिंदी उपन्यासों में किसान की दयनीय स्थिति चित्रण मिलता है। जहाँ किसान कर्ज के बोझ, प्राकृतिक आपदाएं, सरकारी नीतियाँ एवं कॉर्पोरेट खेती के साथ संघर्षरत है। यह संघर्ष किसान के जीवन पर्यन्त चलता है और यह संघर्ष उसकी आत्महत्या का कारण बनता है; लेकिन किसान पति के चले जाने के बाद महिला किसान के लिए यह संघर्ष और अधिक बढ़ जाता है। इसके सम्बन्ध में देवेन्द्र शर्मा लिखतें है कि "जब विधवाएँ अपनी पीड़ा और कठिन संघर्ष का बयान कर रही थी परिवार के अकेले कमाऊ व्यक्ति के चले जाने के बाद उन्होंने मुश्किल हालातों का किस प्रकार सामना किया, तब मैं यह सोचकर हैरान हो रहा था कि पंजाब को खाद्यान्न का कटोरा कहा जाता है। वह किसान की आत्महत्या की क्यारी में कैसे हो गया है। और यहाँ के करीब 98 फीसदी ग्रामीण परिवार कर्ज में क्यों हैं।"[1]

एक विधवा का सामाजिक जीवन बहुत अधिक संघर्षशील माना गया है; लेकिन यह संघर्ष विधवा किसानिन के लिए कई गुना बढ़ जाता है। क्योंकि किसान की अकाल मृत्यु का सबसे प्रमुख कारण कर्ज है और माध्यम आत्महत्या। अतः एक किसान विधवा किसानिन के लिए न केवल घर परिवार कि जिम्मेदारी छोड़ता है वरन साथ में छोड़ता एक ऐसा कर्ज जिसे वो नहीं चूका सका। साहूकार या बैंक वालो का रोज का आगमन छोड़ता है। खेत कुर्की की प्रबल संभावना छोड़ता है। कई ऐसी नजरों के उठने की परिस्थितियाँ छोड़ जाता है जो खेत में आते–जाते कामुकता से देखती हैं। जो एक अवसर की खोज में है जो सांत्वना, सहयोग या बलात कैसे भी शारीरिक शोषण चाहते हैं। इसके सम्बन्ध में राजू शर्मा अपने उपन्यास हलफनामें में लिखतें है कि – "आत्महत्या विधवाएँ ? यह एक नई सामाजिक किस्म पैदा की है, हमारे देश ने विधवाएँ जिनके किसान पतियों ने खुदकुशी कर ली। जिस तरह एकाएक उनकी दुनिया टूटती है, उसका अंदाजा हम तुम नहीं लगा सकते, कोई मर्द नहीं समझ सकता। आदमी का न रहना तो एक दुःख है, औरत पर फंदा चारो तरफ से कसता है। खाना, बच्चों की परवरिश, खेत की रखवाली एक तरफ,लेनदार दरवाजे पर तकाजा करता है, खेत से या आबरू से वह किसे बचाए या क्या बचाए ? पता है सरकारी बीमा कंपनियाँ अनपढ़ किसान औरत का बीमा नहीं करतीं। उनके अधिकारी का कहना है ऐसी औरत इतनी असुरक्षित है कि उनका बीमा करना कंपनी के लिए खुदकुशी करने के समान है।"[2]

21वीं सदी के हिंदी उपन्यासों में किसान जीवन की त्रासदी का वर्णन मिलता है। इस सदी के उपन्यासकारों ने किसान जीवन के प्रत्येक पहलु को उजागर किया है। किसान जीवन के इन पहलुओं एक मुख्य भूमिका में नज़र आती है– महिला किसान, किसान पत्नी या किसानिन। यह किसानिन हमेशा से कृषि कार्य में सलग्न रही है और मुख्य रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में। इसी को इंगित करते हुए डॉ. संगीता मोर्य लिखती है कि "ग्रामीण क्षेत्रों में कुल महिला मजदूरी का 89.5: खेती और इससे सम्बन्धित औद्योगीक क्षेत्रों में काम कर रही है।"[3] इसके उपरान्त भी मेहनत के क्षेत्र में स्त्री को कम आँका जाता है। किसानिन ने सदैव किसान के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्य किया है। इसके साथ ही कुछ कृषि कार्य तो ऐसे है जो सिर्फ किसानिन ही कर सकती है जैसे– बुवाई और रुपाई जैसे कार्य। मुख्य रूप से वे कार्य जिसमें पौध की रुपाई होती है और इन फसलों की निराई भी किसानिन द्वारा की जाती है। इस कार्य में विशेष प्रकार के कौशल व धर्य की आवश्यकता होती है। किसानिन न केवल खेत वरन कृषि से सबंधित पारम्परिक कार्य भी करती है जिसमें विभिन्न सब्जियों को सुखाना है, आचार बनाना तथा पापड़ मंगोड़ी जैसे कार्य शामिल है। महिला किसान(किसानिन) का जीवन एक किसान से ज्यादा खेती को समर्पित है। मैत्रेयी कृष्णराज अपनी पुस्तक 'भारतीय महिला किसान' में लिखती हैं– "परंपरागत रूप से महिलाओं ने हमेशा कृषि जगत में महती और विविध भूमिकाएं निभाई हैं। चाहे वह किसान के रूप में हो या सह–किसान, पारिवारिक मजदूर, दिहाड़ी मजदूर या फिर प्रबंधक के तौर पर। यह नहीं बीजों का चुनाव, उनका रख–रखाव, भण्डारण, विकास और बीजों का आदान–प्रदान हमेशा ही महिलाओं के हाथ में रहा है। महिलाएं केवल फसल उगाने में ही नहीं बल्कि इससे संबंधित दूसरे क्षेत्रों, मसलन बागवानी पशु–पालन और मछली–पालन में भी सक्रिय भूमिका निभाती रही हैं।"[4]

महिलाएं अक्सर पारंपरिक ज्ञान की वाहक होती हैं, जैसे कि बीज संरक्षण, जैविक खेती की तकनीकें, और स्थानीय फसलों का उपयोग। हालांकि, उनकी मेहनत को अक्सर कम आंका जाता है, और उन्हें भूमि स्वामित्व, ऋण, या तकनीकी प्रशिक्षण जैसी सुविधाओं तक सीमित पहुंच मिलती है। एक किसानिन भी कृषि के लगभग सभी प्रकार के अनुभवों की जानकारी रखती है। उसे भी पता होता है की कब कौनसी फ़सल होती है और किस प्रकार उसकी पैदावार को बढाया जा सकता है। इन्हीं अनुभवों के आधार पर फाँस उपन्यास में रोहिणी कहती है कि " कापूस में क्या है? आत्महत्या! हमने तो ताई कापूस छोड़कर ऊस(ईख) की शेती करने का निर्णय लिया है।"[5] इसके बाद भी समाज की किसानिन को लेकर सोच इतनी गूढ़ हो गई है कि वह एक महिला को किसान मानने को तैयार नहीं है। पुरुषवादी समाज ने हमेशा महिला किसानों के अधिकारों का हनन किया है। संजीव, फाँस में लिखते है कि "समाज एक औरत को किसान मानता ही नहीं"[6] एक

किसान भले ही दिन भर खेत में काम करे; लेकिन किसानिन दिनभर खेत में काम करती है फिर घर आकर रसोई तथा पशुपालन सबंधित कार्य करती है। इसलिए फाँस उपन्यास में आशा की पुत्री कहती है कि "सोते जागते जब भी देखा, माँ को काम करते ही देखा।"[7]

महिला किसान (किसानिन) न केवल खेती सम्बन्धी कार्यों में अपना योगदान देती है वरन वह अपने पति और परिवार के हर एक उस परिस्थिति के लिए तैयार रहती है जिसमें उसको अपना गहना बेचना पड़ता है। एक पुरुष के लिए वह केवल एक आभूषण हो सकते है लेकिन एक महिला के लिए आभूषण की कीमत जगजाहिर है। वह उसकी प्रतिष्ठा का प्रश्न है वह उसका गुरुर है; लेकिन वह इन सबको भी अपने खेतों के लिए,अपने पति और परिवार के लिए अपने गुरुर अपनी प्रतिष्ठा अपने स्वाभिमान तक को न्योछावर करने से नहीं हिचकती। किसी भी कर्जे वाले किसान परिवार में सबसे पहले एक किसानिन के आभूषण या तो नीलाम होते हैं या बिकतें है। कुछ ऐसा ही उदाहरण हमें अकाल में उत्सव उपन्यास में देखने को मिलता है जहाँ किसान अपनी पत्नी के आभूषण वापिस लाने के वादे के साथ गिरवी रखता है और फिर हर एक किसान परिवार की तरह वापस ना ला पाने कि स्थिति में उसकी पत्नी एक सशक्त किसानिन कि तरह कहती है कि "अब रोओ मत, रकम–पात तो अच्छे बुरे टेम के लिए ही बनती हैं। ठुस्सी नी जाती तो इज्जत चली जाती। इज्जत बड़ी हैं कि रकम–पात बड़ी हैं। अच्छे–बुरे टेम पर रकम–पात को लालच करो कि अपने मनख (मनुष्य) को देखो। तीन दिना से तम फिकर में घुम र्या हो कँइ म्हारे सूझ–समझ नी पडे कँइ। म्हारी रकम–पात तो सब तमसे ही हैं। तम और बनता दीजो म्हारे।"[8] जब महिला किसान अपने परिवार के दुःख सुख कि भागीदार है, जब वह कर्ज उतरने हेतु अपने गहने देने को तैयार है। जब वह अपने परिवार के खातिर रात दिन खेतों में काम करने को तयार है, हल जोतने, निराई, गुड़ाई, लाभ, हानि हर किसी में भागिदार है तो ज़मीन में क्यों नहीं। यही प्रश्न जयपाल सिंह सिन्धु अपने लेख में पूछते है कि " स्थिति यह है देश में प्रत्येक किसान परिवार पर कर्जा है। उसमें महिलाएं भी समान रूप से भागीदार हैं। लेकिन देश के विभिन्न हिस्सों में महिला किसानों ने आत्महत्या की, तो उन्हें किसानों की आत्महत्या में नहीं गिना गया, क्योंकि उनके नाम से जमीन नहीं थी। लिहाजा उन्हें मिलने वाली किसी भी सुविधा से वंचित रहना पड़ा।"[9] महिला किसानों को पितृसत्तात्मक समाज में निम्न स्थिति में दिखाया जाता है, जहाँ उनके परिश्रम को कम आंका जाता है। वे भू–स्वामित्व, ऋण, और सामाजिक प्रतिष्ठा से वंचित रहती हैं।

निष्कर्ष: इस प्रकार 21वीं सदी के हिंदी उपन्यासों में महिला किसान एक ओर अपनी पारंपरिक कर्तव्यों का निर्वहन कर रही है वहीँ दूसरी ओर परिवर्तित होते समय के साथ स्वयं को सबला और स्वतंत्र पहचान को स्थापित करने की कोशिश कर रही है। नई सदी के उपन्यास महिला किसान के सामाजिक, आर्थिक यथार्थ का चित्रण करते हुए उनके परिश्रम, संघर्ष और सपनों को हमारे सामने लाते हैं।

संदर्भः–(1)अमर उजाला(समाचारपत्र), प्रयागराज, 4 दिसंबर, 2018, पृ. 6 (2)राजू शर्मा, हलफनामें, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007,पृ 52 (3) डॉ. संगीता मौर्य, भारतीय कृषि में स्त्रियों की भूमिका, अपनी माटी(किसान विशेषांक), अप्रैल– सितम्बर 2017 (4) मैत्रेयी कृष्णराज और अरुणा कांची, भारतीय महिला किसान, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली 2012, पृ.1 (5)संजीव, फाँस, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016 पृ.155 (6)वही, पृ.184 (7)वही, पृ.184 (8) पंकज सुबीर, अकाल में उत्सव, शिवना प्रकाशन, सीहोर, 2022 पृ.11 (9)हंस पत्रिका, अगस्त, 2006, पृ.192

ISSN-2454-6283 PEER Reviewed JOURNAL

अनुसंधित्सु का विवरण

नाम : रघुवीर दान चारण

शिक्षा : पी-एच.डी.

विभाग : हिंदी

शोध-प्रबंध शीर्षक : इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में किसान जीवन

प्रवेश शुल्क भुगतान तिथि : 03.11.2020

शोध प्रस्ताव की संस्तुति

1. विभागीय शोध समिति की तिथि : 06.04.2021
2. बी.ओ.एस. की तिथि : 04.05.2021
3. स्कूल बोर्ड की तिथि : 20.05.2021

मिजोरम विश्वविद्यालय पंजीयन संख्या : 2010701

पी-एच.डी. पंजीयन संख्या : MZU/Ph.D./1721 of 03.11.2020

समयावधि विस्तार पत्र संख्या :

(प्रो. संजय कुमार)

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

मिजोरम विश्वविद्यालय, आइजोल

शोध-प्रबन्ध सार

ABSTRACT

इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में किसान जीवन

IKKEESAVIN SADI KE HINDI UPANYASON MEIN KISAN JEEVAN

[मिजोरम विश्वविद्यालय, आइजोल के हिंदी विषय में डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी

(पीएच. डी.) की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध का सारांश]

AN ABSTRACT SUBMITTED IN PARTIAL FULFILLMENT OF THE REQUIREMENTS FOR THE DEGREE OF DOCTOR OF PHILOSOPHY

रघुवीर दान चारण
RAGHUVEER DAN CHARAN
MZU REGISTRATION NO: 2010701
Ph.D. REGISTRATION NO: MZU/Ph.D./1721 of 03.11.2020

हिंदी-विभाग
मानविकी एवं भाषा संकाय
DEPARTMENT OF HINDI
SCHOOL OF HUMANITIES AND LANGUAGES

दिसम्बर, 2025

DECEMBER, 2025

इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में किसान जीवन

IKKEESAVIN SADI KE HINDI UPANYASON MEIN KISAN JEEVAN

अनुसंधित्सु

रघुवीर दान चारण

हिंदी विभाग

BY

RAGHUVEER DAN CHARAN

DEPARTMENT OF HINDI

शोध-निर्देशक

डॉ. अखिलेश कुमार शर्मा

SUPERVISOR

DR. AKHILESH KUMAR SHARMA

मिजोरम विश्वविद्यालय, आइजोल के मानविकी एवं भाषा संकाय के अंतर्गत हिंदी विषय में डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी (पीएच. डी.) की उपाधि के लिए अपेक्षित आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध

Submitted In partial fulfillment of the requirement of the Degree of Doctor of Philosophy in Hindi of Mizoram University, Aizawl.

विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन

प्रथम अध्याय : किसान जीवन : अवधारणा और स्वरूप

1.1 किसान जीवन : अर्थ, परिभाषा और स्वरूप

1.2 किसान जीवन का स्वरूप : इतिहास और वर्तमान के झरोखे से

1.3 किसान जीवन : मूलभूत प्रश्न और चुनौतियाँ

निष्कर्ष

द्वितीय अध्याय : किसान जीवन के संदर्भ में हिंदी उपन्यास लेखन परम्परा का परिचय

2.1 बीसवीं सदी तक के प्रमुख हिंदी उपन्यास: किसान जीवन के संदर्भ मे

2.2 इक्कीसवीं सदी के प्रमुख हिंदी उपन्यास: किसान जीवन के संदर्भ में

2.3 विवेच्य उपन्यास और उपन्यासकार

निष्कर्ष

तृतीय अध्याय : इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में किसान जीवन का सामाजिक परिदृश्य

3.1 आत्महत्या के सामाजिक संदर्भ

3.2 नयी पीढ़ी का पलायन और संघर्ष

3.3 किसान समाज का मूल्यगत ढाँचा और वैचारिक चेतना

निष्कर्ष

चतुर्थ अध्याय : इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में किसान जीवन का आर्थिक परिदृश्य

4.1 पारम्परिक आर्थिक स्वरूप का बिगड़ता हुआ गणित

4.2 औद्योगीकरण, भूमंडलीकरण एवं बाजारवाद का प्रभाव

4.3 सीमित आय एवं प्रकृति की मार

4.4 ऋण की समस्या

निष्कर्ष

पंचम अध्याय : इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में किसान जीवन का राजनीतिक परिदृश्य

5.1 भूमंडलीय बाजारवादी राजनीति

5.2 राजनीतिक असंवेदनशीलता और प्रशासनिक विडम्बना

5.3 किसान आन्दोलन

निष्कर्ष

षष्ठ अध्याय : इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में किसान जीवन का सांस्कृतिक और धार्मिक परिदृश्य

6.1 किसान संस्कृति और द्वंद्व

6.2 धार्मिक आस्था और अन्धविश्वास

निष्कर्ष

उपसंहार

संदर्भ ग्रंथ सूची

शोध-प्रबंध सार

इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में किसान जीवन

किसानी का पेशा न केवल शारीरिक श्रम का प्रतिनिधित्व करता है; बल्कि मानसिक रूप से भी अन्य लोगों की तुलना में अधिक संघर्षशील है क्योंकि अभाव उनके जीवन का अनिवार्य हिस्सा होते हैं। ऐसा नहीं है कि अभाव और संघर्ष केवल व्यक्तिगत ही हों या क्षेत्र विशेष के किसानों के हिस्से ही आए हों, यह तो किसान परिवार में जन्म लेते ही नियति बन जाते हैं। मनुष्य होने के नाते वह संवेदनाओं के सागर में गोते खाते हुए भी अपने जीवन को सुंदर बनाने का प्रयास करता रहता है। उसके पास अपनी परम्परा से मिली सीख और अनुभव होते हैं जिनके बूते वह कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी जीवन की कई घुमावदार शृंखलाओं और उलझनों से पार पा जाता है। खेती का पेशा उसके लिए जीवन पद्धति की तरह है इसलिए वह आर्थिक नुकसान उठाकर भी उसके साथ ही बना रहना चाहता है। समय, परिस्थितियों तथा बाहरी बाजारी दबावों के चलते अनेक बार अनावश्यक विचलनों का सामान करता हुआ भी जीवन की दौड़ में हारता नजर नहीं आता है। आत्महत्या जैसी दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएँ भारतीय किसानों के लिए अभिशाप की तरह हैं।

व्यक्तिगत स्तर और सरकारी प्रयासों के बावजूद भी ऐसी घटनाएँ निरंतर घट ही रही हैं। जिसका नतीजा यह है कि किसानों की संख्या तेज गति से कम हो रही है। जो लोग पलायन कर जाते हैं वे पहले खेतीहर मजदूर बनते हैं और अंत में शहरी जीवन को अपनाकर दिहाड़ी मजदूर बनने को मजबूर होते हैं। ऐसी परिस्थितियों में वर्षों से चला आ रहा किसान समाज न केवल अपनी अस्मिता खो रहा है; बल्कि सांस्कृतिक विविधताओं और सभ्यता के विकास सूत्रों को भी भारी नुकसान हुआ है। ग्रामीण समाज का मूल्यगत ह्रास और किसानी का बिखरना दोनों साथ-साथ चलने वाली प्रक्रियाएँ हैं। किसानी यानी सामूहिकता और सहयोग- जिसके बलबूते पर वर्षों से अस्तित्व बना हुआ है।

उदारीकरण के आगमन के साथ ही कृषि क्षेत्र में अचानक से बड़े बदलाव आए। जिससे कृषि क्षेत्र में उन्नत तकनीकों का आविष्कार हुआ एवं कृषि क्षेत्र में निवेश भी बढ़ा; परन्तु एक

छोटे और सीमांत किसान के लिए यही सब अस्तित्व के लिए खतरा बन गया। एक मध्यमवर्गीय या छोटे किसान के पास बहुत ही कम जमीन होती है। उस जमीन पर फसल उगाकर लाभ कमाना मुश्किल होता है। किसान कर्ज के दुष्चक्र में फँस जाता है और एक बंधुआ मजदूर बन कर रह जाता है। फिर भी किसान हमेशा प्रयासरत रहे हैं कि मौसम की मार हो या साहूकार की कुटिल चाल, वह हर मुसीबत का डटकर सामना करे। एक किसान तब हताश हो जाता है जब उसको कर्ज के इस चक्र से बाहर आने का कोई रास्ता नहीं दिखता। इसके लिए दोषपूर्ण न केवल सरकारी नीतियाँ हैं; अपितु किसान का समय के साथ सामंजस्य न बिठा पाना भी है।

समाज, व्यक्ति, भूगोल, इतिहास या फिर वह अन्य प्रयोजननीय विषय, जिनका सीधा सम्बन्ध मानव जीवन से जुड़ा है, वे सब राजनीति के दायरे में आते हैं। किसान समाज राजनीतिक गतिविधियों के प्रति लगभग समय असक्रिय-सा ही नजर आता है। लेकिन इससे राजनीतिक अनिवार्यता के कलपुर्जों से उसका नाम बाहर नहीं हो जाता, क्योंकि उत्पादन के संसाधन अधिकांशत: किसानों से ही जुड़े होते हैं, जिससे राजनीति संचालित होती है। बहुत बार वह राजनीति का शिकार हो जाता है जिसके कारण अनावश्यक रूप से उसे आर्थिक और मानसिक परेशानियाँ उठानी पड़ती हैं।

किसानों के पास हजारों सालों की सांस्कृतिक परम्परा है जो समय के साथ नया रूप लेती रहती है। धर्म और संस्कृति का मिला जुला रूप हमें किसानों की सामाजिक परम्पराओं और धार्मिक आस्थाओं के विभिन्न संरचनागत ढाँचों में दिखाई देता है। भूमंडलीकृत समाज में संस्कृति और धर्म को जब नए-नए टैग के साथ बेचा जा रहा है, ऐसे समय में गाँव में रहने वाला किसान समाज ही है जिसके पास वास्तविक जीवन मूल्य बचे हुए हैं। उनके नष्ट होने की प्रक्रिया तेज गति से चल रही है। इसके बावजूद संकट के समय किसान समाज के लिए वे सांस्कृतिक मूल्य जीवनोपयोगी सिद्ध हो रहे हैं और इसी से उनका महत्त्व सिद्ध होता है।

हमारी परम्पराओं और संवेदनाओं के विभिन्न पक्षों को साहित्य अपने साथ लेकर चलता है । वह सास्कृतिक विरासत, राजनीतिक चेतना, सामाजिक परम्पराएँ और मानव जीवन के वे पक्ष जो जीवन मूल्यों का निर्माण करते हैं और मनुष्य को सतत् प्रेरणा देते रहते हैं; उनका

खजाना तो होता ही है, साथ ही हमारे आने वाले भविष्य की मूल्यगत यात्रा का दिशासूचक यंत्र भी होता है। किसान जीवन का साहित्य मनुष्य द्वारा अन्न की गंध लिए जाने से लेकर अब तक की यात्रा की न केवल मानसिक दशाओं और वैचारिक द्वन्द्वों का लेखा जोखा है; अपितु किसानी की विकास प्रक्रियाओं का भी अध्ययन है। किसान के दुःख-दर्द, वैचारिक विचलन, आर्थिक समस्याओं और जीवन के उन विविध पक्षों का गवाह और प्रतिबिम्ब तथा आने वाली किसानी संस्कृति के बदलते दृश्यों के बीच मानवीयता की असंख्य कहानियाँ का दस्तावेज किसान साहित्य में मिलता है। इसलिए साहित्य अपने कलेवर में अपने साथी के सुख-दु:खों को अभिव्यक्त करता रहा है। लिखने वाले की सहूलियत के हिसाब से वह अनेक विधाओं के रूप में हमारे सामने प्रकट होता है। उन्हीं विधाओं में उपन्यास विधा जीवन के विविध पक्षों को बड़ी सरलता से पेश करती है। जीवन की छोटी से छोटी भाव संवेदना और चेतना को प्रकट करने का अवकाश सबसे ज्यादा उपन्यास विधा में ही देखने को मिलता है ।

किसानों की संवेदनाएँ एवं तत्कालीन परिस्थितियाँ हिंदी में प्रेमचन्द के समय से ही हमें भरपूर मिलती है, जिसकी परम्परा आज भी उपन्यास, कहानी, कविता तथा हिंदी साहित्य की अन्य विधाओं में जारी है। किसान जीवन के इर्द-गिर्द या केंद्रित उपन्यास साहित्य की यात्रा प्रेमचन्द से पूर्व ही प्रारंभ हो जाती है और प्रेमचन्द के समय में उत्कृष्टता को प्राप्त होती है। आर्थिक उदारीकरण कह लें या नई सदी के साथ आने वाली नयी परिस्थितियाँ कह लें- अब किसान जीवन केंद्रित साहित्य प्रेमचंद से काफी आगे बढ़ चुका। प्रस्तुत शोध प्रबंध **'इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में किसान जीवन'** उन्हीं बदली हुई परिस्थितियों में लिखे गए किसान जीवन केंद्रित उपन्यासों का विश्लेषण करते हुए लिखा गया है। प्रस्तुत शोध प्रबंध में किसान जीवन के विभिन्न आयामों को विश्लेषित करते हुए परिणामों की ओर इशारा किया गया है। सामाजिक जीवन में आए बदलाव और किसान समाज के विघटन के कारक भी इन उपन्यासों में वर्णित हैं। समाज और राजनीति के अन्तर्सम्बन्धों, धार्मिक और सांस्कृतिक परम्पराओं पर वैश्विक दुनिया के लाभकारक और हानिकारक आयाम भी इन उपन्यासों की विषयवस्तु है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध को छह अध्यायों में विभक्त किया गया है। जिसमें प्रथम व द्वितीय अध्याय सैद्धांतिक अवधारणाओं पर आधारित है। प्रथम अध्याय में किसान और किसानी की अवधारणा और स्वरूप को दिखाया है। द्वितीय अध्याय में किसान जीवन केंद्रित उपन्यास लेखन

की परम्परा को दिखाया गया है। अगले चार अध्याय चयनित उपन्यासों के अध्ययन एवं विश्लेषण पर आधारित हैं। तृतीय अध्याय किसान जीवन के सामाजिक, चतुर्थ आर्थिक, पंचम राजनीतिक और षष्ठ अध्याय धार्मिक और सांस्कृतिक संदर्भों के अध्ययन पर आधारित हैं। चयनित उपन्यासों में उपर्युक्त संदर्भो से सम्बन्धित जितनी धारणाएँ, घटनाएँ और किसान जीवन से जुडी समस्याओं का जिक्र आया है उनको साहित्य और सामाजिक प्रविधियों के द्वारा समझने का प्रयास किया गया है।

प्रथम अध्याय **'किसान जीवन : अवधारणा और स्वरूप'** है। यह अध्याय तीन उप-अध्यायों में विभक्त है। जिसमें किसान जीवन का अर्थ, परिभाषा और स्वरूप वर्णित है। हिंदी साहित्य के वर्तमान स्वरूप से पूर्व संस्कृत और अन्य आर्यभाषाओं से लेकर आधुनिक आर्य भाषाओं में आये संदर्भों का चित्रण किया गया है। ब्रिटिशकालीन भारत में किसानों के प्रतिरोध स्वरूप हुए आन्दोलन भी संक्षिप्त रूप में आए हैं। साथ ही इक्कीसवीं सदी के किसान जीवन के मुख्य सवालों और चुनौतियों पर भी विहंगम दृष्टि डाली गई है।

द्वितीय अध्याय **'किसान जीवन के संदर्भ में हिंदी उपन्यास लेखन परम्परा का परिचय'** है। इस अध्याय में किसान जीवन को लेकर हिंदी में लिखे गए उपन्यासों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। उपन्यास विभाजन की सर्वमान्य व्याख्या जिसमें प्रेमचन्द को ही आधार बिंदु माना जाता है; यहाँ भी उसी को आधार माना गया है। प्रेमचन्दपूर्व, प्रेमचन्दकालीन और प्रेमचन्द के पश्चात किसान उपन्यासों के इतिहास का परिचय तथा मुख्य उपन्यासों की कथावस्तु की संक्षिप्त विवेचना की गई है। अंतिम बिंदु में शोध के लिए चयनित उपन्यासों के कथानक, विषयवस्तु तथा उपन्यासकारों के जीवन का परिचय है। नौ उपन्यास इस शोध कार्य के लिए चुने गए हैं, जो अग्रलिखित हैं - हलफनामें (राजू शर्मा), फाँस (संजीव), अकाल में उत्सव (पंकज सुबीर), आख़िरी छलांग (शिवमूर्ति), कालीचाट (सुनील चतुर्वेदी), तेरा कोई संगी नहीं (मिथलेश्वर), यह गाँव बिकाऊ है (एम. एम. चंद्रा), बहुत लम्बी राह (कुर्मेंदु शिशिर) और चलती चाकी (सूर्यनाथ सिंह)।

तृतीय अध्याय **'इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में किसान जीवन का सामाजिक परिदृश्य'** है। प्रस्तुत अध्याय को तीन उप-भागों में बाँटा गया है। 'आत्महत्या के सामजिक

संदर्भ' में उपन्यासों में आये किसान आत्महत्याओं के कारकों की पड़ताल तथा उसके लिए जिम्मेदार कारणों का विश्लेषण किया गया है। किसान आत्महत्या के लिए केवल आर्थिक कारण ही हमेशा जिम्मेदार नहीं होते। अपितु वे सामाजिक और मानसिक परिस्थितियाँ भी जिम्मेदार होती हैं जिनका सीधा सम्बन्ध खेती-किसानी से नहीं होता। किसानों के लिए खेती प्रतिष्ठा और आमदनी दोनों का जरिया है। यह दोनों एक दूसरे पर निर्भर होती है। इनका असंतुलन उसे आत्महत्या की मानसिकता की ओर धकेलता हुआ नजर आता है। उपन्यासों में किसान आत्महत्या केवल आर्थिक दबावों में किया जाने वाला आत्मिक पाप न रहकर उदारीकरण के कारण किसान समाज की संरचना में आए बदलावों और सरकारी असहायता की भी अभिव्यक्ति है। सुनील एमिल दुर्खिम की आत्महत्या की अवधारणा के आधार पर निष्कर्ष निकालते हैं कि "आत्महत्या के प्रति प्रत्येक समाज का एक सामाजिक झुकाव होता है। यह झुकाव व्यक्ति से परे और उसकी इच्छाओं से ज्यादा बलवान होता है। आत्महत्या के मूल तत्व कहीं न कहीं सामाजिक संरचना में मौजूद रहते हैं। खासकर उन समाजों में, जहाँ व्यक्ति समाज के अधीन होता है, वहाँ यह माना जाता है कि आत्महत्या उनके अनुशासन की अपरिहार्य क्रियाविधि है।"[1] एक तरफ पूँजी बाजार का अपार धनबल तो दूसरी तरफ वर्षों से आर्थिक रूप से विपन्न किसान- दोनों के बीच जिंदगी और मौत का खेल यह उपन्यास दिखाते हैं, जिसमें धन पशुओं को अपने धन संचयन की गति बढानी है तो किसानों को जिजीविषा बनाए रखने की जद्दोजहद करनी दिखाई पड़ती देती है।

'नयी पीढ़ी के पलायन और संघर्ष' में दो पीढ़ियों की सामजिक अपेक्षाओं के अंतर और पूँजीवादी दबावों के प्रभावों को विश्लेषित किया गया है। किसानी जीवन से पलायन की यह पीड़ा दो रूपों में हमारे सामने आती है जिसमें पहला रूप है- नयी पीढ़ी द्वारा खेती को घाटे का सौदा मानकर हमेशा के लिए शहरों की ओर गमन कर जाना और दूसरा रूप है- जिसमें किसान मजदूर बनकर मजबूरी में शहर की ओर भागा। "असल में जमीनों का बिकना और गाँव के लोगों का शहर की ओर पलायन महज रोजी-रोटी के साधन के बदलाव के रूप में नहीं देखा जा सकता। यह हमारे सामजिक ढाँचे का टूटकर बिखरना है। समाज में विलगाव का सूत्रपात है। ऐसे में लोग अकेले होते जा रहे हैं। अपना संबल खो रहे हैं। निराशा के इस दौर में अकेला आदमी क्या कर सकता है? विरोध करें या इस व्यवस्था को स्वीकार कर लें जिसका अर्थ उसकी

मौत है।"[2] कई उपन्यासकारों ने प्रगतिशील दृष्टि अपनाते हुए वापस लौटकर किसानी को पुन: आबाद करवाने की कोशिश की है जो कि यथार्थ स्थितियों से काफी दूर है। 'किसान समाज का मूल्यगत ढाँचा और वैचारिक चेतना' उप अध्याय में नयी सदी के प्रभावों से समाज के बने-बनाये मूल्य के ख़ारिज होने तथा उन्हें बचाने की जद्दोजहद उपन्यासों के पात्रों के माध्यम से विश्लेषित की गई है।

'अकाल में उत्सव' उपन्यास में रामप्रसाद जैसे लोग अपनी बहिन की सास के मरने के बाद उसके क्रियाकर्म करने के चक्कर में बर्बाद हो रहे हैं तो वही 'फाँस' उपन्यास की किसानिन शकुन मराठा हिन्दू धर्म का त्याग करके बौद्ध बनने जा रही है ताकि बेकार के शादी ब्याह के खर्चों से बचा जा सके। 'हलफनामे' का मकईराम अपने पिता स्वामीप्रसाद की आत्महत्या के बाद समाज के कहे अनुसार क्रियाकर्म करते चला जाता है फिर वही समाज मुआवजे के नाम पर मकईराम को भला बुरा कहने लगता है। दूसरी तरफ 'बहुत लंबी राह' का विभूति गाँव के पोखर पर प्रधान के आधिपत्य के खिलाफ आवाज उठाता दिखाई देता है। 'आखिरी छलांग' का पहलवान बेटी के ब्याह में दहेज माँगे जाने पर सामने वाले को खरी खोटी सुनाने से नहीं चूकता तो वही 'तेरा कोई संगी नहीं' का बलेसर अपने बेटों को जमीन का महत्त्व बतलाने की हिम्मत तो जुटा लेता है; लेकिन स्वयं को नहीं बचा पाता क्योंकि पुत्रों के सोचने-विचारने के ढंग में स्वयं को ढाल नहीं पाता। "खेती अब घाटे का सौदा हो गई है पिताजी। खेती से जुड़े रहने में अब कोई लाभ नहीं। खेती में जितना श्रम, संघर्ष और खर्च है, उसकी तुलना में उपार्जन नगण्य, उलटे खेती की परेशानियों से जीवन का सुख चैन भी गायब, निरंतर असुरक्षा और आतंक के महौल में रहना। हमें समय रहते खेतों को बेचकर अपनी पूँजी शहर में स्थानांतरित कर लेनी चाहिए।"[3] समय बदलने के साथ समाज के मूल्य भी बदल जाते हैं। इन पात्रों की लड़ाई उन्हीं मूल्यों की लड़ाई है जिनसे वर्तमान समाज अपनी चाल से धीरे-धीरे चल रहा है। समय बदलता है और मूल्य बदल जाते हैं। समय और मूल्यों के पीछे रह जाता है सुख-दुःख की पीडाओं का अम्बार लिए किसान।

उपन्यास किसान जीवन की परम्पराओं और रूढ़ियों के अप्रासंगिक होते जाने और उसके बदलें में नए जीवन मूल्य अपनाए जाने की प्रवृति को रेखांकित तो करते हैं; लेकिन उदारीकरण और भूमंडलीकरण के वास्तविक प्रभाव आने अभी बाकी हैं। उपन्यासों में जो

परम्परा और मूल्य संक्रमण दिखाया गया है वह केवल लोकतांत्रिक राजनीतिक व्यवस्था तथा शिक्षा व्यवस्था के कारणों की ही व्याख्या करते हुए दिखाई देते हैं। वैश्विक पूँजीवाद ने जिस रूप से किसानी समाज में संरचनागत बदलाव किए हैं वह हिंदी उपन्यासों में आना अभी बाकी है।

चतुर्थ अध्याय '**इक्कीसवीं सदी के हिन्दी उपन्यासों में किसान जीवन का आर्थिक परिदृश्य'** में किसानी के आर्थिक जीवन को खेती से इतर औद्योगिक उन्नति, बाजार और प्राकृतिक समस्याओं के सन्दर्भ में देखा गया है। प्रस्तुत अध्याय को चार उप-अध्यायों में विभक्त करके पारम्परिक खेती और आधुनिक खेती के बीच के द्वंद्व और संक्रमण, उदारीकरण के परिणामस्वरूप वैश्विक कृषि अर्थव्यवस्था से जुड़ जाने से होने वाली हानियों, किसानों पर वर्षों से चले आ रहे और वर्तमान व्यवस्था से उपजी ऋण की समस्या तथा प्राकृतिक आपदाओं के प्रभावों को औपन्यासिक दृष्टि से विश्लेषित किया गया है। "सालभर मेहनत करके, खाद-पानी दे के, सांड भंईसा-लिलगाय, चिड़िया-चुडुंग से बचा के फसल तैयार करते हैं, काटने की बारी आती है तो इस तरह उसको चौपट होते नहीं देखा जाता। देव की मरजी मान के करेजा पर पत्थर रख लेते हैं।"[4] तकनीकी विकास के कारण कमजोर और गरीब किसान काफी पीछे रह गए और किसानों के मध्य ही भेद उत्पन हो गया। चयनित प्रत्येक उपन्यास में ऐसे पात्रों की भरमार है जहाँ किसान समाज के बीच आर्थिक असमानता दिखाई पड़ती है। खेती की समझ को जिन किसानों ने आधुनिक तरीके से अपना लिया, वह सफल हो गया और जो नहीं अपना पाया वह अभी भी एक पीढ़ी पीछे ही नजर आ रहा है। औद्योगिक प्रगति ने भी किसानों की जमीनें हड़पने और खेती से निकले गए श्रमबल के उपयोग की प्रवृत्ति ने भी ने किसानों को मजदूर बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी।

खेती में जीनोम बीजों और रासायनिक खादों के कारण बर्बाद हुए किसानों की वास्तविक दशाओं का वर्णन 'फाँस' उपन्यास में विस्तार से आया है। ऋण की समस्या कोई नयी नहीं है; लेकिन बैंकों की किसानों के प्रति असंवेदनशीलता तथा सरकार के उदास रवैये ने किसानों को गहरे अधंकार की ओर धकेला है। प्राकृतिक आपदाएँ इस सारी परेशानियों को ओर भी गाढ़ा कर देती हैं। 'बल्ली' जैसे खुशहाल किसान बहुराष्ट्रीय कम्पनियों और ऋण के चलते आत्महत्या की ओर अग्रसर होता दिखाई पड़ता है।

पंचम अध्याय '**इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में किसान जीवन का राजनीतिक परिदृश्य'** में अंतरराष्ट्रीय कृषि राजनीति, देशी प्रशासनिक और राजनीतिक असंवेदनशीलता तथा किसान आंदोलनों की चर्चा की गई है। 21 वीं सदी के हिंदी उपन्यासों में किसान और राजनीतिक संदर्भ दो रूपों में हमारे सामने आते हैं- पहला रूप वह है, जहाँ किसान राजनीतिक पार्टियों, राजनीतिक फैसलों और प्रशासनिक ढाँचे का शिकार होता है। दूसरा रूप, किसानों की राजनीतिक चेतना का है, जिसमें किसान पूँजी बाजार और सत्ता केन्द्रित राजनीतिक समझ के आधार पर अपनी आन्दोलनकारी राजनीति को आगे बढाता है। "किसान अपनी समस्या लेकर छुटभैया नेता के यहाँ जा रहे हैं। वे नेता किसानों को एक समूह में अपने आका के दरबार में हाजिरी लगवा रहे हैं। वे अपना कद बढाने के लिए किसानों का प्रयोग कर रहे हैं। किसानों को तरह-तरह से ठगा जा रहा है। कभी उसे नेता ठग रहे हैं, कभी सरकार।"[5] इन उपन्यासों में पंचायत की राजनीति, बिचौलियों से लेकर अंतरराष्ट्रीय बाजारवादी राजनीति का स्वरूप हमारे सम्मुख आता है जिसके कारण किसान जीवन पर नकारात्मक प्रभाव अधिक है तथा प्रेरणादायी किसान आन्दोलन कम ही दिखाई देते हैं।

भूमंडलीय किसान राजनीति को विस्तार से हिंदी उपन्यास अभी बहुत अधिक मात्रा में दिखा नहीं पाए हैं; लेकिन फिर भी 'फाँस' जैसे एक दो उपन्यास भी गुणात्मक रूप से उन स्थितियों को उजागर करने में सक्षम है जिनकी वजह से विदर्भ जैसा क्षेत्र आज भयंकर भूखमरी की चौखट पर खड़ा है। उपन्यास न केवल पूँजीपतियों की धन पिपासा के कारण पिसते किसान को दिखाता है; बल्कि लोकतान्त्रिक मूल्यों पर बनी सरकारों की विश्वसनीयता पर भी सवाल खड़े करता है। उपन्यासों में जिस राजनीतिक असंवेदनशीलता और प्रशासनिक ज्यादतियों का उल्लेख हुआ है वे सब किसानों के जीवन से सीधे तौर पर जुडी हुई हैं। "एक बार में इतने सारे मरीजों को देखना होता है कि बस देखा न देखा बराबर है। घर ले जाकर दिखा दो, उनकी फीस दे दो, अच्छी तरह से देख लेंगे और अगर तुम्हारी गुंजाइश होगी तो किसी नर्सिंग होम में भी भर्ती करा देना, वहाँ दिन भर डाक्टर साहब का चक्कर लगता रहता है।"[6] लेखक अंत में इसी दिशा में पाठको को ले जाना चाहते हैं कि जब तक राजनीति किसानों के प्रति ईमानदार और संवेदनशील नहीं होगी तब तक न तो खेती की दशा सुधरने वाली है और न ही खत्म होती किसानी को बचाया जा सकता है।"दया और दान के कुछ टुकड़े डालकर ये लोग असली मुद्दों

पर परदा डालना चाहते हैं। ये लोग हमारी ताकत छीनकर हमारा संघर्ष हथियाना चाहते हैं। यह बहुत पुराना तरीका है दुश्मन को बेताकत करने का।...तब बात और थी, अब चुनाव है। हम असली योजना का समर्थन जरूर करते हैं पर यह छद्म योजना है। योजना का मजाक है।"[7] किसानी एक जीवन शैली है जो राजनीति अनिच्छा की शिकार होने के कारण आजादी के 75 साल बीत जाने के बाद भी मुख्यधारा का हिस्सा नहीं बन पायी।

हिंदी उपन्यास दुनिया में अभी भी किसान आंदोलनों को ही आधार बनाकर लिखे गए उपन्यासों का अभाव ही है; लेकिन चयनित उपन्यासों में थोडा बहुत जिक्र आया है वह किसानों के संघर्ष और प्रयासों को महीनता से पकड़ने की कोशिश करते दिखते हैं। जिस क्षेत्र के किसान समृद्ध और बड़ी जोतों वाले हैं, वहाँ ज्यादा संगठित हैं और किसान आंदोलनों की संख्या और सफलता भी दिखती है। वहीं जिस क्षेत्र के किसान गरीब और खेतीहर मजदूर हैं वे व्यक्तिगत प्रयासों के साथ छिटपुट आंदोलनों तक ही सीमित हैं।

षष्ठ अध्याय '**इक्कीसवीं सदी के हिंदी उपन्यासों में किसान जीवन का सांस्कृतिक और धार्मिक परिदृश्य'** में किसानी के विभिन्न सांस्कृतिक और धार्मिक आयामों को दिखने की कोशिश की गई है जो नयी सदी के प्रभाव में मिट रही है तो कई आवश्यकताओं की अनिवार्यता के कारण अभी भी जीवंत है। किसानी का यह सांस्कृतिक द्वंद्व खेती के घाटे का सौदा बनते चले जाने, आधुनिक सुविधाओं के विस्तार, खेती में वैश्विक पूँजीवाद का हस्तक्षेप और नयी पीढ़ी का अपनी जड़ों से लगाव के अभाव के कारण उत्पन्न हुआ है। साथ ही वैचारिक चेतना के कारण किसानों की नयी पीढ़ी की राजनीतिक समझ भी इस सांस्कृतिक द्वंद्व का कारण है।

वर्षो से जड़ जमाए संस्कारों से पीछा छुड़ाना मुश्किल होता है। "आज बुढवा मालिक होते तो पहले उसको अकेले में बुलाकर पूछते। और बात जान भी जाते, तब भी विभूतिया को डाँटने – फटकारने के लिए ही कहते। लेकिन वे इस तरह का अनेत हरगिज नहीं करते। मालिक ने यह अच्छा नहीं किया।"[8] किसानी की मूलभूत पूँजी है सामूहिक जीवन पद्धति और किसानी परम्पराएँ जिनके सहारे वह अभावों में भी उस्तव का सा आनंद उठाने की क्षमता रखता है। उपन्यासों में उन सकारात्मक सांस्कृतिक परम्पराओं का वर्णन कम आया है। 'आखिरी छलांग' जैसे उदाहरण बेहद ही कम मिलेंगे जिनमें किसानी के धरातलीय सांस्कृतिक जीवन को दिखाने

की सफल कोशिश की गई है। “हर गन्ना किसान अपने ऐसे पड़ोसियों के घर गन्ना भेजना अपना धर्म समझता है जिन्होंने गन्ना नहीं बोया।...पहलवान ने अपने अडोस पड़ोस के गन्ना विहीन परिवारों की गिनती करके पप्पू से उन लोगों के घर दो-दो गन्ने पहुँचाने के लिए कहा। पहलवान चाहते हैं कि उनके जीवन काल तो यह परम्परा चलती रहे। आगे की राम जाने।”[७] धार्मिक कर्मकांडों की व्यर्थता से उत्पन्न सामाजिक कुरूतियों के कारण धर्म परिवर्तन जैसी घटनाएँ भी उपन्यासों का विषय है। सांस्कृतिक परम्पराओं का किसान समाज में प्रेरणादायक और लंबा प्रभाव हो सकता था; लेकिन धार्मिक पाखंडवाद के कारण वे धीरे-धीरे तिरोहित हो जा रही हैं।

निष्कर्षत: इस शोध प्रबंध में इक्कीसवी सदी के हिंदी उपन्यासों में आये किसान जीवन मूल्यों, संस्कृति, परम्परागत कृषि व्यवस्थाओं, सामाजिक जीवन की संरचना और उसके अनेक घटकों, किसानी के प्रति घटते जा रहे नयी पीढ़ी के लगाव, आत्महत्याओं के कारकों, आर्थिक विपन्नता के मूलभूत कारणों, किसान समाज में बची हुई सांस्कृतिक चेतना और बदलती हुई राजनीतिक चेतना को उपन्यासों में आयी घटनाओं और पात्रों के माध्यम से विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है।

संदर्भ

1. संजीव, फाँस, वाणी प्रकाशन दिल्ली, 2015, पृ.110
2. सुनील चतुर्वेदी, कालीचाट, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, 2015, पृ. 145
3. मिथिलेश्वर, तेरा संगी कोई नहीं, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2018, पृ. 13
4. सूर्यनाथ सिंह, चलती चाकी, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2020, पृ. 38
5. एम. एम. चंद्रा, यह गाँव बिकाऊ है, डायमंड बुक्स, 2019, पृ. 118
6. पंकज सुबीर, अकाल में उत्सव, शिवना प्रकाशन, सीहोर, मध्यप्रदेश, पृ. 65
7. राजू शर्मा, हलफनामे, सेतु प्रकाशन, नोएड़ा, 2025, पृ. 314
8. कर्मेंदु शिशिर, बहुत लंबी राह, यश पब्लिकेशन, 2015, पृ. 130
9. शिवमूर्ति, आखिरी छलांग, ऑनलाइन, नॉटनुल वेबसाइट, पृ. 31

शोध प्रबंध के महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष

1) किसान आत्महत्या पर हिंदी उपन्यासकारों का सर्वाधिक ध्यान गया जिसमें मुख्य रूप से विदर्भ के किसानों की आत्महत्या ने सबका ध्यान खींचा। हिंदी उपन्यास साहित्य में 'फाँस' उपन्यास विदर्भ के किसानों की आत्महत्या पर एक ऐतिहासिक दस्तावेज की तरह हमारे सामने आता है। हरित क्रांति और आर्थिक उदारीकरण की नीतियों के लागू होने के लंबे समय बाद जमीन और जीवन पर नकारात्मक प्रभाव अत्यधिक दिखाई दिया।

2) उपन्यासकारों का ध्यान इस बात की ओर भी है कि सरकारों द्वारा खेती के क्षेत्र में किए गए अंतरराष्ट्रीय समझौतों ने किसान जीवन को समृद्ध करने के बजाय उन्हें पूँजीबाजार का शिकार बना दिया गया। जहाँ वे प्रतिस्पर्द्धा तो नहीं कर सकें उलटे अपनी पुरानी पद्धति से भी हाथ धो बैठे; लेकिन जिन किसानों ने नई तकनीक का सहारा लेकर नया करने की सोची और बाजार के साथ प्रतिस्पर्द्धा करने में सफल हुए, वे समृद्ध भी हुए हैं; किन्तु ऐसे किसानों की संख्या नगण्य है।

3) किसानों की वैचारिक चेतना भी पहले की तुलना में अधिक समृद्ध हुई है क्योंकि पहले वे अपने गाँव या छोटे दायरे तक सीमित थे; लेकिन बाजार के हस्तक्षेप और सरकारों के प्रयासों से वे बाहर की दुनिया से परिचित हुए।

4) उपन्यासों में किसानों की नयी पीढ़ी के पलायन को भी दिखाया गया है। शिक्षा व्यवस्था के कारण नौकरियों के ज्यादा अवसर उपलब्ध हुए तो जो लोग शहरों की ओर पढने के लिए निकले वे फिर वापस नहीं लौट सके। इस कारण लगभग 20 वर्षों में ही खेती करने वाली पीढ़ी का अभाव-सा दिखाई देने लगा है।

5) पीढ़ी के पलायन का नुकसान यह हुआ कि किसान समाज की मूल्यगत मान्यताएँ, परम्पराएँ और वर्षों से चले आ रहे सामाजिक सम्बन्धों में विभेद उत्पन्न हो गया। जो अच्छे और समाज को दिशा देने वाले जीवन मूल्य थे वे भी इस भागदौड़ में नष्ट होते दिखाई देते हैं। उपन्यासों में ऐसे भी प्रसंग दिखाई पड़ते हैं जहाँ पिता के लिए जमीन ही सब कुछ है तो पुत्र के लिए जमीन केवल एक टुकड़ा जिसको बेचकर दूसरा टुकडा खरीदा जा सकता है।

6) किसानों के लिए सबसे बड़ी आर्थिक समस्या ऋण की रही है। हर उपन्यासकार ने ऋण की समस्या को आज भी किसानों के लिए सबसे बड़ी समस्या माना है। किसान चाहे पुराने साहूकारों के चुंगल से मुक्त हो गया; लेकिन अभी भी की समस्या बनी हुई। आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में मोटे ब्याज पर पैसा किसान उधार लेता है क्योंकि बैंकों से लिए हुए कर्ज से उसका पूरा नहीं पड़ता। यह तथ्य आश्चर्यजनक रूप से उपन्यासों में सामने आता है कि 21 वीं सदी में भी बहुत सारे किसानों ने साहूकार से लिए कर्ज के कारण अपनी जमीन गँवानी पड़ी और आत्महत्या के लिए मजबूर होना पड़ा।

7) आर्थिक उदारीकरण के कारण जीन मोडिफाइड बीजों की वैश्विक राजनीति का पर्दाफाश भी उपन्यासों के माध्यम से हो जाता है। जिन तकनीकों, उन्नत बीजों और रासायनिक खादों को किसानों की आय बढाने के नाम पर बेचा गया वे ही किसानों के लिए शत्रु साबित हुए।

8) अत्याधुनिक औद्योगिक विकास के नाम पर उपजाऊ खेतों को उजाड़ने और सरकारों के सहयोगी रवैयों की ओर भी उपन्यासकारों का ध्यान गया है। पुरानी खेती तकनीकों और नयी तकनीकों में असंतुलन की वजह से भी किसानों को गहरी निराशा में डाल दिया है।

9) प्राकृतिक आपदाओं की वैज्ञानिक समझ होने के बावजूद किसानों को बहुत बार संकटों का सामना करना ही पड़ता है।

10) इस सदी में सबसे ज्यादा नुकसान वैश्विक राजनीति ने पहुँचाया है जिसमें किसानों को प्रयोगशाला मान लिया गया है। अंतर्राष्ट्रीय समझौतों के तहत क्षेत्र विशेष के किसानों की आवश्यकताओं को ध्यान में न रखकर कम्पनियों के नफे को ही महत्ववपूर्ण मानने के कारण किसानों का जीवन स्तर मजदूर के बराबर हो गया।

11) भारतीय प्रशासनिक व्यवस्था की कमजोरियों, भ्रष्टाचार और राजनीतिक असंवेदनशीलता के कारण किसान दिन प्रतिदिन के कार्यों और वास्तविक जीवन स्थितियों में कमजोर, दुर्बल और किसानी के अंत की ओर जाता दिखाई देता है।

12) 21 वीं सदी का किसान आज भी धार्मिक आस्थाओं और अंधविश्वासों का शिकार है। उपन्यासों में धर्म और जाति के नाम पर होने वाले आपसी भेदभावों का

जिक्र भी मिलता है। आर्थिक असमानता का सीधा सम्बन्ध धार्मिक असमानता से नहीं दिखाई पड़ता; लेकिन कुछ किसान समाजों में ऐसा भी दिखाई पड़ता है कि धार्मिक उच्चता अर्थ को प्रभावित कर रही है।

13) सांस्कृतिक जीवन किसानों का आज भी समृद्ध दिखाई देता है। जिसमें सामूहिकता और आपसी सहयोग की भावना से वे अपने संघर्षमय जीवन को आसानी से निकाल लेते हैं। उपन्यासों में राजनीतिक और सांस्कृतिक चेतना के बदलाव के संकेत भी दिखाई पड़ते हैं।

14) शिबू-शकुन जैसे हिन्दू परिवारों में यह लचीलापन भी देखने को मिलता है कि पत्नी के धर्म परिवर्तन करने के बाद भी शिबू की प्रतिक्रिया सहज ही रहती है। उस बात को लेकर कोई लड़ाई झगड़ा नहीं होता।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

आधार ग्रन्थ

1. कर्मेन्दु शिशिर, बहुत लंबी राह, यश प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003
2. राजू शर्मा, हलफनामे, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006
3. शिवमूर्ति, आखिरी छलांग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008
4. सूर्यनाथ सिंह ,चलती चाकी, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2011
5. सुनील चतुर्वेदी, कालीचाट, अंकिता प्रकाशन, गाजियाबाद, 2015
6. संजीव, फाँस, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015
7. पंकज सुबीर, अकाल में उत्सव, शिवना प्रकाशन, सिहोर, 2017
8. मिथलेश्वर, तेरा संगी कोई नहीं, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, 2018
9. एम. एम. चंद्रा, यह गाँव बिकाऊ है, डायमंड बुक प्रकाशन, नई दिल्ली, 2019

सहायक ग्रन्थ

1 अभय कुमार दुबे (संपादक), भारत का भूमण्डलीकरण, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2003

2 अयोध्या सिंह, भारत का मुक्ति संग्राम, शिल्पी ग्रन्थ प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, 2012

3 अरुण प्रकाश, उपन्यास के रंग, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, 2013

4 एस. आर. हरनोट, हिडिम्ब, आधार प्रकाशन, पंचकुला, 2011

5 कमलकांत त्रिपाठी, बेधखल, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1997

6 किशन पटनायक, किसान आन्दोलन: दशा और दिशा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006

7 गोपाल राय, हिंदी उपन्यास का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016

8 चंद्रकांत, उपन्यास स्थिति और गति, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, 1977

9 टोनी जोसेफ, आरम्भिक भारतीय, मंजुल पब्लिशिंग, दिल्ली, 2018

10 तुलसी दास, कवितावली, गीता प्रेस, गोरखपुर, 2017

11 नरेश गौतम, भारत में ग्रामीण समाज, महात्मा गाँधी विश्वविद्यालय, चित्रकूट, 2016

12 नामवर सिंह, आधुनिक हिन्दी उपन्यास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2010

13 नामवर सिंह, प्रेमचंद और भारतीय समाज, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017

14 नन्द दुलारे वाजपयी (संपा.), सूरसागर भाग 1, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, ई-बुक

15 पी. साईनाथ, तीसरी फसल : भारत के निर्धनतम जिलों की दास्तान, (हिंदी अनुवाद : आनंद स्वरूप वर्मा), तीसरी दुनिया, नोएडा, 2003

16 पुष्पपाल सिंह, 21 वीं शती का हिन्दी उपन्यास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016

17 प्रेमचन्द, कर्मभूमि, डायमंड पाकेट बुक्स, दिल्ली, 2020

18 बी.रत्ना कुमारी, फॉर्मर सुसाइड इन इंडिया इंपेक्ट ऑन वुमेन, सीरियल पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2009

19 बिपिनचन्द्र, भारत का स्वतन्त्रता संघर्ष, हिन्दीमाध्यम, कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली, 2010

20 भारतीय इतिहास के कुछ विषय, कक्षा-12, एन.सी.आर.टी.,नई दिल्ली, 2015

21 भीमसेन त्यागी, जमीन, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2004

22 मधुरेश, समय समाज और उपन्यास, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2013

23 राघव शरण शर्मा (सम्पा.), स्वामी सहजानंद सरस्वती भाग-2, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, 2003

24 रामशरण शर्मा, प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति एवं सामाजिक संरचनाएँ, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

25 रामविलास शर्मा, प्रेमचंद और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

26 रामविलास शर्मा, मार्क्सवाद और प्रगतिशील साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008

27 रामाज्ञा शशिधर, बुरे समय में नींद, अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद, 2011

28 रामचन्द्र शुक्ल, सूरदास, संस्थान प्रकाशन, दिल्ली, 2016

29 रामदरश मिश्र, हिंदी उपन्यासः एक अंतर्यात्रा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2016

30 रामविलास शर्मा, प्रेमचंद और उनका युग, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018

31 रामकिशोर मेहता, भारत में किसान दुर्दशा, उद्भावना प्रकाशन, गाजियाबाद, 2018

32 वीरेन्द्र जैन, डूब, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2014

33 रामाज्ञा शशिधर, किसान आंदोलन की साहित्यक जमीन, अंकिता प्रकाशन, गाजियाबाद, 2020

34 स्वामी सहजानन्द सरस्वती (संपा. : अवधेश प्रधान), किसान आन्दोलन की वैचारिक पृष्ठभूमि, ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, दिल्ली, 2012

35 सुरेन्द्र चौधरी, साधारण प्रतिज्ञाः अंधरे से साक्षात्कार, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, 2009

36 हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास, राजकमल प्रकाशन, 2003

कोश ग्रन्थ

1. रामचन्द्र वर्मा (संपा.), मानक हिंदी कोश, हिंदी साहित्य सम्मलेन, प्रयागराज

2. श्यामसुन्दरदास बी.ए. (संपा.), हिंदी शब्द सागर, द्वितीय भाग, काशी नागरी प्रचारिणी सभा

पत्र-पत्रिकाएँ

1 अपनी माटी (किसान विशेषांक), गजेन्द्र पाठक, अभिषेक रोशन (संपा.), सितंबर, 2017

2 कथन, संज्ञा उपाध्याय (संपा.), नई दिल्ली, जनवरी-मार्च 2019

3 तद्भव, किसान विशेषांक, अटल तिवारी (संपा.), सितंबर, 2018

4 फिलहाल, प्रीति सिन्हा (संपा.), पटना, जनवरी-फरवरी, 2018

5 सबलोग, किशन कालजयी (संपा.), नई दिल्ली, अगस्त, 2017

6 हंस, राजेंद्र यादव (संपा.), नई दिल्ली, अगस्त, 2006

वेबसाईट

1 bhadas4media.com

2 downtoearth.org.in

3 e-abhivykti.com

4 punjab.punjabkesari.in

5 samalochan.com

6 thelallantop.com

7 thewire**.in**